नाटक एवं अन्य गद्य विधाएँ

(Drama and Other Prose Genres)

सीमा कुमारी

नाटक एवं अन्य गद्य विधाएँ

नाटक एवं अन्य गद्य विधाएँ
(Drama and Other Prose Genres)

सीमा कुमारी

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5614-1

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

नाटकों के संबंध में शास्त्रीय जानकारी को नाट्य शास्त्र कहते हैं। इस जानकारी का सबसे पुराना ग्रंथ भी नाट्यशास्त्र के नाम से जाना जाता है, जिसके रचयिता भरत मुनि थे। भरत मुनि का जीवनकाल 400 ईसापूर्व से 100 ई. के मध्य किसी समय माना जाता है। संगीत, नाटक और अभिनय के सम्पूर्ण ग्रंथ के रूप में भारतमुनि के नाट्य शास्त्र का आज भी बहुत सम्मान है। उनका मानना है कि नाट्य शास्त्र में केवल नाट्य रचना के नियमों का आँकलन नहीं होता, बल्कि अभिनेता, रंगमंच और प्रेक्षक इन तीनों तत्त्वों की पूर्ति के साधनों का विवेचन होता है। 37 अध्यायों में भरत मुनि ने रंगमंच, अभिनेता, अभिनय, नृत्य-गीत-वाद्य, दर्शक, दशरूपक और रस निष्पत्ति से संबंधित सभी तथ्यों का विवेचन किया है। भरत के नाट्य शास्त्र के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटक की सफलता केवल लेखक की प्रतिभा पर आधारित नहीं होती, बल्कि विभिन्न कलाओं और कलाकारों के सम्यक् के सहयोग से ही होती है।

औपनिवेशक आधुनिकता वाले रंगमंच की शैली यथार्थवादी थी, जिसमें संकलन त्रय (स्थान, समय और क्रिया) का निर्वाह और यथार्थवादी दृश्यविधान में प्रस्तुति होने लगी। 'संघर्ष' केंद्रीय तत्त्व था, अधिकतर नाटक तीन अंकीय थे, गीत संगीत गौण हो गया। यद्यपि पारसी रंगमंच और मराठी रंगमंच पर संगीत की उपस्थिति थी। रवीन्द्रनाथ टैगोर(बांग्ला) और जयशंकर प्रसाद(हिंदी) ने अपने नाटकों के माध्यम से यथार्थवादी शैली का विकल्प तलाशा और नाटक भारतीय

प्रदर्शन शैली में लिखे। टैगोर ने जहां इसमें नृत्य, गीत संगीत से युक्त नाटक लिखे वहीं प्रसाद ने संकलन त्रय के बंधन से मुक्त नाटक लिखा और 'रस' एवं 'संघर्ष' का समन्वय किया, लेकिन यथार्थवादी रंगमंच में इनकी समाई ना हो सकी।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में राष्ट्रीय पहचान निर्मित करने में रंगमंच की भूमिका को भी महत्त्वपूर्ण मान कर राष्ट्रीय रंगमंच की स्थापना की राजकीय पहल हुई। आजादी के पूर्व ही भारतीय जन नाट्य संघ (इप्टा) ने अपने प्रयासों से अखिल भारतीय रंगमंच को खड़ा किया। राजनीतिक और जन सरोकारों से युक्त नाटक करने के लिए इन्होंने रंगमंच को प्रोसेनियम से बाहर निकाला और परंपराशील नाट्यशैलियों की ओर उन्मुख हुए। आजादी के बाद इसका आंदोलनात्मक स्वरूप क्षीण हुआ, लेकिन इससे जुड़े अनेक रंगकर्मी स्वातंत्र्योत्तर भारतीय रगमंच के सूत्रधार बने।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ। आशा करती हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**नाट्यकला का स्वरूप**	1
	नाटक कला के विविध रूप	6
	नाटक का प्रयोजन	12
	महत्त्व और उपादेयता	12
	नौटंकी	14
	आधुनिक स्वरूप	16
	नरसिंह नृत्य	22
	मुखौटे का पूजन	24
	कृष्ण संबंधी कथाएँ	28
	मनोरंजक नाट्य कला	29
	कठपुतली नाट्य	38
	समाज	41
	नाटक और रंगमंच	51
	चित्रकारी	52
	मूर्तिकला	52
	वास्तुकला	53
	मनोरंजन और खेल	54

टेलीविजन 55
सिनेमा 56
रेडियो 56
दर्शन शास्त्र 57
2. हिन्दी नाट्य का इतिहास 59
हिन्दी रंगमंच और भारतेन्दु हरिश्चंद्र 60
भारतेन्दु के पश्चात् 63
बीसवीं शताब्दी 63
स्वतंत्रता के पश्चात् 64
हिंदी रंगमंच प्रयोग और परंपरा 65
आधुनिक हिन्दी नाटक 70
द्विवेदीयुगीन नाटक 76
प्रसाद-युगीन नाटक 80
प्रसादोत्तर-युगीन नाटक 88
भारतेन्दुकाल और नाट्य समीक्षा 97
द्विवेदी एवं प्रसादयुगीन समीक्षा 99
समीक्षा युग 101
समीक्षा युग की देन 102
3. उपन्यास 104
विकास 111
प्रेमचन्दोत्तर युग 126
उपन्यास के तत्त्व 130
भाषा-शैली 134
4. कहानी 139
पृष्ठभूमि 140
प्रसाद-प्रेमचन्द युग 141
वर्तमान युग : तीन पीढ़ियाँ 143
नयी कहानी : प्रवर्तन और प्रकृति 145
5. निबन्ध 152
निबंध की विशेषता 153
हिन्दी साहित्य में निबन्ध 153

भारतेन्दु युग 154
द्विवेदी युग 155
प्रसाद-युग 156
प्रसादोत्तर युग 157
महादेवी वर्मा 159
शिक्षा 160
कार्यक्षेत्र 161
महादेवी वर्मा का योगदान 162
6. संस्मरण 164
संस्मरण और आत्मचरित 164
हिन्दी संस्मरण का इतिहास 165
आरंभिक युग 165
द्विवेदी युग 165
छायावादोत्तर युग 166
स्वातंत्रयोत्तर युग 166
समकालीन युग 167
संस्मरण के तत्त्व 167
7. रेखाचित्र 169
राजनाथ शर्मा के अनुसार 170
आरंभिक युग 172
उत्कर्ष युग 173
कलात्मकता 177
8. जीवनी 179
इतिहास 180
भारत में जीवनचरित 181
आधुनिक युग 182
9. आत्मकथा 183
प्रथम चरण (1600-1875) 184
द्वितीय चरण (1876-1946) 185
तृतीय चरण (1947-अब तक) 187

10. रिपोर्ताज **193**
अर्थ एवं उद्देश्य 193
घटना प्रधान 194
रांगेय राघव का योगदान 194
रिपोर्ताज की हिन्दी शैली 194
हिन्दी रिपोर्ताज का इतिहास 195
11. यात्रा साहित्य **197**
हिंदी यात्रा साहित्य का विकास 198
आरंभिक युग 199
स्वतंत्रता-पूर्व युग 200
स्वातंत्र्योत्तर युग 200
12. पत्र पत्रिकाएँ **205**
13. आलोचना **217**
आलोचना 217
अर्थ तथा परिभाषा 217
आलोचना के प्रकार 219
सैद्धान्तिक आलोचना 219
निर्णयात्मक आलोचना 220
प्रभावाभिव्यजंक आलोचना 220
प्रगतिवादी आलोचना 230

1

नाट्यकला का स्वरूप

नाटकों के संबंध में शास्त्रीय जानकारी को नाट्य शास्त्र कहते हैं। इस जानकारी का सबसे पुराना ग्रंथ भी नाट्यशास्त्र के नाम से जाना जाता है, जिसके रचयिता भरत मुनि थे। भरत मुनि का जीवनकाल 400 ईसापूर्व से 100 ई के मध्य किसी समय माना जाता है। संगीत, नाटक और अभिनय के सम्पूर्ण ग्रंथ के रूप में भारतमुनि के नाट्य शास्त्र का आज भी बहुत सम्मान है। उनका मानना है कि नाट्य शास्त्र में केवल नाट्य रचना के नियमों का आँकलन नहीं होता, बल्कि अभिनेता, रंगमंच और प्रेक्षक इन तीनों तत्त्वों की पूर्ति के साधनों का विवेचन होता है। 37 अध्यायों में भरत मुनि ने रंगमंच, अभिनेता, अभिनय, नृत्यगीतवाद्य, दर्शक, दशरूपक और रस निष्पत्ति से संबंधित सभी तथ्यों का विवेचन किया है। भरत के नाट्य शास्त्र के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटक की सफलता केवल लेखक की प्रतिभा पर आधारित नहीं होती, बल्कि विभिन्न कलाओं और कलाकारों के सम्यक् के सहयोग से ही होती है।

'भारतीय रंगमंच' भारत की तरह ही विविध छवियों का जटिल मिश्रण है, जिसमें बहुत सारी रंग परंपराएँ मिलकर भारतीय रंगमंच का स्वरूप बनाती है। इसमें स्थानगत, समयगत, शैलीगत, कथ्यगत विविधता है तो आंतरिक एकता का सूत्र भी है।

भारतीय रंगमंच की संस्कृत एवं परंपरा अत्यंत प्राचीन है। नाट्यशास्त्र में नाट्योत्पति का संदर्भ है कि ब्रह्मा के आदेश पर भरतमुनि ने ऋग्वेद से पाठ,

यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से संगीत और अथर्ववेद से रस लेकर नाट्यरचना की। जिसे पाँचवा वेद कहा गया क्योंकि अन्य वेदों की विपरित यह सभी वर्णों के लिए था। नाट्यपरंपरा भरत के पहले भी विकसित रही होगी क्योंकि 'नाट्यशास्त्र में सैकड़ो ऐसी नाट्यरूढियाँ बताई गई हैं, जो बिना दीर्घकाल के परपंरा के बन ही नहीं सकती"। पश्चिमी प्राच्य विद्वानों के लिए भारतीय रंगमंच का अर्थ संस्कृत रंगमंच ही था। भरत के नाट्यशास्त्र और संस्कृत के नाटकों की खोज भी तब हुई, जब प्राच्यविदों ने भारतीय ग्रंथो की खोज का काम शुरू किया। विलियम जोन्स ने कालीदास के नाटक 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' की खोज की और 1789 में इसका अनुवाद प्रकाशित किया। भास, जो कालीदास के पूर्ववर्ती नाटककार थे, के नाटक बीसवीं सदी में खोजे गये। संस्कृत का रंगमंच शास्त्रबद्ध था, जिसमें नाट्य प्रकारों, रंग स्थल, अभिनय, मंच सज्जा, रंगोपकरणों के साथ शैली की भी परिभाषा निर्धारित थी। 'रस' इसका केंद्रीय तत्त्व था। वैसे भास ने शास्त्र की सीमा का बार बार उल्लंघन किया। शुद्रक, भवभूति, हर्ष, विशाखदत्त संस्कृत के उल्लेखनीय नाटककार हैं। हजारवीं सदी तक संस्कृत रंगमंच का अवसान हुआ, जिसके कतिपय कारण थे। अपभ्रंश भाषाओं के विकास के साथ ही संस्कृत का, जो पहले से भी जनभाषा नहीं थी, क्षेत्र संकुचित हो गया। अपभ्रंश भाषाओं में भी साहित्यिक रचना होने लगी। इसके साथ ही क्षेत्रीय भाषाओं में भी रंगमंच का विकास हुआ, जिसने संस्कृत रंगमंच की विशेषताओं को भी अपनाया। जनभाषा में होने के कारण इन नाट्यरूपों को अधिक लोकप्रियता मिली। कुछ विद्वान संस्कृत रंगमंच के अवसान के लिए राजनीतिक परिस्थितियों को भी जिम्मेवार ठहराते हैं।

भारतीय रंगमंच की दूसरी परंपरा लोकनाटयों की है। जगदीशचंद्र माथुर इन्हें 'परम्पराशील नाट्य' कहने पर बल देते हैं। इसके उद्भव के उन्होंने चार कारण गिनाए हैं। पहला, भागवत धर्म का अखिल भारतीय प्रसार, दूसरा, रंगमंच का मन्दिर, धार्मिक स्थलों, मेलों में आश्रय, तीसरा, संस्कृत का जनसाधारण से अलगाव और भाषा गीतों का नाटकों में समावेश और चौथा गीतात्मक प्रस्तुति शैली। परपराशील रंगमंच की मुख्यत: दो प्रवृतियाँ है पहली, धार्मिक जिसमें रासलीला, रामलीला, कुट्टियाट्टम, अंकिया नाट, थेरुकुट्टु, यक्षगान जैसी शैलियाँ है। इनके कथानक के आधार और प्रक्रिया धार्मिक हैं। दूसरा है लौकिक, जिनमें स्वांग, ख्याल, नौटंकी, नाचा, माच जैसी शैलियाँ मिलती हैं। इनके कथा स्रोत सामान्य जन जीवन हैं। अपने अपने क्षेत्रों में परंपराशील नाट्य निर्विवाद रूप

से लोकप्रिय हुए। उन्नीसवीं सदी में एक भिन्न राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था के आगमन और उसके वर्चस्व ने भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया। निरंतर पुनरावृति, प्रेरणा की कमी, लौकिक नाटकों के कथानक की आवृति और कवायद में तब्दील होते चले जाने की वजह से इस रंगमंच में ठहराव गया। नवीन चेतना संपन्न बौद्धिकों को यह नाट्य रूप 'जड़' और 'भ्रष्ट' प्रतीत हुआ और उनका सान्निध्य इन्हें नहीं मिला। पूर्व आधुनिक कला रूप होने के कारण यह मान लिया गया कि इनमें आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

औपनिवेशिक काल में अंग्रेजों द्वारा अपने मनोरंजन के लिए आयातित रंगमंच, शासन व्यवस्था, शिक्षा और प्रिंट जैसे–आविष्कारों के प्रभाव तथा रंगमंच में प्रोसेनियम और शेक्सपीयर के परिचय से एक नितांत भिन्न रंगमंच का आवीर्भाव हुआ, जिसकी परंपरा भारतीय रंगमंच में नहीं थी। इसने नाट्य लेखन, प्रस्तुति और देखने की एक नई शैली प्रचलन में आई। अब प्रदर्शन का मतलब हो गया लिखित या छपे हुए नाट्य पाठ को प्रोसेनियम मंच पर अभिनेताओं द्वरा खेला जाना। नाटक देखने का शुल्क लगने लगा, इसे अब केवल सामने से देखा जा सकता था, दर्शक और अभिनेता की बीच एक आभाषी दीवार आ गई। रंगमंच अब सामुदायिक नहीं था, जिसमें दर्शक और अभिनेता एक ही समुदाय के अंग थे। परंपराशील रंगमंच में नाटक इम्प्रोवाइजेशन के जरिये खेले जाते थे और रात भर चलते थे वहीं आधुनिक प्रदर्शनों की समय सीमा निश्चित हो गई।

इससे भारत में व्यावसायिक रंगमंच का उद्‌भव हुआ। इसमें एक पारसी रंगमंच था जिसके मालिक पारसी थे। इन्होंने कंपनियाँ बनाई जो व्यवसाय के लिए प्रस्तुति करती थी और देश के विभिन्न हिस्सों में घूमती थी। भारत की विभिन्न भाषाओं में यह कंपनियाँ बनी। मुख्यत: यह विक्टोरियन रंगमंच की नकल था जिसमें पृष्ठभूमि के लिए रंगे पर्दों का इस्तेमाल होता था। प्रस्तुति गीत संगीत नृत्य से युक्त और अभिनय मेलोड्रामाई था। मुनाफे के मुख्य ध्येय को अर्जित करने के लिए यह तमाम तरह के लटको झटकों पर आश्रित होती गई और सवाक सिनेमा के आगमन के बाद इसका अवसान हो गया, क्योंकि इसकी बहुत सारी विशेषताएँ सिनेमा ने अपना ली।

बांग्ला में और उसके बाद मराठी में अभिजात्यों के सरंक्षण में रंगमंच का विकास हुआ। पारसी से अलग इसने अंग्रेजी रंगमंच के सौंदर्यबोध से युक्त प्रस्तुति की। संपूर्ण भारत में व्यावासायिक रंग मंडलिया बनी। मराठी और बांग्ला की व्यावसायिक रंग मंडलियों का प्रभाव देशव्यापी रहा। भारतीय नवजागरण का

आरंभिक आगमन बांग्ला और मराठी में हुआ था इसलिए यहां के रंगमंच ने अपने को इस आंदोलन से जोड़ा। माइकल मधुसूदन दत्त के मेघनाथ बध, दीनबंधू मित्र के नीलदर्पण, इत्यादि नाटकों ने समकालीन समय को अभिव्यक्त किया। हिंदी में और संभवत: भारतीय रंगमंच में पहली बार भारतेंदु हरिश्चंद्र ने विधिवत रूप से साहित्यिक रंगमंच की स्थापना की प्रयास की और इसे राष्ट्रीय चेतना से जोड़ने का आह्वान किया, लेकिन बांग्ला और मराठी, जिसमें गिरिश चंद्र घोष, शिशिर नाथ भादुड़ी, बाल गंधर्व, इत्यादि जैसे–रंगकर्मी थे, की तरह हिंदी में ऐसी परंपरा नहीं स्थापित हो सकी।

औपनिवेशक आधुनिकता वाले रंगमंच की शैली यथार्थवादी थी। जिसमें संकलन त्रय (स्थान, समय और क्रिया) का निर्वाह और यथार्थवादी दृश्यविधान में प्रस्तुति होने लगी। 'संघर्ष' केंद्रिय तत्त्व था, अधिकतर नाटक तीन अंकीय थे, गीत संगीत गौण हो गया। यद्यपि पारसी रंगमंच और मराठी रंगमंच पर संगीत की उपस्थिति थी। रवीन्द्रनाथ टैगोर(बांग्ला) और जयशंकर प्रसाद(हिंदी) ने अपने नाटकों के माध्यम से यथार्थवादी शैली का विकल्प तलाशा और नाटक भारतीय प्रदर्शन शैली में लिखे। टैगोर ने जहां इसमें नृत्य, गीत संगीत से युक्त नाटक लिखे वहीं प्रसाद ने संकलन त्रय के बंधन से मुक्त नाटक लिखा और 'रस' एवं 'संघर्ष' का समन्वय किया, लेकिन यथार्थवादी रंगमंच में इनकी समाई ना हो सकी।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में राष्ट्रीय पहचान निर्मित करने में रंगमंच की भूमिका को भी महत्त्वपूर्ण मान कर राष्ट्रीय रंगमंच की स्थापना की राजकीय पहल हुई। आजादी के पुर्व ही भारतीय जन नाट्य संघ (इप्टा) ने अपने प्रयासों से अखिल भारतीय रंगमंच को खड़ा किया। राजनीतिक और जन सरोकारों से युक्त नाटक करने के लिए इन्होंने रंगमंच को प्रोसेनियम से बाहर निकाला और परंपराशील नाट्यशैलियों की ओर उन्मुख हुए। आजादी के बाद इसका आंदोलनात्मक स्वरूप क्षीण हुआ, लेकिन इससे जुड़े अनेक रंगकर्मी स्वातंत्र्योत्तर भारतीय रगमंच के सूत्रधार बने।

औपनिविशिक रंगमंच की परंपरा आजादी के बाद भी रही, जिसे मुख्यत: शहरी अभिजात/मध्यवर्गीय रंगकर्मियों ने आगे बढाया। यथार्थवाद आधुनिकता की उपज थी। इसलिए यह मान लिया गया था कि शहर और आधुनिक जीवन की विसंगतियों को यथार्थवाद ही व्यक्त कर सकता है।

शंभु मित्रा और हबीब तनवीर और बाद में के.एम.पणिक्कर, रतन थियम जैसे–निर्देशकों और गिरिश कर्नाड, विजय तेंदुलकर जैसे–नाटककारों ने यथार्थवाद से अलग रास्ता निकाला। मित्रा और तनवीर ने माना कि भारतीय परंपरा से जुड़े बिना असली भारतीय रंगमंच नहीं हो सकता। इसलिए अनुकरण की मानसिकता को त्याग कर नृत्य संगीत और संकलन त्रय के बंधन से मुक्त नाटक लिखे जाने चाहिये, जिससे कि व्यापक दर्शकों तक पहुँचा जा सके। इसके लिए परंपराशील प्रदर्शन शैली से रंगमंच को जोड़ा जाए। यह टैगोर और भारतेंदु का दिखाया रास्ता था।

यथार्थवादी मुहावरे के पक्षधरों का कहना था कि इसकी भी परंपरा सौ वर्ष की है और शहर में भी एक लोक विकसित हो चुका है इसलिए इस मुहावरे को त्यागा नहीं जा सकता। मोहन राकेश, महेश एलकुंचवार इसके समर्थक थे। सत्तर के दशक में यथार्थवादी उपकरणों को अभारतीय बताते हुए 'जडों के रंगमंच' का नारा सामने आया और जड़ों से जुड़ने के लिए परंपराशील रंगमंच संस्कृत नाटक और ब्रेख्त की ओर ध्यान गया। यथार्थवादी नाटककारों ने शंका जताई कि ये शैलियाँ एक खास परम्परा की उपज हैं, इनके आलंकारिक इस्तेमाल से एक नकली रंगमंच विकसित होगा और यह रंगमंच को आधुनिक मुल्यों की ओर जाने से रोकेगा, लेकिन परंपराशील मुहावरे ने यथार्थवादी रंगमंच को अपदस्थ कर दिया।

नब्बे के बाद भारतीय रंगमंच में स्त्री निर्देशकों का काम उभरा जिन्होंने जेंडरीकरण की प्रक्रिया को दिखाने के लिए रंगमंच पर शिल्प और वस्तु दोनों को बदला। उपलब्ध आलेखों को भी इन्होंने नितांत नई शैली, नये आख्यान में प्रस्तुत किया। इस दौरान रंगमंच पर तकनीक का भी आगमन हुआ, जिसमें डिजीटल छवियों, ध्वनियों, प्रकाश उपकरणों इत्यादि ने प्रस्तुति सरंचना को बदल दिया।

पूर्व आधुनिक प्रकार का भारतीय रंगमंच उत्सव प्रधान था और सामुदायिक जीवन के उल्लास से जुड़ा था। वहीं आधुनिक रंगमंच में या एक ओर व्यावसायिक मूल्य हावी रहा तो दूसरी तरफ उसमें अपने समकालीन जीवन से जूड़ने की ललक भी रही। इसी ललक में रंगमंच अंग्रेजी शासन के प्रतिरोध के स्वरूप में उभरा। जिसको दबाने के लिए अंग्रेजी राज्य ने 1876 का ड्रामेटिक परफार्मेंस एक्ट लागू किया, इससे बचने के लिए अभिव्यक्ति की रणनीतियों को बदला गया। इप्टा का जन्म ही साम्राज्यवादी गतिविधियों के प्रतिरोध के लिए हुआ

था। इसने अंग्रेजी राज्य और आजाद भारतीय राज्य दोनों की आलोचना की। नुक्कड़ नाटक के रूप में अनोखी शैली भारतीय रंगमंच में आई, जिसमें रंगमंच जनता तक पहुँचती थी। समकालीनता कि अभिव्यक्ति के लिए लोकप्रिय शैली के रूप में सत्तर के दशक में इसमें गति आई, भारत के विविध क्षेत्रों में नुक्कड़ नाटक मंडलियाँ गठित हुई। बादल सरकार ने अपने परवर्ती सभी नाटक इसी शैली के लिए लिखे और तीसरे रंगमंच की प्रस्तावना की। सफदर हाशनी ने नुक्कड़ नाटक को राजनीतिक ओज दिया।

भारतीय रंगमंच इस तरह से विविध रंग छवियों का कोलाज हैं, जिसमें संस्कृत है तो उसके बरक्स परंपराशील भी है। भारतीय 'रस' की केन्द्रीयता है तो पाश्चात्य 'संघर्ष'है। परंपरा से नितांत भिन्न औपनिवेशिक रंगमंच है, तो अपनी परंपरा से जुड़ने का प्रयास करता उत्तर औपनिवेशिक रंगमंच भी है। इसमें अभिजात का मनोरंजन है तो जनप्रतिरोध का स्वर भी है। भारतीय रंगमंच की इस विविधता ने ही विदेशी रंगकर्मियों को आकर्षित किया है। स्तानिस्लावस्खी, ब्रेख्त, रिचर्ड शेखनर, पीटर ब्रूक, ग्रोतोवोस्की इत्यादि के रंग विचारों में भारतीय रंगमंच का प्रभाव देखा जा सकता है।

नाटक कला के विविध रूप

नाटक में अभिनय एवं रंगमंच दोनों का होना अनिवार्य है। वास्तव में अभिनय तथा रंगमंच दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, अर्थात् पारस्परिक रूप से सम्बद्ध नाटक मुख्यत: सृजनात्मक कलाओं में से एक है। सृजनात्मक कला से अभिप्राय नाटक के लिखित रूप से नहीं, बल्कि उसके अभिनीत रूप से हैं। नाटक की सार्थकता प्रस्तुतीकरण और निर्देशक की भूमिका पर निर्भर होती है। नाटक रंगमंच पर अभिनीत होकर ही पूर्णता को प्राप्त करता है। नाटक निर्देशक एवं रंग-शिल्पी सभी का प्रयास मुख्यत: अभिनेता के सृजन कार्य को अधिकाधिक प्रभावशाली एवं सक्षम बनाने के लिए होता है। दूसरी ओर भारतवर्ष में अभिनय की प्रतिभा लिए असंख्य अभिनेता है। व्यावसायिक एवं अर्द्ध-व्यावसायिक दोनों प्रकार के उत्साही अभिनेता भारतीय रंगमंच को अपनी अभिनय कला से समृद्ध कर रहे हैं। अभिनेता जिस चरित्र को मंच पर अभिनीत करता है, यदि वह उसको सही अर्थों में जीता है, तभी दर्शक उसके अभिनय की महत्ता को समझ पाते हैं।

'ऋग्वेद' में नर्तकी और 'यजुर्वेद' में सूत्र, सैलूषकारी (विदूषक) इत्यादि के उल्लेख से यह साफ हो जाता है कि प्राचीनकाल में भी नृत्य तथा नाट्य का महत्त्व किसी-न-किसी रूप में अवश्य था, जो निरन्तर विकास की दिशा में अग्रसर होता गया और विदेशी सम्पर्क में अपना परिष्कार करता गया। भारत की यह पुरानी विरासत आज भी अपना अहम् स्थान बनाए हुए है और जनमानस को निरंतर आन्दोलित कर रही है। भारतीय रंगमंच को विरासत में अनेक नाट्य-रूप मिले हैं, जिनका विकास अनेक रूपों में आगे चलकर हुआ। इस तरह नाट्य कला के कुछ प्रमुख भाग वर्णित है, जो निम्न हैं–

1. लोक-नाट्य।
2. नृत्य-नाट्य।
3. भारतीय संगीत नाटक।

1. लोक-नाट्य–लोक-नाट्य का सदा जनसाधारण से संबंध रहा है। लोक-नाटक सर्वसाधारण के रंगमंच का आवश्यक भाग है। समय-समय पर आवश्यकतानुसार इनका रूप बदलता रहा है। लोक-नाट्य हमारे रंग जीवन का अनन्य महत्त्वपूर्ण रूप है। **नेमिचन्द्र जैन** के शब्दों में, "लोक-नाट्य हमारे नाट्य-परम्परा की एक मूलभूत कड़ी है, क्योंकि वह कई प्रकारों और रूपों में संस्कृत नाटक के बाद माध्यकालीन नाट्य-परम्परा का ही निरन्तरण है।"

मुख्यत: प्रत्येक भाषाओं के गम्भीर और जागरूक रंग-कर्मियों ने अनेकानेक कारणों से यह अनुभव किया है कि इस देश में रंगमंच के विकास में लोक-नाट्य परम्परा किसी-न-किसी रूप में सम्भवत: उपयोगी सिद्ध हों। पूरे भारतवर्ष में आज भी यात्रा, नौटंकी, स्वांग, मंच, भंवर, तमाशा, दशावतार, जैसे–यश-गान, झांकियाँ, नाटक, रासलीला, रामलीला जैसे–विभिन्न स्तर के लोक-नाट्य होते हैं। नि:सन्देह समस्त लोकप्रिय नाट्यों में ऐसी कुछ सामान्य मान्यताएँ हैं, जो समाज को एकसूत्र में बांधती हैं और सम्मिलित रूप में उन्हें एक व्यक्तित्त्व भी प्रदान करती है, अर्थात् व्यक्तित्त्व उभारने का अवसर देती है। समाज को पुरानी परम्पराओं से जोड़ती है। पुरातन काल की परम्पराओं से वर्तमान समाज को अवगत कराती है।

इन सभी नाट्य-रूपों की विषय-वस्तु और कथानक एक ओर तो मुख्यत: पौराणिक, धार्मिक और ऐतिहासिक स्रोतों से प्रमाण मिलते हैं तथा दूसरी ओर देखा गया है कि अपने-अपने क्षेत्र की तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों से संबंधित हैं।

इन सभी नाट्य रूपों में बहुत कुछ संस्कृत नाटकों की कथागत, स्थानगत एवं रूपगत रूढ़ियों का निर्वाह मिलता है, परन्तु बहुत से लोक-नाट्यों की कथा का विकास इसी प्रसंग से संबंधित संस्कृत नाटक जैसा ही है। रंग-रचना की दृष्टि से भी बहुत-सी बातें मिलती-जुलती हैं। ये सभी नाटक खुले रंगमंच (स्टेज) पर होते हैं। देश के भिन्न-भिन्न भागों के लोक-नाट्यों में आमतौर पर सामान्य विशेषताएँ मिलती-जुलती हैं। फिर भी धीरे-धीरे नाटक और रंगमंच के कलात्मक स्वरूप प्रभाव और सम्भावना में लगातार परिवर्तन हो रहे हैं। नाटकों ने सदियों से समाज को आनन्द और दक्षताओं को विकसित करने का अवसर प्रदान किया है। भिन्न-भिन्न कलाओं ने मानवाभिव्यक्ति को व्यक्त करने का रुचिकर अवसर प्रदान किए हैं। भारत देश की लोक-नाट्य परम्परा बहुत ही विविधातपूर्ण एवं समृद्ध है। इसमें एक ओर जहाँ संस्कृत घटक तथा रंगमंच के बहुत से तत्त्व अवशिष्ट हैं, वहीं दूसरी ओर सदियों से उसने देश की लोकधर्मी नाट्य-चेतना और रुचि को अपने भीतर संजोया हुआ है और जनसाधारण का मनोरंजन किया है। इसमें नाट्य-रचना और रंग प्रथा की ऐसी बहुत-सी पद्धतियाँ, रूढ़ियाँ तथा मान्यताएँ हैं, जो मूल रूप से कभी पुरानी नहीं पड़ती, अर्थात् उनका मूलरूप नहीं बदलता और जिनमें किसी भी देश तथा काल का रंगधर्मी प्रेरणा ले सकता है। लोक-नाटकों की विशेषताओं की रचना पुरानी होते हुए भी नयापन लिए हुए है। इससे प्राचीन को नवीनता में परिवर्तित करने का अवसर मिलता है। परम्पराएँ सर्वदा पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती हैं। देश के जनसाधारण की रंगमंच चेतना को उजागर करने में लोक-नाटक बहुत ही लोकप्रिय हो रहे हैं। लोक-नाटकों से कला एवं दक्षताओं को विकसित करने में मदद प्राप्त होती है।

2. नृत्य-नाट्य (बैले)–संस्कृत शब्द नृता (अभिनय) नृत (नाच) शब्द से उत्पन्न हुआ है, जो नाट्य-कला से संबंधित है। नृत-नाट्य में पूरी कहानी (विषय) मंच पर केवल नृत द्वारा प्रस्तुत की जाती है। नृत या अभिनय या मूल संकेतों द्वारा नृत्य-नाटक में पूरी कहानी मूक होकर केवल नृत्य द्वारा ही प्रस्तुत की जाती है। इसमें नृत्य और वादन दो अंगों का ही समावेश होता है। इसमें संगीत नहीं होता। वे एक शब्द को भी अपने मुख से उच्चारित नहीं करते। नृत्य अथवा अभिनय में मूल संकेतों द्वारा आन्तरिक भावनाओं व भावों को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया जाता है। जैसे–कृष्ण लीला, सपेरा-नृत्य, सावन की हरियाली, हरेली दृश्य, नृत्य-नाटकों द्वारा दिखाए गए हैं।

यहाँ पश्चिमी नृत्य-नाट्य की तुलना में भारतीय नृत्य-नाट्य काफी पुराने है। भारतीय नृत्य-कला भावों से ओत प्रोत है और इसमें अभिनय तथा हस्तों की भाषा है। पश्चिमी नृत्य-नाट्य आँखों एवं हस्तों की भाषा को नहीं जानता। भारतीय नृत्य-नाट्य की जड़ें पौराणिक और धार्मिक गाथाओं में है और इनमें गहन आध्यात्मिकता है। **नेमिचन्द्र जैन** लिखते हैं–"नृत्य-नाट्य या बैले हमारे देश के लिए नया नाम है और एक प्रकार से यह परिकल्पना भी नई है। भारतीय रंग-परंपरा में कथाबद्ध नृत्य या संगीत नाटक या उसके दूसरे नामों से सम्मानित होता रहा है। कुंखजी नाटक बैले या नृत्य-नाट्य नाम उदयशंकर या उनकी प्रेरणा एवं प्रभाव में बनी कथाबद्ध नृत्य रचनाओं को दिया जाता रहा है। इस प्रकार नृत्य-नाटक को अब दो रूपों में विभक्त किया जाने लगा है–एक, परम्परा और दूसरा, आधुनिक परम्परागत नृत्य-नाटकों में कथाकलि का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। कथाकलि नृत्य-नाट्य मूलतः एक उत्कृष्ट शास्त्री नृत्य-परम्परा में आन्ध्र का कुचिपुरी नृत्य नाट्य, कर्नाटक का यशगान नृत्य-नाट्य, तमिलनाडु भागवत मेल तथा करंवजी नृत्य-नाट्य उल्लेखनीय है। कथकलि नाट्यशास्त्रीय नृत्य-परम्परा के रूप में अग्रसित हो रहा है। निःसन्देह ये सब नृत्य-नाट्य रोचक एवं महत्त्वपूर्ण हैं, जिनके संरक्षण और परिसंस्कार प्रदर्शन का स्थान अधिक प्रमुख है।

वर्तमान काल में जीवन को प्रदूषणरहित करने और जीवन की अभिव्यक्ति को व्यक्त करने के लिए ऐसे नए नाट्य-रूपों के विकास की विशेष रूप से आवश्यकता है, जो देश की परम्परागत पद्धतियों के विभिन्न सूत्रों को नवीनता के साथ जोड़ सके तथा उसके द्वारा आधुनिक जीवन के भाव-बोध की प्रत्यक्ष सीधी अनुभूति को रूपांतरित किया जा सके। बैले–एक नवीनतम शैली को रवींन्द्रनाथ ठाकुर के नृत्य-नाटक की प्रेरणा तथा शुरूआत माना जाता है। इस विषय में **बलवन्त गार्गी** जी का कहना है, "रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने जीवन के अन्तिम बीस वर्ष में (912-41) नृत्य-नाटक लिखें, उन्हें संगीतबद्ध किया और उनका मंच पर प्रदर्शन भी किया है।

सही रूप में नृत्य-नाटय की प्रेरणा इस सदी के तीसरे दशक में उदयशंकर जी ने दिया। नाटककार, साहित्यकार उदयशंकर ने यूरोप में बैले का अध्ययन किया। बैले के आधार पर भारतीय नृत्य परम्परा में बैले बनाने का प्रयास किया। उन्होंने नृत्य-नाटक की एक नई शैली विकसित की, जिसमें भारत की शास्त्रीय तथा लोक-नृत्य परम्पराओं और पश्चिमी बैले पद्धति का समन्वय था। इस नृत्य-नाटक

के माध्यम से आधुनिक जीवन के यथार्थ (वास्तविकता) को अभिव्यक्त कर सकते हैं।

समय-समय पर नृत्य नाटक को आधुनिकता के तौर पर प्रदर्शित करने की कोशिश की गई नृत्य-नाटक में आधुनिक यथार्थ। को स्पष्ट करने की विशेषता है। नाटक समृद्धि, आनन्द और प्रसन्नता का प्रतीक है, जिसमें समाज की वास्तविकता को स्पष्ट किया जाता है। इसके लिए आज आवश्यकता है। हमारे नृत्य और नाट्य-चिन्तकों में सुस्पष्ट चिन्तन और साहसपूर्ण मार्गदर्शन की।

3. भारतीय संगीत नाटक–भारत के प्रमुख नाट्य-प्रकारों में मुख्य रूप भारतीय संगीत नाटक का रहा है। **बलवन्त गार्गी** जी का कहना है–"शताब्दियों से संगीत हमारे जीवन के हर कार्य पर छाया रहा है। बीजने-काटने में संगीत है। पीसने और छानने के लोग आवाज लगा-लगाकर और गा-गाकर चीजें बेचते हैं।" भारतीय संगीत परम्परा बहुत पौराणिक एवं धार्मिक है। प्राचीनकाल से संगीत को जीवन की खुशियों और आनन्द का आधार माना गया है। कोई भी उत्सव होता है तो संगीत नाटक के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। जन्मोत्सव हो या विवाहोत्सव मनुष्य खुशी से झूमने लगता है। महिलाएँ एवं पुरुष मिलकर संगीत नाटक के माध्यम से प्रसन्नता जाहिर करते हैं। नृत्य और संगीत दोनों आकर्षक, मनमोहक अलग-अलग कलाएँ हैं, परन्तु नृत्य और संगीत को सामूहिक रूप से प्रदर्शित करने से इनका महत्त्व एवं आकर्षण बहुत बढ़ जाता है। नृत्य संगीत और वाद्यो के समावेश से यह सर्वश्रेष्ठ कला सिद्ध हो रही है, जो मानव की संवेदना तथा अभिव्यक्ति को झकझोर देती है।

भारत में संगीत मूलक गेय नाटक का अभाव नहीं, बल्कि सम्पूर्णत: गेय नाटकों के यहाँ बहुत से प्रकार प्रचलित है। यथा-यशगान, स्वांग, नौटंकी, रासलीला, रामलीला, मवई, नाच, तमाशा, यात्रा आदि सम्पूर्णत: लोक-नाट्य एवं अंश रूप से संगीत मूलक नाटक है। संगीत नाट्य में कहानी के पात्रों का पारस्परिक संघर्ष और नाटक के भाव की अभिव्यक्ति केवल संगीत के माध्यम से होती है। साहित्यकार और कथावाचक गाँवों की चौपाल या धर्मशाला में बैठकर प्राचीन वर्णनात्मक काव्य-गाथाओं को गाकर उनमें नाटकीय अंश उसी प्रकार व्यक्त करते हैं, जिस प्रकार चित्रकार रंग और ब्रुश के माध्यम से तथा मूर्तिकार शिला-पत्थर के माध्यम से। उसी प्रकार संगीत नाट्य का माध्यम केवल गायन (संगीत) ही है।

भारत के पुराने रंग-परम्परा संगीत नाटकों से युक्त होने के कारण यथार्थवादी रंगमंच की स्थापना की गई और उन्मुख होने के कारण भारतीय नाटककारों का ध्यान पिछले कुछ वर्षों से ही भारतीय संगीत नाटकों की ओर गया है। संगीत मूलक नाटक की रचना अथवा नाटक के प्रयोग के प्रयास में भी बार-बार भारतीय गीत नाटक को अपने निजी प्रकारों से किसी रचनात्मक सार्थकता और आधुनिक संवेदनशीलता के स्तर तक ले जाने का प्रयास नहीं किया गया। यहाँ तक कि संगीत नाटकों को जीवन्त आधुनिक रंगमंच का अंग बनाने की दिशा में भी अधिक प्रयत्न नहीं हो सका।

19वीं सदी तक भारत में संगीत नाट्य का प्रचलित रूप विदित नहीं था। अमानत (नाम) के इन्द्र सभा में ज्ञानियों और गीतों का मनोहर सुयोग नाट्य था। वर्तमान हिन्दी नाटकों की नींव यही से पड़ी और यही से संगीत मंच का चित्र उभरना प्रारम्भ हो गया। बीसवीं शताब्दी के पूरे दशक तक गीत भरे नाटक का विकास मूक नाटक से भिन्न रूप में हुआ। फिर धीरे-धीरे अनेक संगीत नाट्य लिखे और प्रस्तुत किए गए। **बलवन्त गार्गी** जी का कहना है-"जिस प्रकार नृत्य लिपिकारगण हमारे लोक-नृत्यों से बहुत कुछ ग्रहण कर रहे हैं, ऐसे संगीत नाटकों की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि संगीत की लोक-धुनों के भण्डार को अपनी कल्पना का स्थान समझकर प्रयोग में लाया जाए, इससे संगीत नाट्य भी अपने लिए वह स्थान बना सकेगा, जो नृत्यों-नाट्य ने बनाया है।"

हमारे देश में लोक-सम्पर्क विभागों की स्थापना की गई है। पूरे देश में जिला स्तर तब लोक-सम्पर्क विभाग स्थापित किए गए हैं, जो देश की लोक-कला और सृजनात्मक क्रियाओं के विकास में एवं प्रचार में सहयोग दे रहे हैं। लोक सम्पर्क विभाग अनेक उत्सवों, आयोजनों पर नृत्य-कला, संगीत नृत्य-कला, अभिनय कला का प्रदर्शन करके विभिन्न कलाओं के विकास में अनूठा योगदान हैं।

इस तरह लोक-कलाओं का मानव जीवन में बहुत महत्त्व है। लोक-कलाओं द्वारा स्वतंत्र रूप से सामान्य लोगों को अभिव्यक्ति व्यक्त करने का अवसर मिलता है। मोनो-एक्टिंग माइम, अभिनय, नाटक, नृत्य-नाटक, संगीत-नाटक, लोक-नाटक इत्यादि सृजनात्मक क्रियाओं की दक्षता से ही मानव का विकास हो सकता है।

नाटक का प्रयोजन

नाटक एक सस्ता मनोरंजन होने के साथ-साथ दर्शकों का स्वस्थ मनोरंजन भी करता है। नाटक के द्वारा आचरण की प्रभावकारी शिक्षा देने का उद्देश्य भी आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता। छोटे बच्चों को अपेक्षित रूप से चलने, बोलने, हाव-भाव प्रकट करने, कुमार्ग से बचने, न्याय के लिए बलिदान करने तथा दुष्टों का निर्भय विरोध करने की प्रेरणा शिक्षा नाटक के द्वारा प्रशक्त रूप से दी जा सकती है। भाषा-शिक्षण की दृष्टि से भी इसकी शिक्षा के उपयोगी उद्देश्य हैं। बच्चों को शुद्ध उच्चारण करने, सूक्ति एवं प्रशक्त गद्य-पद्य याद करने तथा सृजनात्मक ताकत को जागृत करने के अवसर पर नाटक-शिक्षण द्वारा प्रभावकारी ढंग से दिए जा सकते हैं। नाटक-शिक्षण द्वारा कल्पना, विवेचना तथा तर्क जैसी शक्तियों का विकास एवं परिष्कार आश्चर्यजनक रूप से होता है। इन बातों पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि नाटक-शिक्षण के उद्देश्य अत्यंत व्यापक हैं। इन उद्देश्यों को अलग-अलग इस प्रकार रखा जा सकता है–

1. उन्हें भावानुसार तथा प्रभावकारी वाचन की कला में निष्णात कराना।
2. उन्हें अभिनय कला से परिचित कराकर उसमें निष्णात कराना।
3. उनमें साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न करना।
4. उन्हें इतिहास एवं संस्कृति से परिचित कराना।
5. छात्रों का स्वस्थ मनोरंजन करना और मोहना।
6. उनमें साहित्यिक सृजनात्मक शक्ति का विकास करना।
7. उन्हें विभिन्न प्रकार के मानव-आचरणों एवं चरित्रों से परिचित कराना।
8. उन्हें मानव-स्वभाव के व्यावहारिक रूप से परिचित कराना।
9. उन्हें मानव-जीवन तथा समाजगत परिस्थितियों से परिचित कराना।
10. उन्हें विभिन्न अवसरों के अनुकूल आचरण करना तथा वार्तालाप करना सिखाना।
11. उन्हें वास्तविक जीवन के लिए तैयार करना।
12. उनमें वक्तृत्व-कला को विकसित कर, उन्हें सार्वजनिक भाषण करने में झिझक से मुक्त कराना।

महत्त्व और उपादेयता

1. विभिन्न रुचियों की संतुष्टि का साधन–नाटक एक ऐसा साहित्यिक साधन है। जिसके द्वारा मानव की विभिन्न रुचियों की संतुष्टि होती है। कालीदास के शब्दों द्वारा इस मान्यता की पुष्टि होती है–

नाट्यं भिन्न रुचेर्जन्सय बहुधाप्येकं समाराधनम्।

भरत मुनि ने भी स्पष्ट कहा है कि ऐसा कोई ज्ञान, योग, विद्या, कला अथवा शिल्प नहीं है, जिसे नाटक के माध्यम से प्रस्तुत न किया जा सके। नाटक में कहीं धर्म, कहीं क्रीड़ा अर्थ, कहीं श्रम, कहीं हंसी, कहीं रुदन, कहीं काम तथा शृंगार के बहुरंगी फव्वारे छूटते रहते हैं। वीर-रस तथा रुद्र-रस का निर्झर भी अपने पूर्ण वेग के साथ प्रवाहित होता है इसमें। अतः यह स्पष्ट है कि नाटक मानव की विभिन्न रुचियों की संतुष्टि का साधन है, माध्यम है।

2. कल्पना से अधिक वास्तविकता–नाटक असल में असल चीज के हकीकत को उजागर करता है। नाटक में कल्पना के स्थान पर वास्तविकता अधिक होती है। यही कारण है कि नाटक जीवन के अधिक निकट होता है। सच तो यह है कि इसमें वास्तविक जीवन ही रूपायित होता है।

3. लोकहित तथा लोकरंजन की भावना से पूर्ण–नाटक में लोकरंजन तथा लोकहित की भावना प्रमुख होती है। इससे दर्शकों तथा पाठकों का मनोरंजन तो होता ही है, उन्हें लोकहितकारी प्रेरणा तथा संदेश की प्राप्ति भी होती है। भारत मुनि के शब्दों में नाटक के इस महत्त्व को और भी स्पष्ट किया जा सकता है–

हितोपदेश जननम् नाट्यमेतद् भविष्यति।
विनोदकरणम् लोके नाट्यमेतद् भविष्यति॥

कहने का तात्पर्य की नाटक हितोपदेश व लोगों के मनोरंजन के लिए किये जाते हैं।

4. कवित्व की चरम भाषा–नाटक कवित्व की चरम भाषा है। काव्य में वर्णित दृश्य अथवा अवस्था को मानविक रूप से समझा जा सकता है। इसके विपरीत नाटक में वर्णित दृश्य अथवा स्थिति को रंगमंच पर प्रत्यक्ष देखकर आनंद प्राप्त किया जा सकता है। इस आनंद को 'ब्रह्मानंद' की संज्ञा दी गई है।

5. शिक्षण का प्रभावकारी माध्यम–मनोविज्ञान के माध्यम से यह स्पष्ट हो चुका है कि दृश्य-श्रव्य तकनीक के प्रयोग द्वारा शिक्षण पद्धति को और प्रभावशाली बनाया जा सकता है। नाटक एक जीवंत श्रव्य-दृश्य उपादान है। इस महत्त्व को आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों ने भी स्वीकार किया है तथा शिक्षण-कार्यों में इसका उपयोग धड़ल्ले से हो रहा है। अब तो सभी विषयों को नाटक के माध्यम से पढ़ाए जाने की संभावना पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जा रहा है। आचरण तथा व्यवहार की शिक्षा नाटक के माध्यम से सर्वोत्तम ढंग से दी जा सकती है। इतिहास की शिक्षा तो नाटक के माध्यम

से जीवंत तथा वास्तविक हो उठती है। टेलीविजन पर अभिनय द्वारा आजकल विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाने लगी है।

6. नाटक के गद्य, पद्य एवं मिश्रित रूप–नाटक की रचना गद्य, पद्य तथा मिश्रित तीनों रूपों में होती है तथा हो सकती है। शेक्सपियर, कालिदास जैसे–महान् नाटककारों ने अपने नाटकों की रचना पद्य में की है। डी. एल. राय, सेठ गोविन्द दास, रामकुमार वर्मा तथा जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटक मुख्य रूप से गद्य में लिखे हैं। उन्हें मिश्रित भी कहा जाता है, चूँकि इसके अन्दर गाने को भी स्थान दिया गया है।

7. जन-साधारण की वस्तु–नाटक जन सधारण की चीज हो जब यह रंग मंच पर प्रस्तुत किया जाता है तो अच्छे अच्छे मानव इसको सही मानने पर मजबूर हो जाते है और दर्शक उन्हें वाहवाही देते हैं। रंगमंच पर नाटक की दुरूहता समाप्त हो जाती है। वह जनसाधारण की पहुंच में आ जाता है तथा जन-साधारण आलोड़ित-बिलोड़ित हो जाती है। इस प्रकार नाटक जन-साधारण की वस्तु बन जाता है।

नौटंकी

नौटंकी उत्तर भारत, पाकिस्तान और नेपाल के एक लोक नृत्य और नाटक शैली का नाम है। यह भारतीय उपमहाद्वीप में प्राचीनकाल से चली आ रही स्वांग परम्परा की वंशज है और इसका नाम मुल्तान (पाकिस्तानी पंजाब) की एक ऐतिहासिक 'नौटंकी' नामक राजकुमारी पर आधारित एक 'शहजादी नौटंकी' नाम के प्रसिद्ध नृत्य-नाटक पर पड़ा। नौटंकी और स्वांग में सबसे बड़ा अंतर यह माना जाता है कि जहाँ स्वांग ज्यादातर धार्मिक विषयों से ताल्लोक रखता है और उसे थोड़ी गंभीरता से प्रदर्शित किया जाता है। वहाँ नौटंकी के मौजू प्रेम और वीर-रस पर आधारित होते हैं और उनमें व्यंग्य और तंज मिश्रित किये जाते हैं। पंजाब से शुरू होकर नौटंकी की शैली तेजी से लोकप्रीय होकर पूरे उत्तर भारत में फैल गई। समाज के उच्च-दर्जे के लोग इसे 'सस्ता' और 'अश्लील' समझते थे लेकिन यह लोक-कला पनपती गई।

स्वाँग और लीला के समान ही नौटंकी भी लोक-नाटय का प्रमुख रूप है। इसका प्रारम्भ मुगल काल से पहले का है। रासलीला के समान इसका रंगमंच भी अस्थिर, कामचलाऊ और निजी होता है। नौटंकी अत्यंत ही लोकप्रिय और प्रभावशाली लोककला है। यह लोककला जनमानस के मन से भीतर तक जुड़ी

हुई है। नौटंकी को गाँवों वालों के लिए जानकारी प्रदान करने, सामाजिक कुरीतियों से परिचित कराने और सस्ता, किंतु स्वस्थ मनोरंजन का ज्ञानवर्धक और मनोरंजक साधन माना जाता है। उत्तर प्रदेश के लगभग सभी बड़े शहरों–लखनऊ, आगरा, मेरठ, वाराणसी, गाजीपुर, जौनपुर, आजमगढ़, मिर्जापुर, गोरखपुर, बलिया, मथुरा आदि में दर्जनों नौटंकी और थियेटर कम्पनियाँ थीं।

नौटंकी का अर्थ

नौटंकी, स्वाँग, भगत प्रायः पर्यायवाची हैं।

भगत

वस्तुतःभगत शब्द बताता है कि यह कभी भक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम होगी, किन्तु आज भगत में भक्ति का अथवा धार्मिक तत्त्व का स्थान उसके आरम्भिक अनुष्ठानों में अथवा आरम्भिक मंगलाचरण में रह गया है। आरम्भिक अनुष्ठान में साधारणतः शक्ति पूजा के अवशेष दिखाई पड़ते हैं।

स्वाँग

स्वाँग के साथ वह अनुष्ठान भी नहीं, केवल आरम्भिक सरस्वती वन्दना मिलती है। शेष स्वाँग का धार्मिकता से सामान्यतः कोई संबंध नहीं रहता। स्वाँग या भगत मूलतः संगीतरूपक है। इसमें यों तो कोई भी प्रसिद्ध लोककथा खेली जा सकती है, पर शृंगार रस प्रधान अथवा प्रेमगाथा की कोटि की रचनाएँ ही प्रधानता पाती रही हैं। प्रेमलीला अथवा रोमांच का संस्पर्श किसी न किसी रूप में होना ही चाहिए।

नौटंकी

नौटंकी में यों तो कोई भी प्रसिद्ध लोककथा खेली जा सकती है, किंतु शृंगार रस प्रधान अथवा प्रेमगाथा की कोटि की रचनाएँ ही प्रधानता पाती रही हैं। प्रेमलीला अथवा रोमांच का संस्पर्श किसी न किसी रूप में होना ही चाहिए। इसी को नौटंकी भी कहा जाता है। नौटंकी मूलतः किसी प्रेम कहानी केवल नौ टंक तौलवाली कोमलांगी नायिका होगी। वही संगीत–रूपक में प्रस्तुत की गई और वह रूप ऐसा प्रचलित हुआ कि अब प्रत्येक संगीत–रूपक या स्वाँग ही नौटंकी कहा जाने लगा है। भरत मुनि ने नाटयशास्त्र में जिस सट्टक को नाटक का एक भेद

माना है, इसके विषय में जयशंकर प्रसाद और हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि सट्टक नौटंकी के ढंग के ही एक तमाशे का नाम है।

स्वरूप

नौटंकी में छोटे-छोटे बालक स्त्रियों का वेश धारण करते हैं और उनका अभिनय किया करते हैं। दृश्यों के अभाव में सूत्रधार मंच पर आकर दृश्यों के घटित होने के स्थान एवं समय और पात्रों के विषय में दर्शकों को सूचना दिया करता है। इनकी कथाओं का संबंध पौराणिक आख्यानों से न होकर लौकिक वीर, प्रणयी, साहसिक, भक्त पुरुषों के कार्यों से होता है। उन्हीं का प्रदर्शन इनमें किया जाता है। पंजाब में गोपीचन्द, पूरन भक्त और हकीकत राय का संगीत अत्यधिक लोकप्रिय है। एक ओर सीमित मात्रा में नृत्य, गायन, काव्य पाठ, कथा-पाठ, मूक अभिनय एवं हास्य के धागों से बुनी ऐतिहासिक, पौराणिक अथवा समसामयिक विषय पर केन्द्रित कथा-वस्तु की लोकशैली में प्रस्तुति, नौटंकी की विशेषता रही, तो दूसरी ओर भाषा, संगीत, कास्टयूम एवं चरित्र की दृष्टि से हिन्दू एवं मुस्लिम संस्कृति का समन्वय इसका स्वरूप।

आधुनिक स्वरूप

आज नौटंकी का रूप बदला हुआ है। इसका रंगमंच प्रायः उठाऊ और साधारण होता है, जिसका निर्माण खुले मैदान में लट्ठों, बाँसों और कपड़ों की चादरों से किया जाता है। दर्शकों के लिए दूर तक चाँदनी तान दी जाती है और रंगभूमि बड़े-बड़े तख्तों से बनाई जाती है। प्रायः एक परदे का व्यवहार किया जाता है, जो अभिनेताओं के रंग-भूमि में आने पर उठता है और उनके चले जाने पर गिरता है। कभी-कभी कार्य व्यापार चलते समय पात्रों का प्रवेश नेपथ्य अथवा मैदान से दर्शकों के बीच से होकर हो जाता है। इसका प्रेक्षागृह इतना बड़ा बनाया जाता है कि चाँदनी के नीचे सैकड़ों दर्शक बैठ जाएँ और न बैठ सकने पर पास के खुले मैदान को उपयोग में लाया जाता है। अब इसमें अनेक दृश्य होने लगे हैं, किन्तु प्रत्येक दृश्य की कार्य की सूचना सूत्रधार ही देता है। वही प्रारम्भ में लीला या कहानी के लेखक, पात्र तथा कथा आदि के विषय में दर्शकों को सूचना देता है और उनमें उनके प्रति उत्सुकता तथा जिज्ञासा उत्पन्न कर देता है।

इतिहास

16वीं शताब्दी के प्रसिद्ध इतिहासकार अबुल फजल की आइने अकबरी में नौटंकी का उल्लेख मिलता है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि नौटंकी नामक शहजादी के नाम पर, एक गीत नाटय शहजादी नौटंकी की अपार लोकप्रियता ने इस विधा को नौटंकी नाम दिया। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि नाटक से नाटकी एवं नाटकी से नौटंकी नाम पड़ा। एक दृष्टिकोण यह भी है कि इसका टिकट नौटंकी होने के कारण इसका नाम नौटंकी नाम पड़ गया। कुछ विद्वान यह मानते है कि मथुरा-वृन्दावन के भगत एवं रास एवं राजस्थान की ख्याल लोकविधा से ही नौटंकी का जन्म हुआ। स्वांग या संगीत एवं उत्तर भारत की रामलीला जैसी अन्य लोक विधाओं की लोकप्रियता कम नहीं रही, लेकिन अपने विविध आयामी स्वरूप के कारण नौटंकी ने जो लोकप्रियता प्राप्त की, वह अकल्पनीय है। ऐतिहासिक दृष्टि से नौटंकी विधा के 5 अखाड़े हैं। मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, कासगंज, कानपुर एवं हाथरस, किंतु नौटंकी के दो विशेष अखाड़े ही महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। हाथरस, मथुरा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में एवं कानपुर, लखनऊ मध्य उत्तर प्रदेश में।

प्रसिद्ध नाटककार और कवि जयशंकर प्रसाद और हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है कि सट्टक नौटंकी के भाँति एक तमाशे का नाम है। प्रसाद ने अपने निबंध रंगमंच में नौटंकी को नाटक का अपभ्रंश माना है। प्रसाद का कहना है कि नौटंकी प्राचीन रागकाव्य या गीतिकाव्य की ही स्मृति है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार, नौटंकी का वर्तमान रूप चाहे जितना आधुनिक हो, उसकी जड़ें बड़ी गहरी हैं। रामबाबू सक्सेना ने अपनी पुस्तक तारीख-ए-अदब-ए-उर्दू में लिखा है कि नौटंकी लोकगीतों और उर्दू कविता के मिश्रण से पनपी है।

कालिका प्रसाद दीक्षित कुसुमाकर का मानना है कि नौटंकी का जन्म संभवत: ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में हुआ था। 13वीं शताब्दी में अमीर खुसरो के प्रयत्न से नौटंकी को आगे बढ़ने का अवसर मिला। खुसरो ने अपनी रचनाओं में जिस भाषा का प्रयोग किया है, वैसी ही भाषा और उन्हीं के छंदों से मिलते-जुलते छंदों का प्रयोग नौटंकी में बढ़ने लगा।

कथानक

नौटंकी का कथानक प्रणय, वीरता, साहसपूर्ण घटनाओं से भरा रहता है। वह किसी लोकप्रसिद्ध वीर या साहसी या भागवत पुरुष की जीवन कथा पर अवलम्बित रहता है।

संबंधित लोककथा

संगीत प्रधान लोकनाटय के नौटंकी नाम के विषय में एक लोक प्रेमकथा प्रचलित है। ऐसा कहा जाता है कि पंजाब के स्यालकोट के राजा राजोसिंह के छोटे बेटे फूलसिंह ने शिकार खेलकर लौटने पर भाभी से पीने के लिए पानी माँगा। भाभी ने पानी देने के स्थान पर व्यंग्य किया–जाओ, मुल्तान की राजकुमारी नौटंकी से शादी कर लो। फूलसिंह मुल्तान पहुँच गया और शाही मालिन के द्वारा नौटंकी के पास एक हार भेज दिया। नौटंकी के पूछने पर मालिन ने कह दिया–मेरे भाँजे की वधू ने यह हार बनाया है। नौटंकी ने जब उसे भाँजे की वधू को भेजने के लिए कहा, तो फूलसिंह स्त्री के वेश में नौटंकी के शयनकक्ष में पहुँच गया। रात में साथ सोने के क्रम में फूलसिंह का यह भेद खुल गया और अंततः दोनों की शादी हो गई।

पात्र चित्रण

नौटंकी में अनेक स्त्री-पुरुष पात्र होते हैं। स्त्री-पात्रों का अभिनय या तो विवाहिता या कुमारी स्त्रियाँ करती हैं अथवा वैश्याएँ करती हैं। वैश्याएँ दृश्यान्त में मंच पर आकर अपने नृत्य-गान, हाव-भाव, मुद्राओं से जनता का मनोरंजन करती है और नेपथ्य में अभिनेताओं को रूप-सज्जा आदि करने का अवकाश देती हैं।

संगीत

रंगभूमि में एक ओर गायकों, वाद्य वादकों का समूह भी रहता है, जो अभिनय, संवाद, नृत्य की तीव्रता, उत्कृष्टता बढ़ाता रहता है। तबला और नगाड़े का विशेष प्रयोग होता है। तबले के तालों और नगाड़े की चोबों की गूँज रात में मीलों सुनाई पड़ती है, जिसके आकर्षण से सोते हुए ग्रामीण भी नौटंकी देखने पहुँच जाते हैं।

हास्य और संवाद संयोजन

रूचि-वैचित्र्य के समाधान, स्वाद के परिवर्तन और शान्ति व्यवस्था बनाए रखने के लिए हास्यपूर्ण प्रसंगों की योजना रहती है, जिसमें नारी-पुरुष के रूप में पात्र प्रहसन प्रस्तुत करते हैं। प्रायः संवाद पद्य प्रधान होते हैं। अभिनेता मंच पर दर्शकों की ओर जा-जाकर उत्तर-प्रत्युत्तर देतें हैं और प्रश्न करते हैं। इस प्रकार

संवाद प्रायः प्रश्नोत्तरात्मक होते हैं। उनमें उत्तेजना, साहस और दर्पपूर्ण उक्ति का बाहुल्य और प्रेम-प्रसंगों का आधिक्य रहता है। अधिकतर किसी वीर नायक को प्यार के फाँस में फँसा दिखाया जाता है, जिसके कारण उसका पतन हो जाता है।

उपदेशपूर्ण अंत

अन्त में परिणाम उपदेशपूर्ण दिखाया जाता है। सुल्तान डाकू की नौटंकी उदाहरण के रूप में ली जा सकती है। जहाँ भक्त चरित को दिखाया जाता है, वहाँ भक्त के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ दिखाई जाती हैं। अन्त में उसकी विजय प्रदर्शित की जाती है। यद्यपि नौटंकी के समाप्त होने तक उद्देश्य प्रकट कर दिया जाता है, तथापि सूत्रधार अन्त में फिर मंच पर आकर भलाई करने और बुराई से बचने, सत्य-धर्म के निबाहने की शिक्षा देता है। प्रकाश की योजना आद्यन्त एक समान रहती है। नौटंकी के प्रारम्भ होने का समय रात के 8 बजे से और समाप्त होने का समय प्रातः पाँच बजे तक है। कभी-कभी कथा के विस्तार या जमी हुई भीड़ के कारण कार्यक्रम सूर्योदय तक चलता रहता है।

नौटंकी के लिए उचित समय

प्रायः नौटंकी कार्तिक, मार्गशीर्ष अथवा चौत्र, वैशाख के महीनों में हुआ करती है। मेलों के अवसरों पर इनका विशेष आयोजन होता है। उत्तर प्रदेश के मेलों का नौटंकी अभिन्न अंग होती है। इसके अतिरिक्त साप्ताहिक बाजारों में भी नौटंकी होती हैं।

प्रसिद्ध नौटंकी

नौटंकी की जन्मस्थली उत्तर प्रदेश है। हाथरस और कानपुर इसके प्रधान केंद्र है। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों—फर्रुखाबाद, शाहजहाँपुर, कानपुर, एटा, इटावा, मैनपुरी, मेरठ, सहारनपुर आदि में इसका विशेष प्रचार है। उधर चिभुवन-मण्डली की नौटंकी विशेष प्रसिद्ध है। ग्वालियर की नौटंकी भी प्रख्यात है। रासमण्डलियों के सदृश नौटंकी की भी मण्डलियाँ होती हैं, जो एक स्थान से दूसरे स्थानों पर घूम-घूमकर नौटंकी के प्रदर्शन किया करती हैं। नौटंकी ग्रामीण जनता की नाटयवृत्तियों का समाधान करने वाले मुख्य साधनों में अत्यधिक महत्त्वशाली है। इस पर पारसी थियेटरों तथा नाटकीय रंगमंच का विशेष प्रभाव

है, परन्तु आज चलचित्र के व्यापक प्रसार से इसकी वृद्धि और इसके प्रभाव में अन्तर आ गया है।

छंद

नौटंकी, भगत अथवा स्वाँग का मुख्य छन्द चौबोला है। इस चौबोले के दो रूप मिलते हैं, एक छोटी तान का, दूसरी लम्बी तान का। प्रत्येक चौबोले का आरम्भ दोहे से होता है, जिसका अन्तिम चरण कुण्डलिया की भाँति आगे के चौबोले से कुण्डलित रहता है।

रंगमंच

रंगमंच (थिएटर) वह स्थान है जहाँ नृत्य, नाटक, खेल आदि हों। रंगमंच शब्द रंग और मंच दो शब्दों के मिलने से बना है। रंग इसलिए प्रयुक्त हुआ है कि दृश्य को आकर्षक बनाने के लिए दीवारों, छतों और पर्दों पर विविध प्रकार की चित्रकारी की जाती है और अभिनेताओं की वेशभूषा तथा सज्जा में भी विविध रंगों का प्रयोग होता है और मंच इसलिए प्रयुक्त हुआ है कि दर्शकों की सुविधा के लिए रंगमंच का तल फर्श से कुछ ऊँचा रहता है। दर्शकों के बैठने के स्थान को प्रेक्षागार और रंगमंच सहित समूचे भवन को प्रेक्षागृह, रंगशाला, या नाट्यशाला (या नृत्यशाला) कहते हैं। पश्चिमी देशों में इसे थिएटर या ऑपेरा नाम दिया जाता है।

इसके सहकारी वाद्यवृन्दों में नगाड़ा अनिवार्य है। भगत का रंगमंच बल्लियों के स्तम्भ बनाकर आदमी से ऊँची बाड़ बाँधकर बनता है। बाड़ों की एक ऐसी वीथिका बनायी जाती है, जिसके बीच में स्थान खाली रहता है। इन बाड़ों पर अभिनेता एक स्थान से चलकर चारों और घूम आता है। हर ओर उसे चौबोला दुहराना पड़ता है। स्वाँग का रंगमंच सादा होता है। भूमि से कुछ ऊँचा एक लम्बे-चौड़े तख्त जैसा चारों ओर खुला होता है। प्रसिद्ध स्वाँगों में स्याहपोश, अमरसिंह राठौर, पूरनमल, हरिश्चन्द्र आदि गिने जाते हैं।

भाषा

नौटंकी की भाषा में हिंदी, उर्दू, लोकभाषा एवं क्षेत्रीय बोलियों के शब्दों का अधिक प्रयोग होता है। नौटंकी के संवाद गद्य और पद्य दोनों में बोले जाते हैं। पात्रों के अनुसार भाषा का रूप भिन्न नहीं होता। नौटंकी की भाषा लाक्षणिक

ना होकर सरल और सुबोध होती है। नौटंकी में बहरेतबील, चौबोला, दोहा, लावणी, सोरठा, दौड़ आदि छंदों का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है। नौटंकी के संगीत में नगाड़े का विशेष स्थान होता है। इसके अतिरिक्त ढोलक, डफ और हारमोनियम का भी प्रयोग किया जाता है।

स्वांग

भारत के राजस्थान राज्य के लोकनाट्य रूपों में एक परम्परा स्वांग की भी है। किसी रूप को स्वयं में आरोपित कर उसे प्रस्तुत करना ही स्वांग कहलाता है।

स्वांग का अर्थ

स्वांग में किसी प्रसिद्ध रूप की नकल रहती है। इस प्रकार से स्वांग का अर्थ किसी विशेष, ऐतिहासिक या पौराणिक चरित्र, लोकसमाज में प्रसिद्ध चरित्र या देवी, देवता की नकल में स्वयं का शृंगार करना, उसी के अनुसार वेशभूषा धारण करना एवं उसी के चरित्र विशेष के अनुरूप अभिनय करना है। यह स्वांग विशेष व्यक्तित्त्व की नकल होते हुए भी बहुत जीवंत होते हैं कि इनसे असली चरित्र होने का भ्रम भी हो जाता है। कुछ जातियों और जनजाति के लोग तो स्वांग करने का कार्य ही अपनाए हुए हैं। इस विधा में व्यक्ति एक ही चरित्र सम्पन्न करता है। आधुनिक प्रचार माध्यमों के विकसित हो जाने से लोकनाट्य का यह रूप नगरों से दूर ग्रामों की ही धरोहर रह गया है और इसे केवल शादी और त्यौहार के अवसर पर ही दिखलाया जाता है। राजस्थान के स्वांग के कुछ उदाहरण निम्नलिखित है–

1. होली के अवसर पर पूरे शेखावाटी क्षेत्र में विविध स्वांग रचे जाते हैं।
2. होली के दूसरे दिन होली खेलने के साथ ही कई नगरों में लोग स्वांग रचकर सवारी भी निकालते हैं। जैसे–उदयपुर में तेली लोगों की डाकी की सवारी।
3. नाथद्वारा में होली के दूसरे दिन शाम को बादशाह की सवारी निकाली जाती है।
4. उदयपुर में जमरा बीज पर मीणा औरतों द्वारा रीछ व शेर का स्वांग किया जाता है।

चौत्र कृष्ण त्रयोदशी को भीलवाड़ा के मांडल में निकाला जाने वाला नाहरों या शेरों का स्वांग बहुत प्रसिद्ध है। इसमें आदिवासी लोग शेर का स्वांग करते हैं

तथा उनके पीछे–पीछे शिकारी तीर-कमान लेकर चलते हैं। वाद्य के रूप में बड़े–बड़े ढोल बजाए जाते हैं, जो इतने बड़े होते हैं कि इन्हें चार लोगों को पकड़ना पड़ता है।

भरतपुर की स्वांग विधा–

स्वांग भरतपुर की एक पुरानी लोकनाटय कला है।

हास्य प्रधान

इस विधा में हास्य की प्रधानता होती है, जिसमें विचित्र वेशभूषाओं में कलाकार हँसी मजाक के द्वारा दर्शकों का मनोरंजन करते हैं। भरतपुर की यह कला संगीत, नृत्य, अभिनय और वाद्य यंत्रों के उपयोग के कारण नौटंकी कला की भाँति लगती है।

मंचन

स्वांग विधा का मंचन भी नौटंकी की भाँति खुले स्थान में किया जाता है। स्वांग कलाकारों के अभिनय के लिए दो तख्त डाल कर उस पर चादर बिछा दी जाती है। जिस पर हारमोनियम, ढोलक, नक्कारा व ढपली वादक एक कोने में बैठ जाते हैं और स्वांग कलाकार विभिन्न वेशभूषा में स्वांग भर कर आपसी संवादों व गीतों के द्वारा लोगों का मनोरंजन करते हैं।

नरसिंह नृत्य

नरसिंह नृत्य ब्रज (मथुरा, उत्तर प्रदेश) के प्रसिद्ध लोक नृत्यों में से एक है। इस नृत्य में मुख्य रूप से नरसिंह लीला प्रस्तुत की जाती है। यह लीला नरसिंह चतुर्दशी की रात को मथुरा और वृन्दावन के कई मुहल्ले में आयोजित होती है। नरसिंह लीला नृत्य प्रधान होती है, जिसमें कोई नाटक या संवाद नहीं होता। नरसिंह नृत्य दक्षिण के कथकली नृत्य से बहुत समानता रखता है।

आयोजन स्थल

ब्रज के जिन मुहल्लों में यह नरसिंह लीला होती हैं, वहाँ की गली का ही मंच के रूप में उपयोग किया जाता है। गली के दो छोरों पर दो तख्त डाल दिए जाते हैं और पहले तख्त से दूसरे तख्त तक लगभग डेढ़ फलांग की लम्बाई में सज्जित पात्र नृत्य करते हुए चक्कर लगाते हैं। नृत्य करने वाले पात्रों की संगत

एक सामूहिक वाद्यवृंद द्वारा की जाती है, जो नर्तक के साथ ही वाद्य बजाते हुए उसके पीछे चलते हैं। इस नृत्य में कई जोड़ी बड़े झांझ समान स्वर में बजाए जाते हैं।

लीला

नरसिंह नृत्य में लवणासुर, शत्रुन, हिरण्याक्ष, वराह, ब्रह्मा, महादेव आदि देवता क्रमशः आकर गली में एक छोर से दूसरे छोर तक एक-एक करके नृत्य करते हैं और चले जाते हैं। यह क्रम थोड़े-थोड़े विराम से पूरी रात्रि चलता है। प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व लंबे-लंबे केशपाशों को बिखेरे हुए भारी मुखौटा लगाए ताड़का का पात्र नृत्य करता है। बाद में पीले वस्त्रों में माला लिए बालक प्रह्लाद अपने सखाओं के साथ आकर नृत्य करता है। इसके उपरांत सूर्योदय हो जाने पर रात्रि आठ बजे के लगभग तख्त पर कागज का बना एक विशालकाय पोला खंभ खड़ा कर दिया जाता है, जिस पर हिरण्यकशिपु तलवार चलाता है। ऐसा करते ही उसे फाड़कर उसमें से नरसिंह भगवान भयंकर मुद्रा में नृत्य करते हुए प्रकट होते हैं। यह नरसिंह वेशभूषा और अपनी नृत्य मुद्राओं से रौद्र रस को सकार करते हुए अपनी फेरी पूरी करते हैं। नृत्य समाप्त करने के उपरान्त नरसिंह हिरण्यकष्यपु को पकड़कर उसे अपनी जांघो पर लिटाते हैं और इसके उपरांत उनकी आरती होती है। प्रहलाद उनकी गोद में बैठता है और यह लीला समाप्त हो जाती है।

प्राचीनता

यह लीला मथुरा, वृंदावन में कब से होती आ रही है, इस विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता, परन्तु यह परम्परा बहुत प्राचीन है। पुराणों में ब्रज प्रदेश को वराह मंडल कहा गया है। अतः वराह और हिरण्याक्ष का नृत्य स्वयं इस लीला की प्राचीनता का द्योतक है। इतिहास से ज्ञात होता है कि मथुरा नगरी मधु नामक दैत्य द्वारा बसाई गई थी और उसके अत्याचारी पुत्र लवण को भगवान श्रीराम के छोटे भाई शत्रुन ने मारकर इस नगर को पुनः स्थापित किया था और यहाँ अपनी राजधानी बनाई थी। ऐसी दशा में जब नरसिंह लीला में लवण और शत्रुघ्न एक दूसरे के बाद नृत्य करते है, तब इस लीला की प्राचीनता स्वयं ही सिद्ध हो जाती है।

कथकली से समानता

नरसिंह नृत्य दक्षिण की कथाकली नृत्य शैली से बहुत साम्य रखता है। नृत्य की गति, पग-संचालन तथा नृत्य के साथ बजने वाले बड़े-बड़े झाँझों का तुमुल घोष जहाँ कथकली से साम्य रखता है, वहीं भगवान नरसिंह का मुखौटा कथाकली के मुखौटों से भी कहीं अधिक विशाल और भयंकर होता है। इस मुखौटे को धारण करने के लिए पात्र के मुख पर पहले चारों ओर कपड़ों के कई थान लपेटे जाते हैं, जब वह इसे धारण कर पाता है। यह इतना भारी होता है कि नृत्य करते हुए नरसिंह को साधने के लिए दो व्यक्ति उनकी कमर के इधर-उधर झुकते हुए उन्हें साधकर नृत्य कराते हैं तथा कुछ व्यक्ति हाथ में पंखे लिए मुखमंडल पर वायु का संचार करते रहते हैं।

मुखौटे का पूजन

नरसिंह लीला एक धार्मिक अनुष्ठान के रस में होती है। नरसिंह का मुखौटा, जिसे नरसिंह लीला में धारण कराया जाता है, मुहल्ले के किसी मन्दिर या पवित्र स्थान पर पूरे वर्ष विराजित रहता है और उसकी मूर्ति के समान ही पूजा होती है भोग आदि भी लगाया जाता है। नरसिंह लीला से पहले इस मुखौटे का विशेष रूप से पूजन होता है और हलुआ का प्रसाद पूरे मुहल्ले में बाँटा जाता है, जिससे सभी को नरसिंह लीला के आयोजन की सूचना भी मिल जाती है और व्यापक रूप से लीला की तैयारी होने लग जाती है। इस प्रकार नरसिंह नृत्य अपने आप में एक विशिष्ट परम्परा संजोए हुए है।

गवरी नृत्य

यह नृत्य भील जनजाति का प्रसिद्ध नृत्य है। इस नृत्य को सावन- भादो माह में किया जाता है। इस में मांदल और थालि के प्रयोग के कारण इसे ' राई नृत्य' के नाम से जाना जाता है। इसे केवल पुरुषो के दुवारा किया जाता है।

वादन संवाद, प्रस्तुतिकरण और लोक-संस्कृति के प्रतीकों में मेवाड़ की गवरी निराली है। गवरी का उदभव शिव-भस्मासुर की कथा से माना जाता है। इसका आयोजन रक्षाबंधन के दुसरे दिन से शुरू होता है। गवरी सवा महीने तक खेली जाती है। इसमें भील संस्कृति की प्रमुखता रहती है। यह पर्व आदिवासी जाती पर पौराणिक तथा सामाजिक प्रभाव की अभिव्यक्ति है। गवरी में मात्र पुरुष

पात्र होते हैं। इसके खेलों में गणपति काना-गुजरी, जोगी, लाखा बणजारा इत्यादि के खेल होते है। इसमें शिव को 'पुरिया' कहा जाता है

लोक नृत्य-नाटिका

राजस्थान की समृद्ध लोक परम्परा में कई लोक नृत्य एवं लोक नाटय प्रचलित है। इन सबसे अनूठा है–गवरी नामक लोक नृत्य-नाटिका। यह भील जनजाति का नाटय-नृत्यानुष्ठान है, जो सैकड़ों वर्षों से प्रतिवर्ष श्रावण मास की पूर्णिमा के एक दिन पश्चात् प्रारंभ होता है और फिर सवा माह तक आयोजित होता है। इसका आयोजन मुख्यत: उदयपुर और राजसमन्द जिले में होता है। इसका कारण यह है कि इस खेल का उद्‌भव स्थल उदयपुर माना जाता है तथा आदिवासी भील जनजाति इस जिले में बहुतायत से पाई जाती है।

अनुष्ठान संकल्प

गवरी नृत्य में जो गाथाएँ सुनने को मिलती हैं, उनके अनुसार–"देवी गौरजा धरती पर आती हैं और धरती पुत्रों को खुशहाली का आशीर्वाद देकर जाती हैं। गौरजा भीलों की प्रमुख देवी हैं। वे मानते हैं कि यह देवी ही सर्वकल्याण तथा मंगल की प्रदात्री है। यह सभी प्रकार के संकटों से रक्षा करती हैं व विवादों-झगड़ों तथा दु:ख-दर्दों से मुक्ति दिलाती है। इसी देवी की आराधना में भील गवरी अनुष्ठान का संकल्प धारण करते हैं। भील लोग देवी गौरजा के मंदिर में जाकर गवरी लेने की इच्छा व्यक्त करते हैं और पाती माँगते हैं। पाती माँगना एक परम्परा है, जिसमे देवी की मूर्ति के समक्ष एक थाली रखकर विनती की जाती है। यदि मूर्ति से फूल या पत्तियाँ गिर कर थाली में आ जाती हैं तो इसे देवी की आज्ञा माना जाता है। मंदिर में भोपा के शरीर में माता प्रकट होकर भी गवरी की इजाजत देती हैं। तब गाँव के प्रत्येक भील के घर से एक व्यक्ति सवा माह तक पूरे संयम के साथ गवरी नाचने के लिए घर से निकल जाता है। इन कलाकारों को खेल्ये कहा जाता है।

नियम

गवरी के सवा मास दौरान ये खेल्ये मात्र एक समय भोजन करते हैं। ये नहाते भी नहीं हैं तथा हरी सब्जी, माँस-मदिरा का त्याग रखते हैं। पाँव में जूते नहीं पहनते हैं। एक बार घर से बाहर निकलने के बाद सवा माह तक अपने घर

भी नहीं जाते हैं। एक गाँव का गवरी दल केवल अपने गाँव में ही नहीं नाचता है, अपितु हर दिन उस अन्य गाँव में जाता है, जहाँ उनके गाँव की बहन-बेटी ब्याही गई हैं। जिस गाँव में ये दल जाता है, उस गाँव के लोग इस दल के भोजन की व्यवस्था करते है तथा नृत्य के अंत में गवरी को न्यौतने वाली बहन-बेटी उन्हें कपड़े भी भेंट करते है, जिसे पहरावनी कहते हैं।

दल का गठन

गवरी नृत्य के लिए दल का गठन करते समय कलाकारों के लिए कपड़ों, गहनों और साज-सज्जा इत्यादि पर आने वाले खर्च को पूरे गाँव के सभी जातियों के लोग मिल-जुल कर वहन करते हैं, जो कलाकार गवरी में जिस पात्र का अभिनय करता है, अक्सर वह हर समय उसी की वेशभूषा पहने रहता है। गवरी का प्रदर्शन जहाँ कहीं भी चौराहा या खुला स्थान होता है, वहाँ किया जाता है। यह खेल प्रातः काल 8-9 बजे से सायंकाल 5-6 बजे तक चलता है। इसमें कम आयु से लेकर अधिक आयु वर्ग के चालीस या पचास लोग भाग लेते हैं। गाँव में हर तीसरे वर्ष गवरी ली जाती है। खम्मा के फटकारे लगते हैं। आनंद का उत्सव होता है।

मुख्य पात्र

गवरी में दो मुख्य पात्र होते है–राईबूढ़िया और राईमाता। राईबूढ़िया को शिव तथा राईमाता को पार्वती माना जाता है। इसलिए दर्शक इन पात्रों की पूजा भी करते है। गवरी का मूल कथानक भगवान शिव और भस्मासुर से संबंधित है। इसका नायक राईबूढ़िया होता है, जो शिव तथा भस्मासुर का प्रतीक है। राईबूड़िया की वेशभूषा विशिष्ट होती है। इसके हाथ में लकड़ी का खांडा, कमर में मोटे घुघरूओं की बंधी पट्टी, जांघिया तथा मुँह पर विचित्र कलात्मक मुखौटा होता है। जहाँ इसकी जटा तथा भगवा पहनावा शिवजी का प्रतीक है, वहीं हाथ का कड़ा तथा मुखौटा भस्मासुर का द्योतक है। यह बूढ़िया गवरी की गोल घेरे में नृत्य कर और उसके बाहर रहकर उसके विपरीत दिशा में उल्टे पाँव नृत्य करता है। राईबूढ़िया परम्परागत पीढ़ी-दर-पीढ़ी पिता पुत्र के उत्तराधिकार के रूप में बनता है। राईमाता गवरी की नायिका होती है। प्रत्येक गवरी में राईमाता की संख्या दो होती हैं। दोनों शिव की पत्नियाँ हैं, जो शक्ति (सती) और पार्वती का प्रतिनिधित्व करती हैं। गवरी के अन्य पात्र शिवजी के गण होते हैं। नायक राईबूढ़िया महादेव शिव है।

मान्यता

पुराण में कथा का नायक चूड़ मिलता है। यही चूड़ धीरे-धीरे बूड़ और फिर बूड से बूढ़िया बन गया है। इन ग्रामीणों में यह मान्यता है कि शिव हमारे जंवाई हैं और गौरजा अर्थात् पार्वती हमारी बहन-बेटी हैं। कैलाश पर्वत से गौरजा अपने पीहर मृत्यु लोक में मिलने आती हैं। गवरी खेलने के बहाने सवा माह तक अलग-अलग गाँव में यह सबसे मिलती हैं। गवरी में सभी कलाकार पुरुष होते हैं। महिला पात्रों की भूमिका भी पुरुष ही निभाते हैं। संपूर्ण गवरी में नायक बूड़िया पूरी गवरी का नेतृत्व करता है। दोनों राइयाँ लाल घाघरा, चूनरी, चोली तथा चूड़ा पहने होती हैं। इनका दाढ़ी-मूँछ वाले मुँह के भाग को कपड़े से ढँका रहता हैं। गवरी के विशिष्ट पात्रों में झामटिया पटकथा की प्रस्तुति देता है तथा कुटकड़िया अपनी कुटकड़ाई शैली से गवरी में हास्य व्यंग्य का माहौल बनाए रखता है।

विभिन्न खेल

गवरी के मुख्य खेलों में मीणा-बंजारा, हठिया, कालका, कान्ह-गूजरी, शंकरिया, दाणी जी, बाणियाँ चपल्याचोर, देवी अंबाव, कंजर, खेतुड़ी, बादशाह की सवारी जैसे-कई खेल अत्यंत आकर्षक व मनोरंजक होते हैं। भीलों के अनुसार शिव आदिदेव हैं। इन्हीं से सृष्टि बनी हैं। पृथ्वी पर पहला पेड़ बड़ अर्थात् वटवृक्ष पाताल से लाया गया था। देवी अंबा और उसकी सहेली व अन्य देवियों के साथ यह वृक्ष लाया गया और पहली बार उदयपुर के पास प्रसिद्ध रणक्षेत्र हल्दीघाटी के पास ऊनवास गाँव में स्थापित किया गया था।

तमाशा

तमाशा भारत के लोक नाटक का शृंगारिक रूप है, जो पश्चिम भारत के महाराष्ट्र राज्य में 16वीं शताब्दी में शुरू हुआ था। अन्य सभी भारतीय लोक नाटकों में प्रमुख भूमिका में प्रायः पुरुष होते हैं, लेकिन तमाशा में मुख्य भूमिका महिलाएँ निभाती हैं। 20वीं सदी में तमाशा व्यावसायिक रूप से बहुत सफल हुआ। तमाशा महाराष्ट्र में प्रचलित नृत्यों, लोक कलाओं इत्यादि को नया आयाम देता है। यह अपने आप में एक विशिष्ट कला है।

शुरुआत

तमाशा नाटक का ही एक रूप है। इसकी शुरुआत महाराष्ट्र में 16वीं सदी में हुई थी। यह लोक कला यहाँ की अन्य कलाओं से थोड़ी अलग है। तमाशा शब्द का अर्थ है–"मनोरंजन"। कुछ शोधकर्ताओं का मानना है कि संस्कृत के नाटक रूपों–प्रहसन और भान से इसकी उत्पत्ति हुई है। इस लोक कला के माध्यम से महाभारत और रामायण जैसी पौराणिक कथाओं को सुनाया जाता है। इसमें ढोलकी, ड्रम, तुनतुनी, मंजीरा, डफ, हलगी, कड़े, हारमोनियम और घुँघरुओं का प्रयोग किया जाता है।

स्थान

मुख्य रूप से तमाशा महाराष्ट्र के कोल्हाटी समुदाय द्वारा किया जाता है। इस कला को प्रस्तुत करने के लिए किसी मंच इत्यादि की आवश्यकता नहीं होती है। इसे किसी भी खुले स्थान पर किया जा सकता है।

कृष्ण संबंधी कथाएँ

तमाशा के शुरू होते ही सबसे पहले भगवान गणेश की वंदना की जाती है। इसके बाद गलवाना या गौलनियर गाए जाते हैं। मराठी धर्म-साहित्य में ये कृष्णलीला के रूप हैं, जिसमें भगवान कृष्ण के जन्म की विभिन्न घटनाओं को दर्शाया जाता है।

चरित्र

नृत्य शृंखलाओं के अलावा तमाशा में नटुकनी, सौंगद्य और अन्य चरित्रों द्वारा अनेक प्रकार के शब्दिक कटाक्षों और कूट प्रश्नों द्वारा वाद-प्रतिवाद भी किया जाता है। नटुकनी का चरित्र महिलाएँ निभाती हैं। इस लोक कला में यमन, भैरवी और पिलु हिन्दुस्तानी राग मुख्य रूप से प्रयोग किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य लोक गीतों का भी प्रयोग किया जाता है। इसके अंत में सदैव बुराई पर अच्छाई और असत्य पर सत्य की विजय का संदेश दिया जाता है।

बहरूपिया कला

बहरूपिया कला पूरे राजस्थान में प्रचलित है। बहुरूपिए अपना रूप चरित्र के अनुसार बदल लेते हैं और उसी के चरित्र के अनुरूप अभिनय करने में प्रवीण

होते हैं। अपने शृंगार और वेषभूषा की सहायता से वे प्रायः वही चरित्र लगने लग जाते हैं, जिसके रूप की नकल वह करते हैं। कई बार तो असल और नकल में भेद भी नहीं कर पाते हैं और लोग चकरा जाते हैं।

मनोरंजक नाट्य कला

किसी गाँव में आ जाने पर ये बहुत दिनों तक बालकों, वृद्धों सहित सभी नर-नारियों का मनोरंजन करते हैं। ये प्रायः शादी-ब्याह या मेलों-उत्सव आदि के अवसर पर गाँव में पहुँचते हैं। ये अपनी नकलची कला में अत्यंत ही दक्ष होते हैं।

पात्र

देवी-देवताओं, इतिहास पुरुषों व महापुरुषों का रूप धारण करने के अलावा ये गाँव के धनी-मनी लोगों की भी नकल करते हैं। गाँव के बोहरा, सेठजी, बनिया आदि भी इनके मुख्य पात्र होते हैं। पौराणिक ग्रंथों में भी इस कला के प्रचलित होने के प्रमाण मिलते हैं। हिन्दू राजाओं तथा मुगल बादशाह ने भी इस कला को उचित प्रश्रय दिया था।

विशिष्ट कला

बहरूपिया कला राजस्थान की अपनी विशेष कला है, किन्तु आज के विकसित तकनीकी समाज में यह कला लगातार कम होती जा रही है। इस विलुप्त प्रायः कला का सबसे नामी कलाकार 'केलवा का परशुराम' है। भीलवाड़ा के जानकीलाल भाँड 'बहरूपिया ' भी राजस्थान में प्रसिद्ध है और उसने अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक इस कला को पहुँचाया है। उसने दिल्ली में आयोजित भारत का 'अपना उत्सव', लंदन में आयोजित 'इंटरनेशनल फेस्टिवल ऑफ स्ट्रीट म्यूजिक' में राजस्थान का प्रतिनिधित्व भी किया तथा अनेक स्वांग का प्रदर्शन कर मनोरंजन किया। अपना उत्सव में तो वे फकीर के वेश में पहुँचे तो सुरक्षाकर्मी उन्हें भ्रमवश बाहर निकालने लग गए थे। वे उनके परिचय पत्र पर भी विश्वास नहीं कर रहे थे।

रासलीला

रास नृत्य ब्रज (उत्तर प्रदेश) में रासलीला के दौरान किया जाता है। इसी नृत्य को भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी कला से सजाया था, इसीलिए यह रास नाम

से प्रसिद्ध हुआ। इस नृत्य को सुकरता व नागरता प्रदान करने के कारण ही आज तक श्रीकृष्ण नटनागर की उपाधि से विभूषित किए जाते हैं।

लोकप्रियता

द्वारका के राज दरबार में रास नृत्य के प्रतिष्ठित हो जाने के उपरान्त उषा ने इस नृत्य में मधुर भाव-भंगिमाओं को विशेष रूप से जोड़ा व इसे समाज को सिखाया और देश देशांतरों में इसे लोकप्रिय बनाया। शारंगदेव ने अपने संगीत रत्नाकर में इस तथ्य की पुष्टि की है। उनके अनुसार–

पार्वतीत्वनु शास्रिस्म, लास्यं वाणात्मामुवाम्।
तथा द्वारावती गोप्यस्तामि सोराष्योषितः॥
तामिस्तु शिक्षितानार्यो नाना जनपदास्पदाः।
एवं परम्यराप्राहामेतलोके प्रतिष्ठितम्॥

इस प्रकार रास नृत्य की परम्परा ब्रज में जन्मी तथा द्वारका से यह पूरे देश में फैली।

जैन धर्म से संबंध

जैन धर्म में रास का विशेष रुप से प्रचार हुआ और उसे मन्दिरों में भी किया जाने लगा, क्योंकि जैनियों के 23वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ भी द्वारका के ही यदुवंशी थे। रास उन्हें प्रसन्न करने का एक प्रधान साधन माना गया, परन्तु बाद में अश्लीलता बढ़ जाने के कारण जैन मुनियों ने इस पर प्रतिबंध लगा दिया।

प्रकार

ब्रज का रास भारत के प्राचीनतम नृत्यों में अग्रगण्य है। अतः भरतमुनि ने अपने नाटयशास्त्र में रास को रासक नाम से उप-रूपकों में रखकर इसके तीन रुपों का उल्लेख किया–

1. मंडल रासक
2. ताल रासक
3. दंडक रासक या लकुट रासक।

देश में आज जितने भी नृत्य रूप विद्यमान हैं, उन पर रास का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में पड़ा है। गुजरात का गरबा आदि तथा मणिपुर का रास

नृत्य तथा संत ज्ञानदेव के द्वारा स्थापित अंकिया नाट तो पूरी तरह रास से ही प्रभावित नृत्य व नाटय रूप है।

वर्तमान रास नृत्य

वर्तमान समय में ब्रज में जो रास नृत्य प्रचलित हैं, उन्हें दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–

1. मंच पर प्रस्तुत किए जाने वाले नृत्य,
2. लोक जीवन में विभिन्न अवसरों पर किए जाने वाले नृत्य।

आज के रास मंच को भक्ति काल में पुनर्गठित किया गया था। इस काम में वल्लभ नामक नर्तक का प्रमुख योगदान था। वल्लभ नर्तक ब्रज के संत श्रीनारायण मट्टजी का सहयोगी था और उन्हीं की प्रेरणा से उसने इन रास के नृत्यों को नवीन रस दिया था। वल्लभ का पूरा नाम ब्रज वल्लभ था, जो जयपुर राज दरबार से संबंधित था और वहाँ से अवकाश लेकर ब्रज में आ बसा था। उसने श्रीनारायण भट्टजी के सहयोग से वर्तमान रास नृत्यों को गढ़ा था। वह स्वयं भी रास में नृत्य करता था और इन नृत्यों का निर्देशक भी था। वल्लभ ने रास के नृत्यों का जो रूप दिया, वही परम्परा रास में आज भी चली आ रही है।

मूलाधार

रासलीला लोकनाटय का प्रमुख अंग है। भक्तिकाल में इसमें राधा–कृष्ण की प्रेम–क्रीड़ाओं का प्रदर्शन होता था, जिनमें आध्यात्मिकता की प्रधानता रहती थी। इनका मूलाधार सूरदास तथा अष्टछाप के कवियों के पद और भजन होते थे। उनमें संगीत और काव्य का रस तथा आनन्द, दोनों रहता था। लीलाओं में जनता धर्मोपदेश तथा मनोरंजन साथ–साथ पाती थी। इनके पात्रों–कृष्ण, राधा, गोपियों के संवादों में गम्भीरता का अभाव और प्रेमालाप का आधिक्य रहता था। कार्य की न्यूनता और संवादों का बाहुल्य होता था। इन लीलाओं में रंगमंच भी होता था, किन्तु वह स्थिर और साधारण कोटि का होता था। प्रायः रासलीला करने वाले किसी मन्दिर में अथवा किसी पवित्र स्थान या ऊँचे चबूतरे पर इसका निर्माण कर लेते थे। देखने वालों की संख्या अधिक होती थी। रास करने वालों की मण्डलियाँ भी होती थीं, जो पूना, पंजाब और पूर्वी बंगाल तक घूमा करती थी।

रीति कविता का प्रभाव

उन्नीसवीं शती में रीति-कविता के प्रभाव से रास लीलाओं की धार्मिकता, रस और संगीत को धक्का लगा। अत: उनमें न तो रस का प्रवाह रहा और न संगीत की शास्त्रीयता। उनमें केवल नृत्य, वाग्विलास, उक्ति वैचित्रयता की प्रधानता हो गई। उनका उद्देश्य केवल मनोरंजन रह गया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'श्रीचन्द्रावली नाटिका' पर रासलीला का प्रभाव है और आधुनिक काल में वियोगी हरि की 'छद्म-योगिनी नाटिका' भी रासलीला से प्रभावित है। आज भी उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों–फर्रुखाबाद, मैनपुरी, इटावा, विशेषतया मथुरा-वृन्दावन, आगरा की रासलीलाएँ प्रसिद्ध है। ये प्राय: कार्त्तिक-अगहन, वैशाख और सावन में हुआ करती हैं।

आयोजन स्थल

आज भी रासलीला रंगमंच साधारण होता है। वह प्राय: मन्दिरों की मणि पर, ऊँचे चबूतरों या ऊँचे उठाये हुए तख्तों पर बाँसों और कपड़ों से बनाया जाता है। उसमें एक परदा रहता है। पात्र परदे के पीछे से आते रहते हैं। ह्रश्यान्तर की सूचना पात्रों के चले जाने पर कोई निर्देशक देता है। रंगभूमि में गायक और वादक बैठे होते हैं और सामने प्रेक्षकों के लिए खुले आकाश का प्रेक्षागृह रहता है, कभी-कभी चाँदनी या चँदोबा भी तान दिया जाता है। वास्तविक रासलीला प्रारम्भ होने से पूर्व आई हुई जनता के मनोरंजन और आने वाली जनता के प्रतीक्षार्थ रंगभूमि में भजन-गान ढोलक, मंजीरा, हारमोनियम तथा सितार के साथ होता रहता है। लीलारम्भ से कुछ पहले सूत्रधार की भाँति एक ब्राह्मण या पुरोहित व्यवस्थापक के रूप में आता है, जो राधा-कृष्ण की दिखलाई जाने वाली लीला का निर्देश करता है और उसके पात्रों और लीला (कथा) की प्रशंसा कर प्रेक्षकों उनकी ओर आकृष्ट करता है। यह प्ररोचना और प्रस्तावना जैसा कार्य है। पश्चात् परदा उठता है और राधा-कृष्ण की युगल छवि की आरती की जाती है। आरती के समय रंगभूमि के गायकादि तथा प्रेक्षक उठ खड़े होते हैं। परदा फिर गिरता है और उसके अनन्तर निश्चित लीला का कार्यक्रम प्रारम्भ हो जाता है।

प्रस्तुतीकरण

रासलीला के पात्रों में राधा-कृष्ण तथा गोपिकाएँ रहती है। बीच-बीच में हास्य का प्रसंग भी रहता है। विदूषक के रूप में 'मनसुखा' रहता है, जो विभिन्न

गोपिकाओं के साथ प्रेम एंव हँसी की बातें करके कृष्ण के प्रति उनके अनुराग को व्यंजित करता है, साथ-ही-साथ दर्शकों का भी मनोरंजन करता है। जब कभी परदें के पीछे नेपथ्य में अभिनेताओं को वेश-विन्यास या रूप-सज्जा करने में विलम्ब होता है तो उस अवकाश के क्षणों के लिए कोई हास्य या व्यंग्यपूर्ण दो पात्रों के प्रहसन की योजना कर ली जाती है, किन्तु यह कार्य लीला से संबंधित नहीं होता। रास-कार्य सम्पन्न करने वाले रासधारी कहलाते हैं।

रासलीला

वे प्राय: बालक और युवा पुरुष होते हैं। लीला में हास्य का पुट और श्रृंगार का प्राधान्य रहता है। उसमें कृष्ण का गोपियों, सखियों के साथ अनुरागपूर्ण वृताकार नृत्य होता है। कभी कृष्ण गोपियों के कार्यों एवं चेष्टाओं का अनुकरण करते है और कभी गोपियाँ कृष्ण की रूप चेष्टादि का अनुकरण करती है और कभी राधा सखियों के, कृष्ण की रूपचेष्टाओं का अनुकरण करती है। यही लीला है।

कभी कृष्ण गोपियों के हाथ में हाथ बाँधकर नाचते है इन लीलाओं की कथावस्तु प्राय: राधा-कृष्ण की प्रेम क्रीड़ाएँ होती है, जिनमें सूरदास आदि कृष्ण भक्त कवियों के भजन गाये जाते हैं। कार्य की अधिकता नहीं, वरन पद प्रधान संवाद, सौन्दर्य, नृत्य, गीत, वेणु ध्वनि, ताल, लय, रस की अबाध धारा बहती है। रंग संकेतों के लिए पर्दे के पीछे निर्देशक रहता है, जो अभिनेताओं के भूल जाने पर संवादों के वाक्यरामलीला उत्तरी भारत में परम्परागत रूप से खेला जाने वाला राम के चरित पर आधारित नाटक है। यह प्राय: विजयादशमी के अवसर पर खेला जाता है।

इतिहास

समुद्र से लेकर हिमाचल तक प्रख्यात रामलीला का आदि प्रवर्तक कौन है, यह विवादास्पद प्रश्न है। भावुक भक्तों की दृष्टि में यह अनादि है। एक किंवदंति का संकेत है कि त्रेता युग में श्री रामचंद्र के वनगमनोपरांत अयोध्यावासियों ने चौदह वर्ष की वियोगावधि राम की बाल लीलाओं का अभिनय कर बिताई थी। तभी से इसकी परंपरा का प्रचलन हुआ। एक अन्य जनश्रुति से यह प्रमाणित होता है कि इसके आदि प्रवर्तक मेघा भगत थे, जो काशी के कतुआपुर महल्ले में स्थित फुटहे हनुमान के निकट के निवासी माने जाते हैं। एक बार पुरुषोत्तम

रामचंद्र जी ने इन्हें स्वप्न में दर्शन देकर लीला करने का आदेश दिया ताकि भक्त जनों को भगवान के चाक्षुष दर्शन हो सकें। इससे सत्प्रेरणा पाकर इन्होंने रामलीला संपन्न कराई। तत्परिणामस्वरूप ठीक भरत मिलाप के मंगल अवसर पर आराध्य देव ने अपनी झलक देकर इनकी कामना पूर्ण की। कुछ लोगों के मतानुसार रामलीला की अभिनय परंपरा के प्रतिष्ठापक गोस्वामी तुलसीदास हैं, इन्होंने हिंदी में जन मनोरंजनकारी नाटकों का अभाव पाकर इसका श्रीगणेश किया। इनकी प्रेरणा से अयोध्या और काशी के तुलसी घाट पर प्रथम बार रामलीला हुई थी।

रामलीला के प्रकार

रंगमंचीय दृष्टि से रामलीला तीन प्रकार की हैं - सचल लीला, अचल लीला तथा स्टेज लीला। काशी नगरी के चार स्थानों में अचल लीलाएँ होती हैं। गो. तुलसीदास द्वारा स्थापित रंगमंच की कई विशेषताओं में से एक यह भी है कि स्वाभाविकता, प्रभावोत्पादकता और मनोहरता की सृष्टि के लिए, अयोध्या, जनकपुर, चित्रकूट, लंका आदि अलग-अलग स्थान बना दिए गए थे और एक स्थान पर उसी से संबंधित सब लीलाएँ दिखाई जाती थी। यह ज्ञातव्य है कि रंगशाला खुली होती थी और पात्रों को संवाद जोड़ने घटाने में स्वतंत्रता थी। इस तरह हिंदी रंगमंच की प्रतिष्ठा का श्रेय गो. तुलसीदास को और इनके कार्यक्षेत्र काशी को प्राप्त है।

गोपीगंज आदि में भरतमिलाप के दिन विमान तथा लागें निकाली जाती हैं। इलाहाबाद के दशहरे के अवसर पर रामलीला के सिलसिले में जो विमान और चौकियाँ निकलती है, उनका दृश्य बड़ा भव्य होता है।

रामलीला के कलाकार

लीला के पात्र, किशोर, युवा, प्रौढ़ सभी होते हैं। सीता या सखियों की भूमिका आज तक किशोर द्वारा ही संपन्न होता है। रामलीला के सभी अभिनेता प्रायः ब्राह्मण होते हैं, किंतु अब कहीं-कहीं अन्य वर्णों के भी लोग देखे जाते हैं। पात्रों का चुनाव करते समय रावण की कायिक विराटता, सीता की प्रकृतिगत कोमलता और वाणीगत मृदुता, शूर्पणखा की शारीरिक लंबाई आदि पर विशेष ध्यान रखा जाता है। लीलाभिनेता चौपाइयों, दोहों को कंठस्थ किए रहते हैं और यथावसर कथोपकथनों में उपयोग कर देते हैं।

रामलीला की सफलता उसका संचालन करने वाले व्यास सूत्रघार पर निर्भर करती है, क्योंकि वह संवादों की गत्यात्मकता तथा अभिनेताओं को निर्देश देता है। साथ ही रंगमंचीय व्यवस्था पर भी पूरा ध्यान रखता है। रामलीला के प्रारंभ में एक निश्चित विधि स्वीकृत है। स्थान-काल-भेद के कारण विधियों में अंतर लक्षित होता है। कहीं भगवान के मुकुटों के पूजन से तो कहीं अन्य विधान से होता है। इसमें एक ओर पात्रों द्वारा रूप और अवस्थाओं का प्रस्तुतीकरण होता है, दूसरी ओर समवेत स्वर में मानस का परायण नारद-बानी-शैली में होता चलता है। लीला के अंत में आरती होती है।

काशी में शूर्पणखा की नाक काटे जाने के बाद खर-दूषण की सेना का जो जुलूस निकलता है उसमें जगमग करते हुए विमान तथा तरह-तरह की लागें निकलती हैं, जिनमें धार्मिक, सामाजिक दृश्यों, घटनाओं की मनोरम झाकियाँ रहती हैं। साथ में काली का वेश धारण किए हुए पुरुषों का तलवार संचालन, पैतरेवाजी, शस्त्रकौशल आदि देखने लायक होता है।

रामलीला में नृत्य, संगीत की प्रधानता नहीं होती, क्योंकि चरितनायक गंभीर, वीर, धीर, शालीन एवं मर्यादाप्रिय पुरुषोत्तम हैं। परिणामस्वरूप वातावरण में विशेष प्रकार की गंभीरता विराजती रहती है। इस लीला की पहले मंडली नहीं होती थी अब कुछ पेशेवर लोग मंडलियाँ बनाकर लीलाभिनय से अर्थोपार्जन करते हैं। भारत के ग्वालियर, जयपुर, इलाहाबाद आदि नगरों में इसका मूक अभिनय (dumbshows) होता है।

पूर्वी उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में सलेमपुर की 'सांस्कृतिक संगम' संस्था द्वारा रामायण का मंचन एक नए आयाम में प्रस्तुत किया गया है। इस संस्था का उद्देश्य आजकल रामायण, या रामलीला के नाम से मात्र कमाई का माध्यम बनाने में भाषा की शुद्धता पर ध्यान कम देकर, अश्लीलता का प्रयोग कर समाज को भ्रमित करने वालों के विरुद्ध एक अभियान की तरह कार्य आरम्भ कर आस-पास के क्षेत्रों में ख्याति प्राप्त की है। यह संस्था 'रामलीला' शब्द का प्रयोग न कर रामायण मंचन के नाम से प्रस्तुति देती है, ताकि इसमें अच्छे कुलीन घर के लोग, स्त्री एवं पुरुष, दूरदर्शन व सिने कलाकार भी सम्मिलित होकर यह पुनीत कार्य कर सके। इसमें 60 कलाकार भाग लेते हैं। गायक मंडली के साथ प्रकाश एवं ध्वनि की व्यवस्था साथ लिए सोनपुर के मेले में भी विगत दो वर्षों से मेले में आकर्षण के केंद्र बने।

दर्शकों को अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारों फलों की प्राप्ति होती है। रामलीला देखने से भारतेंदु हरिश्चंद्र के हृदय से रामलीला गान की उत्कंठा जगी। परिणामतः हिंदी साहित्य को 'रामलीला' नामक चंपू की रचना मिली।

प्रसिद्ध रामलीला-स्थल

रामलीला का मूलाधार गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' है, श्री राधेश्याम कथावाचक द्वारा रचित रामायण को भी कहीं-कहीं यह गौरव प्राप्त है। ऐसे काशी की सभी रामलीला में गोस्वामी जी विरचित 'मानस' ही प्रतिष्ठित है। इस लोक आयोजन के लिए वर्ष भर दो माह ही अधिक उपयुक्त माने गए हैं - आश्विन और कार्तिक। ऐसे इसका प्रदर्शन कभी भी और कहीं भी किया जा सकता है। काशी के रामनगर की लीला भाद्रपद शुक्ल चौदह को प्रारंभ होकर शरतपूर्णिमा को पूर्णता प्राप्त करती है और नक्खीघाट की शिवरात्रि से चौत्र अमावस्या अर्थात् 33 दिनों तक चलती है। गोस्वामी तुलसीदास अयोध्या में प्रतिवर्ष रामनवमी के उपलक्ष्य में इसका आयोजन कराते थे। कहीं दिन के अपराह्न काल में और कहीं रात्रि के पूर्वार्ध में इसका प्रदर्शन होता था।

काशी के रामनगर की रामलीला काशी नरेश के सामने होती है। इसकी समाप्ति रावण के पुतले के दहन के साथ होती है।

लोकनायक राम की लीला भारत के अनेक क्षेत्रों में होती है। भारत के बाहर के भूखंडों जैसे बाली, जावा, श्री लंका आदि में प्राचीन काल से यह किसी न किसी रूप में प्रचलित रही है। जिस तरह श्रीकृष्ण की रासलीला का प्रधान केंद्र उनकी लीलाभूमि वृंदावन है, उसी तरह रामलीला का स्थल है काशी और अयोध्या। मिथिला, मथुरा, आगरा, अलीगढ़, एटा, इटावा, कानपुर, काशी आदि नगरों या क्षेत्रों में आश्विन माह में अवश्य ही आयोजित होती है, लेकिन एक साथ जितनी लीलाएँ नटराज की क्रीड़ाभूमि वाराणसी में होती है, उतनी भारत में अन्यत्र कहीं नहीं। इस दृष्टि से काशी इस दिशा में नेतृत्व करती प्रतीत होती है। राजस्थान और मालवा आदि भू-भागों में यह चैत्रमास में ससमारोह संपन्न होती है। वीर, करुण, अद्‌भुत, शृंगार आदि रसों से आप्लावित रामलीला अपना रंगमंच संकीर्ण नहीं वरन् उन्मुक्त, विराट, प्रशस्त स्वीकार करती है। कहीं भी किसी मैदान में बाँसों, रस्सियों तारों आदि से घेरकर रंगमंच और प्रेक्षागृह का सहज ही निर्माण कर लिया जाता है।

दिल्ली की रामलीला

दिल्ली में रामलीलाओं का इतिहास बहुत पुराना है। दिल्ली में, सबसे पहली रामलीला बहादुरशाह जफर के समय पुरानी दिल्ली के रामलीला मैदान में हुई थी। लवकुश रामलीला कमेटी, अशोक विहार रामलीला, कमेटी आदि दिल्ली की प्राचीन रामलीलाओं में से हैं। राम भारतीय कला केन्द्र द्वारा रामलीला का मंचन तीन घंटों में दर्शाया जाता है। यहाँ की रामलीला में पात्रों की वेशभूषा दर्शनीय है। इनके अतिरिक्त दिलशाद गार्डन रामलीला, दिल्ली छावनी की रघुनन्दन लीला समिति मयूर यूथ क्लब, मयूर विहार–1 रामलीला, सूरजमल विहार रामलीला आदि भी दिल्ली की चर्चित रामलीलाओं में से हैं।

रामलीलाओं में छम्मिलाल ढोंढियाल द्वारा लिखित 'रामलीला' पुस्तक बहुत प्रचलित पुस्तक है। अधिकतर रामलीलाएँ इसी पुस्तक पर आधारित हैं। य यह भजन एंव पद की पंक्ति, स्मरण करा देता है। लीला में अभिनय कम, संलाप अधिक रहता है। कृष्ण धीर ललित नायक होते हैं, जो समस्त कलाओं के अवतार माने जाते हैं। राधा उनकी अनुरंजक शक्ति के रूप में दिखाई जाती है। वहीं समस्त गुणों एवं कलाओं की खान नायिका बनती है। गोपियाँ, सखियाँ–सभी यौवना और भावप्रगल्भा होती है। उनमें शोभा, विलास, माधुर्य, कान्ति, दीप्ति, विलास, विच्छित, प्रागल्भ्य, औदार्य, लीला, हाव, हेला, भाव आदि सभी अलंकार होते हैं।

समापन

रासलीला के अन्त में युगल छवि की पुनः आरती होती है। इस बार प्रेक्षक जनता भी आरती लेती है और आरती के थाल में पैसे–रुपए के रूप में भेंट चढ़ाती है। इस बार आरती के बाद लीला के विषय में मंगल कामना की जाती है। यह एक प्रकार का भरत वाक्य है। पश्चात् लीला का कार्यक्रम समाप्त हो जाता है और पटाक्षेप हो जाता है। रासलीला हल्लीश, श्रीगदित, काव्य, गोष्टी, नाट्यरासक का ही लोकाश्रय द्वारा परिवर्तित नाटयरूप है। आस्थावान व्यक्ति रासलीला का अपनी मान्यता के अनुसार भाष्य करते हैं। श्रीकृष्ण परमब्रह्म हैं, राधा और गोपियाँ जीव आत्माएँ, रासलीला परमात्मा और जीवात्मा का सम्मिलन है। जो लोक में भी राधा तथा अन्य सखियों के साथ कृष्ण नित्य रासलीला में लगे रहते हैं।

कठपुतली नाट्य

कठपुतली का खेल अत्यंत प्राचीन नाटकीय खेल है, जो समस्त सभ्य संसार में-प्रशांत महासागर के पश्चिमी तट से पूर्वी तट तक-व्यापक रूप प्रचलित रहा है। यह खेल गुड़ियों अथवा पुतलियों (पुत्तलिकाओं) द्वारा खेला जाता है। गुड़ियों के नर मादा रूपों द्वारा जीवन के अनेक प्रसंगों की, विभिन्न विधियों से, इसमें अभिव्यक्ति की जाती है और जीवन को नाटकीय विधि से मंच पर प्रस्तुत किया जाता है।

कठपुतलियाँ या तो लकड़ी की होती हैं या पेरिस-प्लास्टर की या कागज की लुग्दी की। उसके शरीर के भाग इस प्रकार जोड़े जाते हैं कि उनसे बँधी डोर खींचने पर वे अलग-अलग हिल सकें।

इतिहास

कठपुतली का इतिहास बहुत पुराना है। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में पाणिनी की अष्टाध्यायी में नटसूत्र में पुतला नाटक का उल्लेख मिलता है। कुछ लोग कठपुतली के जन्म को लेकर पौराणिक आख्यान का जिक्र करते हैं कि शिवजी ने काठ की मूर्ति में प्रवेश कर पार्वती का मन बहलाकर इस कला की शुरुआत की थी। कहानी 'सिंहासन बत्तीसी' में भी विक्रमादित्य के सिंहासन की बत्तीस पुतलियों का उल्लेख है। सतवद्धर्धन काल में भारत से पूर्वी एशिया के देशों इंडोनेशिया, थाईलैंड, म्यांमार, जावा, श्रीलंका आदि में इसका विस्तार हुआ। आज यह कला चीन, रूस, रूमानिया, इंग्लैंड, चेकोस्लोवाकिया, अमेरिका व जापान आदि अनेक देशों में पहुँच चुकी है। इन देशों में इस विधा का सम-सामयिक प्रयोग कर इसे बहुआयामी रूप प्रदान किया गया है। वहाँ कठपुतली मनोरंजन के अलावा शिक्षा, विज्ञापन आदि अनेक क्षेत्रों में इस्तेमाल किया जा रहा है।

भारत में पारंपरिक पुतली नाटकों की कथावस्तु में पौराणिक साहित्य, लोककथाएँ और किवदंतियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। पहले अमर सिंह राठौड़, पृथ्वीराज, हीर-रांझा, लैला-मजनूं और शीरी-फरहाद की कथाएँ ही कठपुतली खेल में दिखाई जाती थी, लेकिन अब साम-सामयिक विषयों, महिला शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, परिवार नियोजन के साथ-साथ हास्य-व्यंग्य, ज्ञानवर्द्धक व अन्य मनोरंजक कार्यक्रम दिखाए जाने लगे हैं।

कठपुतलियों का इस्तेमाल सम्प्रेषण के लिए काफी पहले से हो रहा है। हमारे देश में तो यह कला लगभग दो हजार वर्ष पुरानी है। पहले नाटकों को प्रस्तुत

करने का एक मात्र माध्यम कठपुतलियाँ ही थीं। आज तो हमारे पास आधुनिक तकनीक वाले कई माध्यम रेडियो, टी.वी, आधुनिक तकनीकी सुविधाओं वाली रंगशालाएँ, मंच सभी कुछ है, लेकिन पहले या तो लोक परंपराओं की नाटय शैलियाँ थीं या फिर कठपुतलियाँ।

भारतीय संस्कृति

भारत की संस्कृति बहुआयामी है, जिसमें भारत का महान् इतिहास, विलक्षण भूगोल और सिन्धु घाटी की सभ्यता के दौरान बनी और आगे चलकर वैदिक युग में विकसित हुई, भारत में 'कोया संस्कृति' स्वर्ण युग फली-फूली अपनी खुद की प्राचीन गोंडवाना विरासत शामिल हैं। इसके साथ ही पड़ोसी देशों के रिवाज, परम्पराओं और विचारों का भी इसमें समावेश नहीं है। खुद के भाषा, बोली, लिपि, तीज, त्यौहार, नृत्य, गीत, इतिहास पिछली सहस्राब्दियों से अधिक समय से भारत के रीति-रिवाज, भाषाएँ, प्रथाएँ और परंपराएँ इसके एक-दूसरे से परस्पर संबंधों में महान् विविधताओं का एक अद्वितीय उदाहरण देती हैं। भारत कई धार्मिक प्रणालियों, जैसे कि हिन्दू धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म और सिख धर्म जैसे धर्मों का जनक है। इस मिश्रण से भारत में उत्पन्न हुए विभिन्न धर्म और परम्पराओं ने विश्व के अलग-अलग हिस्सों को भी बहुत प्रभावित किया है।

गोंडवाना समुदाय विश्व का सबसे प्राचीन समुदाय में से एक है,प्रथ्वी के शुआवाती दौर में गोंडवाना लैंड और लॉरेशिया भू-भाग के बारे में हम भली भांति परिचित है। इस गोंडवाना भू भाग की कोया संस्कृति जो गोंडी धर्म, (प्रकृतिवादी,प्रकृति पूजक) को मानने वाले गोंड जनजाति के लोग निवास करते हैं, आज भी भारत में इस संस्कृति को व्याप्त करने वाले चिन्ह 'गज पर सवार सिंह', 'सल्ले गांगरा' 'गोंडवाना राज्य चिन्ह' मौजूद है।

भारतीय संस्कृति का महत्त्व

भारतीय संस्कृति विश्व के इतिहास में कई दृष्टियों से विशेष महत्त्व रखती है। यह संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। भारतीय संस्कृति कर्म प्रधान संस्कृति है। मोहनजोदड़ो की खुदाई के बाद से यह मिस्र, मेसोपोटेमिया की सबसे पुरानी सभ्यताओं के समकालीन समझी जाने लगी है।

प्राचीनता के साथ इसकी दूसरी विशेषता अमरता है। चीनी संस्कृति के अतिरिक्त पुरानी दुनिया की अन्य सभी-मेसोपोटेमिया की सुमेरियन, असीरियन,

बेबीलोनियन और खाल्दी प्रभृति तथा मिस्र ईरान, यूनान और रोम की संस्कृतियाँ काल के कराल-गाल में समा चुकी हैं, कुछ ध्वंसावशेष ही उनकी गौरव-गाथा गाने के लिए बचे हैं, किन्तु भारतीय संस्कृति कई हजार वर्ष तक काल के क्रूर थपेड़ों को खाती हुई आज तक जीवित है।

उसकी तीसरी विशेषता उसका जगद्गुरु होना है। उसे इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसने न केवल महाद्वीप-सरीखे भारतवर्ष को सभ्यता का पाठ पढ़ाया, अपितु भारत के बाहर बड़े हिस्से की जंगली जातियों को सभ्य बनाया, साइबेरिया के सिंहल (श्रीलंका) तक और मैडीगास्कर टापू, ईरान तथा अफगानिस्तान से प्रशांत महासागर के बोर्नियो, बाली के द्वीपों तक के विशाल भू-खण्डों पर अपनी अमिट प्रभाव छोड़ा।

सर्वांगीणता, विशालता, उदारता, प्रेम और सहिष्णुता की दृष्टि से अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा अग्रणी स्थान रखती है।

भाषा

भारत में बोली जाने वाली भाषाओँ की बड़ी संख्या ने यहाँ की संस्कृति और पारंपरिक विविधता को बढ़ाया है। 1000 (यदि आप प्रादेशिक बोलियों और प्रादेशिक शब्दों को गिनें तो, जबकि यदि आप उन्हें नहीं गिनते हैं तो ये संख्या घट कर 216 रह जाती है) भाषाएँ ऐसी हैं, जिन्हें 10,000 से ज्यादा लोगों के समूह द्वारा बोला जाता है, जबकि कई ऐसी भाषाएँ भी हैं। जिन्हें 10,000 से कम लोग ही बोलते है। भारत में कुल मिलाकर 415 भाषाएँ उपयोग में हैं।

भारतीय संविधान ने संघ सरकार के संचार के लिए हिंदी और अंग्रेजी, इन दो भाषाओं के इस्तेमाल को आधिकारिक भाषा घोषित किया है। व्यक्तिगत राज्यों के उनके अपने आतंरिक संचार के लिए उनकी अपनी राज्य भाषा का इस्तेमाल किया जाता है। भारत में दो प्रमुख भाषा संबंधी परिवार हैं - भारतीय-आर्य भाषाएँ और द्रविण भाषाएँ, इनमें से पहला भाषा के परिवार मुख्यत: भारत के उत्तरी, पश्चिमी, मध्य और पूर्वी क्षेत्रों के फैला हुआ है, जबकि दूसरा भाषा परिवार भारत के दक्षिणी भाग में भारत का अगला सबसे बड़ा भाषा परिवार है। एस्ट्रो-एशियाई भाषा समूह, जिसमें शामिल हैं भारत के मध्य और पूर्व में बोली जाने वाली मुंडा भाषाएँ, उत्तरपूर्व में बोली जाने वाली खासी भाषाएँ और निकोबार द्वीप में बोली जाने वाली निकोबारी भाषाएँ। भारत का चौथा सबसे बड़ा भाषा परिवार है तिब्बती-बर्मन भाषा परिवार, का परिवार जो अपने आप में चीनी- तिब्बती भाषा परिवार का एक उपसमूह है।

धर्म

धर्म	जनसंख्या	प्रतिशत
सभी धर्म	1,028,610,328	100.00 प्रतिशत
हिन्दू	827,578,868	80.456 प्रतिशत
मुसलमान	138,188,240	13.434 प्रतिशत
ईसाई	24,080,016	2.341 प्रतिशत
सिख	19,215,730	1.868 प्रतिशत
बौद्ध	7,955,207	0.773 प्रतिशत
जैन	4,225,053	0.411 प्रतिशत
अन्य	6,639,626	0.6454 प्रतिशत
धर्म नहीं कहा	727,588	0.07 प्रतिशत

अब्राहमिक के बाद भारतीय धर्म विश्व के धर्मों में प्रमुख है, जिसमें हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, सिख धर्म, जैन धर्म, (मुस्लिम धर्म) आदि जैसे धर्म शामिल हैं। आज, हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म क्रमशः दुनिया में तीसरे और चौथे सबसे बड़े धर्म हैं, जिनमें लगभग 1.4 अरब अनुयायी हैं।

विश्व भर में भारत में धर्मों में विभिन्नता सबसे ज्यादा है, जिनमें कुछ सबसे कट्टर धार्मिक संस्थाएँ और संस्कृतियाँ शामिल हैं। आज भी धर्म यहाँ के ज्यादा-से-ज्यादा लोगों के बीच मुख्य और निश्चित भूमिका निभाता है।

80.4 प्रतिशत से ज्यादा लोगों का धर्म हिन्दू धर्म है। कुल भारतीय जनसँख्या का 13.4 प्रतिशत हिस्सा इस्लाम धर्म को मानता है सिख धर्म, जैन धर्म और खासकर के बौद्ध धर्म का केवल भारत में नहीं, बल्कि पुरे विश्व भर में प्रभाव है ईसाई धर्म, पारसी धर्म, यहूदी और बहाई धर्म भी प्रभावशाली हैं, लेकिन उनकी संख्या कम है। भारतीय जीवन में धर्म की मजबूत भूमिका के बावजूद नास्तिकता और अज्ञेयवादियों (agnostic) का भी प्रभाव दिखाई देता है।

समाज

समीक्षा

यूजीन एम. मकर के अनुसार, भारतीय पारंपरिक संस्कृति अपेक्षाकृत कठोर सामाजिक पदानुक्रम द्वारा परिभाषित किया गया है, उन्होंने यह भी कहा कि

बच्चों को छोटी उम्र में ही उनकी भूमिकाओं और समाज में उनके स्थान के बारे में बताते रहा जाता है, उनको इस बात से और बल मिलता है की और इसका मतलब यह है कि बहुत से लोग इस बात को मानते हैं की उनकी जीवन को निर्धारण करने में देवताओं और आत्माओं की ही पूरी भूमिका होती है। धर्म विभाजित संस्कृति जैसे कई मतभेद जबकि, इनसे कहीं ज्यादा शक्तिशाली विभाजन है हिन्दू परंपरा में मान्य अप्रदूषित और प्रदूषित व्यवसायों का सख्त सामाजिक अमान्य लोग इन हजारों लोगों के समूह को नियंत्रित करते हैं। हाल के वर्षों, खासकर शहरों में, इनमें से कुछ श्रेणी धुंधली पड़ गई हैं और कुछ घायब हो गई हैं एकल परिवार भारतीय संस्कृति के लिए केंद्रीय है। महत्त्वपूर्ण पारिवारिक संबंध उतनी दूर तक होते हैं जहाँ तक समान गोत्र (हवजतं) के सदस्य हैं, गोत्र हिन्दू धर्म के अनुसार पैतृक यानि पिता की ओर से मिले कुटुंब या पंथ के अनुसार निर्धारित होता है, जो की जन्म के साथ ही तय हो जाता है, ग्रामीण क्षेत्रों में, परिवार के तीन या चार पीढ़ियों का एक ही छत के नीचे रहना आम बात है वंश या धर्म प्रधान प्रायः परिवार के मुद्दों को हल करता है।

विकासशील देशों में, भारत अपनी निम्न स्तर की भौगोलिक और व्यावसायिक गतिशीलता की वजह से बृहद रूप से दर्शनीय है यहाँ के लोग कुछ ऐसे व्यवसाय को चुनते हैं, जो उनके माता-पिता पहले से करते आ रहे हैं और कभी-कभार भौगोलिक रूप से वो अपने समाज से दूर जाते हैं

जाति व्यवस्था

संख्या के अनुसार जातियों के विभाजन को प्रदार्षित करता हुआ विवरणपट एस सी अनुसूचित जातियों (Scheduled castes) के और एस टी अनुसूचित जनजातियों के सन्दर्भ में कहा जाता है।

भारतीय पारंपरिक संस्कृति अपेक्षाकृत कठोर सामाजिक पदानुक्रम द्वारा परिभाषित किया गया है भारतीय जाति प्रथा भारतीय उपमहाद्वीप (Indian subcontinent) में सामाजिक वर्गीकरण (social stratification) और सामाजिक प्रतिबंधों का वर्णन करती हैं, इस प्रथा में समाज के विभिन्न वर्ग हजारों सजातीय विवाह और आनुवाशिकीय समूहों के रूप में पारिभाषित किए जाते हैं, जिन्हें प्रायः 'जाति' के नाम से जाना जाता है। इन जातियों के बीच विजातीय समूह भी मौजूद है, इन समूहों को गोत्र के रूप में जाना जाता है। गोत्र, किसी व्यक्ति को अपने कुटुम्भ द्वारा मिली एक वंशावली की पहचान है, यद्यपि कुछ उपजातियाँ जैसे

की शकाद्विपी ऐसी भी हैं, जिनके बीच एक ही गोत्र में विवाह स्वीकार्य है, इन उपजातियों में प्रतिबंधित सजातीय विवाह जानी एक जाति के बीच विवाह को प्रतिबंद्धित करने के लिए कुछ अन्य तरीकों को अपनाया जाता है (उदाहरण के लिए-एक ही उपनाम वाले वंशों के बीच विवाह पर प्रतिबन्ध लगाना)

भले ही जाति व्यवस्था को मुख्यत: हिन्दू धर्म के साथ जोड़कर पहचाना जाता है, लेकिन भारतीय उपमहाद्वीप में अन्य कई धर्म जैसे की मुसलमान और ईसाई धर्म के कुछ समूहों में भी इस तरह की व्यवस्था देखी गई है। भारतीय संविधान ने समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता लोकतंत्र जैसे सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए जाति के ऊपर आधारित भेदभावों को गौर-कानूनी घोषित कर दिया है। बड़े शहरों में ज्यादातर इन जाति बंधनों को तोड़ दिया गया है, हालाँकि ये आज भी देश के ग्रामीण क्षेत्रों में विद्यमान है फिर भी, आधुनिक भारत में, जाति व्यवस्था, जाति के आधार पर बांटे जाने वाली राजनीति और अलग-अलग तरीके की सामाजिक धारणाओं जैसे कई रूप में जीवित भी है और प्रबल भी होता जा रहा है।

सामान्य शब्दों में, जाति के आधार पर पाँच प्रमुख विभाजन हैं–

ब्राह्मण - 'विद्वान समुदाय,' जिनमें याजक, विद्वान, विधि विशेषज्ञ, मंत्री और राजनयिक शामिल हैं।

क्षत्रिय - 'उच्च और निम्न मान्यवर या सरदार' जिनमें राजा, उच्चपद के लोग, सैनिक और प्रशासक को शामिल है।

वैश्य - 'व्यापारी और कारीगर समुदाय' जिनमें सौदागर, दुकानदार, व्यापारी और खेत के मालिक शामिल है।

शूद्र - 'सेवक या सेवा प्रदान करने वाली प्रजाति' में अधिकतर गैर-प्रदूषित कार्यो में लगे शारीरिक और कृषक श्रमिक शामिल हैं।

इसके भी नीचे एक दलित समाज है, जिसे हिन्दू शास्त्रों और हिन्दू कानून के अनुसार को अछूत (दलित) के रूप में जाना जाता है, हालाँकि इस प्रणाली को भारतीय संविधान के कानून के जरिए अब गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया है।

ब्राह्मण वर्ण स्वयं को हिंदू धर्म के चारों वर्णों में सर्वोच्च स्थान पर काबिज होने का दावा करता है। दलित शब्द उन लोगों के समूह के लिए एक पदनाम है, जिनको हिन्दू धर्म एवं सवर्ण हिन्दूओं द्वारा अछूत या नीची जाति का माना जाता है। स्वतंत्र भारत में जातिवाद से प्रेरित हिंसा और घृणा अपराध को बहुत ज्यादा देखा गया।

परिवार

भारतीय समाज सदियों से तयशुदा शादियों की परंपरा रही है। आज भी भारतीय लोगों का एक बड़ा हिस्सा अपने माता-पिता या अन्य सम्माननीय पारिवारिक सदस्यों द्वारा तय की गई शादियाँ ही करता है, जिसमें दूल्हा-दुल्हन की सहमति भी होती है। तयशुदा शादियाँ कई चीजों का मेल कराने के आधार पर उन्हीं को ध्यान में रखकर निर्धारित की जाती हैं। जैसे कि उम्र, ऊँचाई, व्यक्तिगत मूल्य और पसंद, साथ ही उनके परिवारों की पृष्ठभूमि (धन, समाज में स्थान) और उनकी जाति (caste) के साथ-साथ युगल की कुन्दलिनीय (horoscopes) अनुकूलता

भारत में शादियों को जीवन भर के लिए माना जाता है। और यहाँ तलाक की दर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की 50 प्रतिशत की तुलना में मात्र 1.1 प्रतिशत है। तयशुदा शादियों में तलाक की दर और भी कम होती है। हाल के वर्षों में तलाकदर में काफी वृद्धि हो रही है–

इस बात पर अलग-अलग राय है कि इसका मतलब क्या है– पारंपरिक लोगों के लिए ये बढती हुई संख्या समाज के विघटन को प्रदर्शित करती है, जबकि आधुनिक लोगों के अनुसार इससे ये बात पता चलती है कि समाज में महिलाओं का एक नया और स्वस्थ सशक्तिकरण हो रहा है।

हालाँकि, बाल विवाह (child marriage) को 1860 में ही गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया था, लेकिन भारत के कुछ हिस्सों में ये प्रथा आज भी जारी है यूनिसेफ द्वारा संसार के बच्चों की दशा के बारे में जारी रिपोर्ट 'स्टेट ऑफ द वर्ल्ड चिल्ड्रेन -2009' में 47 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों में भारतीय महिलाएँ जो कि 20-24 साल की होंगी उनकी शादी को विवाह के लिए वैध 18 साल की उम्र से पहले ही कर दी जाती हैं। रिपोर्ट यह भी दिखाती है कि विश्व में 40 प्रतिशत होने वाले बाल विवाह अकेले भारत में ही होते हैं

भारतीय नाम (Indian name) भिन्न प्रकार की प्रणालियों और नामकरण प्रथा (naming conventions) पर होती हैं, जो की अलग-अलग शेत्रों के अनुसार बदलती रहती हैं। नाम भी धर्म और जाति से प्रभावित होती हैं और वो धर्म या महाकाव्यों से लिए जा सकते हैं। भारत की आबादी अनेक प्रकार की भाषाएँ बोलती हैं

समाज में नारी की भूमिका अक्सर घर के काम-काज को करने की और समुदायों की निः स्वार्थ सेवा करने का काम होता है महिलाओं और महिलाओं

के मुद्दों समाचारों में केवल 7–14 प्रतिशत ही दिखाई देते हैं। अधिकांश भारतीय परिवारों में, महिलाओं को उनके नाम पर संपत्ति नहीं मिलती है और उन्हें पैतृक संपत्ति का एक हिस्सा भी नहीं मिलता है। कानून को लागू करने में कमजोरी के कारण, महिलाएँ आज भी जमीन के छोटे से टुकड़े और बहुत कम धन में प्राप्त होता है। कई परिवारों में, विशेष रूप से ग्रामीण लोगों मे, लड़कियों और महिलाओं को परिवार के भीतर पोषण भेद–भाव का सामना करना पड़ता है और इसी वजह से उनमें खून की कमी की शिकायत रहती है साथ–साथ वो कुपोषित भी होती हैं। रंगोली (या कोलम) एक परंपरागत कला है, जो कि भारतीय महिलाओं में बहुत लोकप्रिय है। लोकप्रिय महिला पत्रिकाएं जिनमें फेमिना (Femina) गृहशोभा (Grihshobha), वनिता (vanita), वूमेनस एरा, आदि शामिल हैं

पशु

आज भी हिन्दू बहुसंख्यक देशों जैसे भारत और नेपाल में गाय के दूध का धार्मिक रस्मों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। समाज में अपने इसी ऊंचे स्थान की वजह से गायें भारत के बड़े बड़े शहरों जैसे कि दिल्ली में भी व्यस्त सड़कों के पर खुले आम घूमती हैं। कुछ जगहों पर सुबह के नाश्ते के पहले इन्हें एक भोग लगाना शुभ या सौभाग्यवर्धक माना जाता है। जिन जगहों पर गोहत्या एक अपराध है, वहां किसी नागरिक को गाय को मार डालने या उसे चोट पहुँचाने के लिए जेल भी हो सकती है।

गाय को खाने के विरुद्ध आदेश में एक प्रणाली विकसित हुई, जिसमें सिर्फ एक जातिच्युत मनुष्य (pariah) को मृत गायों को भोजन के रूप में दिया जाता था और सिर्फ वही उनके चमड़े (leather) को निकाल सकते थे। सिर्फ दो राज्यों पश्चिम बंगाल और केरल के अतिरिक्त हर प्रान्त में गोहत्या निषिद्ध है। हालाँकि गाय के वध के उद्देश्य से उन्हें इन राज्यों में ले जाना अवैध है, लेकिन गायों को नियमित रूप से जहाज में सवार कर इन राज्यों में ले जाया जाता है। 'गाय हमारी माता है' ऐसा विभिन्न जगह कहा जाता है, खास कर बुंदेलखण्ड की तरफ।

परम्परा एवं रीति

नमस्ते या नमस्कार या नमस्कारम् भारतीय उपमहाद्वीप में अभिनन्दन या अभिवादन करने के सामान्य तरीके हैं। यद्यपि नमस्कार को नमस्ते की तुलना में ज्यादा औपचारिक माना जाता है, दोनों ही गहरे सम्मान के सूचक शब्द हैं। आम

तौर पर इसे भारत और नेपाल में हिन्दू, जैन और बौद्ध लोग प्रयोग करते हैं, कई लोग इसे भारतीय उपमहाद्वीप के बाहर भी प्रयोग करते हैं। भारतीय और नेपाली संस्कृति में ये शब्द लिखित या मौखिक बोलचाल की शुरुआत में प्रयोग किया जाता है। हालाँकि विदा होते समय भी हाथ जोड़े हुए यही मुद्रा बिना कुछ कहे बनायी जाती है। योग में, योग गुरु और योग शिष्यों द्वारा बोले जाने वाली बात के आधार पर नमस्ते का मतलब 'मेरे भीतर की रोशनी तुम्हारे अन्दर की रोशनी का सत्कार करती है होता है

त्यौहार

भारत एक बहु सांस्कृतिक और बहु धार्मिक समाज होने के कारण विभिन्न धर्मो के त्योहारों और छुट्टियों को मनाता है। भारत में तीन राष्ट्रीय अवकाश (national holidays in India) है, स्वतंत्रता दिवस, गणतंत्र दिवस और गांधी जयंती (Gandhi Jayanti) और इन तीनो को हर्षो उल्लास के साथ मनाया जाता है। इसके अलावा, कई राज्यों और क्षेत्रों में वहाँ के मुख्य धर्म और भाषागत जनसांख्यिकी पर आधारित स्थानीय त्यौहार हैं। लोकप्रिय धार्मिक त्यौहार में शामिल हैं हिन्दुओं का दिवाली, गणेश चतुर्थी (Ganesh Chaturthi), होली, नवरात्रि, रक्षाबंधन (Rakshabandhan) और दशहरा (Dussehra). कई खेती त्यौहार (harvest festival) जैसे की संक्रांति (Sankranthi), पोंगल (Pongal) और ओणम (Onam) भी काफी लोकप्रिय त्यौहार है कुम्भ का मेला (Kumb Mela) हर 12 साल के बाद 4 अलग-अलग स्थानों पर मनाया जाने वाला एक बहुत बड़ा सामूहिक तीर्थ यात्र उत्सव है, जिसमें करोंडों हिन्दू हिस्सा लेते हैं भारत में कुछ त्यौहारों कई धर्मो द्वारा मनाया जाता है। इसके उल्लेखनीय उदाहरण हैं हिन्दुओं, सिखों और जैन समुदाय के लोगों द्वारा मनाई जाने वाली दिवाली और बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म के लोगों द्वारा मनाई जाने वाली बुद्ध पूर्णिमा (Buddh Purnima) . इस्लामी त्यौहार जैसे की ईद-उल-फित्र, ईद -उल-अधा (Eid al-Adha) और रमजान (Ramadan) भी पूरे भारत के मुसलामानों द्वारा मनाये जाते हैं।

भोजन

भातीय व्यंजनों में से ज्यादातर में मसालों और जड़ी बूटियों का परिष्कृत और तीव्र प्रयोग होता है। इन व्यंजनों के हर प्रकार में पकवानों का एक

अच्छा–खासा विन्यास और पकाने के कई तरीकों का प्रयोग होता है यद्यपि पारंपरिक भारितीय भोजन का महत्त्वपूर्ण हिस्सा शाकाहारी है, लेकिन कई परम्परागत भारतीय पकवानों में मुर्गा (chicken), बकरी (goat), भेड़ का बच्चा (lamb), मछली और अन्य तरह के मांस (meat) भी शामिल हैं

भोजन भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है, जो रोजमर्रा के साथ –साथ त्योहारों में भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है कई परिवारों में, हर रोज का मुख्य भोजन दो से तीन दौर में, कई तरह की चटनी और अचार के साथ, रोटी (roti) और चावल के रूप में कार्बोहाइड्रेट के बड़े अंश के साथ मिष्ठान (desserts) सहित लिया जाता है। भोजन एक भारतीय परिवार के लिए सिर्फ खाने के तौर पर ही नहीं बल्कि कई परिवारों के एक साथ एकत्रित होने सामाजिक संसर्ग बढाने के लिए भी महत्त्वपूर्ण है

विविधता भारत के भूगोल, संस्कृति और भोजन की एक पारिभाषिक विशेषता है। भारतीय व्यंजन अलग–अलग क्षेत्र के साथ बदलते हैं और इस उपमहाद्वीप (subcontinent) की विभिन्न तरह की जनसांख्यिकी (varied demographics) और विशिष्ठ संस्कृति को प्रतिबिंबित करते हैं आम तौर पर, भारतीय व्यंजन चार श्रेणियों में बाते जा सकते हैं–उत्तर, दक्षिण, पूरब और पश्चिम भारतीय व्यंजन इस विविधता के बावजूद उन्हें एकीकृत करने वाले कुछ सूत्र भी मौजूद हैं। मसालों का विविध प्रयोग भोजन तैयार करने का एक अभिन्न अंग है, ये मसाले व्यंजन का स्वाद बढाने और उसे एक खास स्वाद और सुगंध देने के लिए प्रयोग किये जाते हैं इतिहास में भारत आने वाले अलग–अलग सांस्कृतिक समूहों जैसे की पारसी (Persians), मुगल और यूरोपीय शक्तियों ने भी भारत के व्यंजन को काफी प्रभावित किया है।

वस्त्र–धारण

त्रिपुरा की की लडकियाँ पारंपरिक नृत्य महोत्सव में भाग लेते समय एक बिंदी (bindi) लगाती हैं। महिलाओं के लिए पारंपरिक भारतीय कपडों में शामिल हैं, साड़ी, सलवार कमीज (salwar kameez) और घाघरा चोली (लहंगा)धोती, लुंगी (Lungi), और कुर्ता पुरुषों (men) के पारंपरिक वस्त्र हैं बॉम्बे, जिसे मुंबई के नाम से भी जाना जाता है भारत की फैशन राजधानी है भारत के कुछ ग्रामीण हिस्सों में ज्यादातर पारंपरिक कपडे ही पहने जाते हैं दिल्ली, मुंबई, चेन्नई, अहमदाबाद और पुणे ऐसी जगहें हैं, जहां खरीदारी करने के शौकीन

लोग जा सकते हैं। दक्षिण भारत के पुरुष सफेद रंग का लंबा चादर नुमा वस्त्र पहनते हैं, जिसे अंग्रेजी में धोती और तमिल में वेष्टी कहा जाता है। धोती के ऊपर, पुरुष शर्ट, टी शर्ट या और कुछ भी पहनते हैं, जबकि महिलाएँ साड़ी पहनती हैं, जो की रंग बिरंगे कपडों और नमूनों वाला एक चादरनुमा वस्त्र हैं यह एक साधारण या फैंसी ब्लाउज के ऊपर पहनी जाती है यह युवा लड़कियों और महिलाओं द्वारा पहना जाता है। छोटी लड़कियाँ पवाडा पहनती हैं। पवाडा एक लम्बी स्कर्ट है। जिसे ब्लाउज के नीचे पहना जाता है। दोनों में अक्सर खुस्नूमा नमूने बने होते हैं बिंदी (Bindi) महिलाओं के शृंगार का हिस्सा है। परंपरागत रूप से, लाल बिंदी (या सिन्दूर) केवल शादीशुदा हिंदु महिलाओं द्वारा ही लगाई जाती है, लेकिन अब यह महिलाओं के फैशन का हिस्सा बन गई है। भारतीय और पश्चिमी पहनावा (Indo-western clothing), पश्चिमी (Western)और उपमहाद्वीपीय (Subcontinental) फैशन (fashion) का एक मिला जुला स्वरूप हैं। अन्य कपडों में शामिल हैं-चूडीदार (Churidar), दुपट्टा (Dupatta), गमछा (Gamchha), कुरता, मुन्दुम नेरियाथुम (Mundum Neriyathum), शेरवानी ।

साहित्य

भारतीय साहित्य की सबसे पुरानी या प्रारंभिक कृतियाँ मौखिक (orally) रूप से प्रेषित थीं। संस्कृत साहित्य की शुरुआत होती है। 5500 से 5200 ईसा पूर्व के बीच संकलित ऋग्वेद से, जो की पवित्र भजनों का एक संकलन है। संस्कृत के महाकाव्य रामायण और महाभारत पहली सहस्राब्दी ईसा पूर्व के अंत में आए। पहली सहस्राब्दी ईसा पूर्व की पहली कुछ सदियों के दौरान शास्त्रीय संस्कृत (Classical Sanskrit) खूब फली-फूली, तमिल (Tamil) संगम साहित्य और पाली केनोन (Pali Canon) ने भी इस समय काफी प्रगति की.

मध्ययुगीन काल में, क्रमशः 9वीं और 11वीं शताब्दी में कन्नड़ और तेलुगु (Telugu) साहित्य की शुरुआत हुई, इसके बाद 12वीं शताब्दी में मलयालम साहित्य की पहली रचना हुई। बाद में, मराठी, बंगाली, हिंदी की विभिन्न बोलियों, पारसी और उर्दू के साहित्य भी उजागर होने शुरू हो गए।

ब्रिटिश राज के दौरान, रवीन्द्रनाथ टैगोर के कार्यों द्वारा आधुनिक साहित्य का प्रतिनिधित्व किया गया है, रामधारी सिंह दिनकर (Ramdhari Singh ^Dinkar'), सुब्रमनिया भारती, राहुल सांकृत्यायन (Rahul Sankrityayan),

कुवेम्पु, बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, माइकल मधुसूदन दत्त, मुंशी प्रेमचन्द, मुहम्मद इकबाल, देवकी नंदन खत्री प्रसीद्ध हो गए हैं। समकालीन भारत में, जिन लेखकों को आलोचकों के बीच प्रशंसा मिली हैं–गिरीश कर्नाड, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, वैकोम मुहम्मद बशीर, इंदिरा गोस्वामी, महाश्वेता देवी, अमृता प्रीतम, मास्ति वेंकटेश अयेंगर, कुरतुलियन हैदर और थाकाजी सिवासंकरा पिल्लई और कुछ अन्य लेखकों ने आलोचकों की प्रशंसा प्राप्त की समकालीन भारतीय साहित्य में, दो प्रमुख साहित्यिक पुरस्कार हैं, ये हैं साहित्य अकादमी फैलोशिप और ज्ञानपीठ पुरस्कार हिंदी और कन्नड़ में सात, मलयालम और मराठी में चार उर्दू में तीन ज्ञानपीठ पुरस्कार दिए गए हैं।

काव्य

भारत में ऋग्वेद के समय से कविता के साथ-साथ गद्य रचनाओं की मजबूत परंपरा है। कविता प्रायः संगीत की परम्पराओं से सम्बद्ध होती है और कविताओं का एक बड़ा भाग धार्मिक आंदोलनों पर आधारित होता है या उनसे जुड़ा होता है। लेखक और दार्शनिक अक्सर कुशल कवि भी होते थे आधुनिक समय में, भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान राष्ट्रवाद और अहिंसा को प्रोत्साहित करने के लिए कविता ने एक महत्त्वपूर्ण हथियार की भूमिका निभाई है इस परंपरा उदाहरण आधुनिक काल में रवीन्द्रनाथ टैगोर और के एस नरसिम्हास्वामी की कविताओं, मध्य काल में बासव वचन, कबीर और पुरंदरदास और प्राचीन काल में महाकाव्यों के रूप में मिलता है टगोर की गीतांजलि कविता से दो उदाहरण भारत और बांग्लादेश के राष्ट्रगान के रूप में स्वीकार किये गए हैं।

महाकाव्य

रामायण और महाभारत प्राचीनतम संरक्षित और आज भी भारत के जाने माने माहाकाव्य है य उनके कुछ और संस्करण दक्षिण पूर्व एशियाई देशों जैसे की थाईलैंड मलेशिया और इंडोनेशिया में अपनाए गए हैं। इसके अलावा, शास्त्रीय तमिल भाषा में पाँच महाकाव्य हैं-सिलाप्पधिकाराम, निमेगालाई, जीवागा चिंतामणि, वलैयापति और कुण्डलकेसि।

संगीत

भारतीय संगीत का प्रारंभ वैदिक काल से भी पूर्व का है। पंडित शारंगदेव कृत 'संगीत रत्नाकर' ग्रंथ में भारतीय संगीत की परिभाषा 'गीतम, वादयम् तथा

नृत्यंत्रयम संगीत मुच्यते' कहा गया है। गायन, वाद्य वादन एवम् नृत्यय तीनों कलाओं का समावेश संगीत शब्द में माना गया है।तीनो स्वतंत्र कला होते हुए भी एक दूसरे की पूरक है। भारतीय संगीत की दो प्रकार प्रचलित है, प्रथम कर्नाटक संगीत, जो दक्षिण भारतीय राज्यों में प्रचलित है और हिन्दुस्तानी संगीत शेष भारत में लोकप्रिय है। भारतवर्ष की सारी सभ्यताओं में संगीत का बड़ा महत्त्व रहा है। धार्मिक एवं सामाजिक परंपराओं में संगीत का प्रचलन प्राचीन काल से रहा है। इस रूप में, संगीत भारतीय संस्कृति की आत्मा मानी जाती है। वैदिक काल में अध्यात्मिक संगीत को मार्गी तथा लोक संगीत को देशी कहा जाता था। कालांतर में यही शास्त्रीय और लोक संगीत के रूप में दिखता है।

भारतीय संगीत में विभिन्न प्रकार के धार्मिक, लोक संगीत, लोकप्रिय, पॉप और शास्त्रीय संगीत शामिल हैं भारतीय संगीत का सबसे पुराना संरक्षित उदाहरण है सामवेद की कुछ धुनें जो आज भी निश्चित वैदिक श्रोता बलिदान में गाई जाती है भारतीय शास्त्रीय संगीत की परंपरा हिंदू ग्रंथों से काफी प्रभावित है। इसमें कर्नाटक और हिन्दुस्तानी संगीत और कई राग शामिल हैं। ये कई युगों के दौरान विकसित हुआ और इसका इतिहास एक सहस्राब्दी तक फैला हुआ है। यह हमेशा से धार्मिक प्रेरणा, सांस्कृतिक अभिव्यक्ति और शुद्ध मनोरंजन का साधन रहा है विशिष्ठ उपमहाद्वीप रूपों के साथ ही इसमें अन्य प्रकार के ओरिएंटल संगीत से भी कुछ समानताएं हैं'।

नृत्य

भारतीय नृत्य में भी लोक और शास्त्रीय रूपों में कई विविधताएँ है जाने माने लोक नृत्यों (folk dances) में शामिल हैं पंजाब का भांगड़ा, असम का बिहू, झारखंड का झुमइर और डमकच, झारखंड और उड़ीसा का छाऊ, राजस्थान का घूमर, गुजरात का डांडिया और गरबा, कर्नाटक जा यक्षगान, महाराष्ट्र का लावनी और गोवा का देख्ननी। भारत की संगीत, नृत्य और नाटक की राष्ट्रीय अकादमी द्वारा आठ नृत्य रूपों, कई कथा रूपों और पौराणिक तत्त्व वाले कई रूपोंको शास्त्रीय नृत्य का दर्जा दिया गया है। ये हैं– तमिलनाडु का भरतनाट्यम, उत्तर प्रदेश का कथक, केरल का कथककली और मोहिनीअट्टम, आंध्र प्रदेश का कुच्चीपुडी, मणिपुर का मणिपुरी, उड़ीसा का ओडिसी।

संक्षिप्त रूप से कहें तो कलारिप्पयाट्टू या कलारी को दुनिया का सबसे पुराना मार्शल आर्ट माना जाता है। यह मल्लपुराण जैसे ग्रंथों के रूप में संरक्षित

है। कलारी और उसके साथ साथ उसके बीद आये मार्शल आर्ट के कुछ रूपों के बारे में ये भी माना जाता है की बौद्ध धर्म की तरह ये भी चीन तक पहुँच चूका है और अंततः इसी से कुंग-फु का विकास हुआ। बाद में आने वाली मार्शल आर्ट्स हैं- गतका, पहलवानी और मल्ल-युद्ध भारतीय मार्शल आर्ट्स को कई महान लोगों ने अपनाया था जिनमें शामिल हैं बोधिधर्मा जो भारतीय मार्शल आर्ट्स को चीन तक ले गए।

नाटक और रंगमंच

भारतीय नाट्य की एकमात्र जीवित परंपरा है (संस्कृत) कुटीयट्टम, जो कि केरल में संरक्षित है। भासा के नाटक अभिषेक में रावन की भूमिका में गुरु नाट्याचार्य मणि माधव चकयार

भारतीय संगीत और नृत्य के साथ साथ भारतीय नाटक और थियेटर का भी अपने लम्बा इतिहास है। कालिदास के नाटक शकुंतला और मेघदूत कुछ पुराने नाटक हैं, जिनके बाद भासा के नाटक आये। 2000 साल पुरानी केरल की कुटियट्टम विश्व की सबसे पुरानी जीवित थियेटर परम्पराओं में से एक है। यह सख्ती से नाट्य शास्त्र का पालन करती है। कला के इस रूप में भासा के नाटक बहुत प्रसिद्द हैं। नाट्याचार्य (स्वर्गीय) पद्म श्री मणि माधव चकयार - अविवादित रूप से कला के इस रूप और अभिनय के आचार्य - ने इस पुराणी नाट्य परंपरा को लुप्त होने से बचाया और इसे पुनर्जीवित किया। वो रस अभिनय में अपनी महारत के लिए जाने जाते थे। उन्होंने कालिदास के नाटक अभिज्ञान शाकुंतल, विक्रमोर्वसिया और मालविकाग्निमित्र य भास के स्वप्नवासवदत्ता और पंचरात्र) या हर्ष के नगनान्दा आदि नाटकों को कुटियट्टम रूप में प्रर्दशित करना शुरू किया

लोक थिएटर की परंपरा भारत के अधिकाँश भाषाई क्षेत्रों में लोकप्रिय है इसके अलावा, ग्रामीण भारत में कठपुतली थियेटर की समृद्ध परंपरा है, जिसकी शुरुआत कम से कम दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व हुई थी इसका पाणिनि पर पतंजलि के वर्णन) में उल्लेख किया गया है समूह थियेटर भी शहरों में पनप रहा है, जिसकी शुरुआत गब्बी वीरंन्ना उत्पल दत्त, ख्वाजा अहमद अब्बास, के वी सुबन्ना जैसे लोगों द्वारा की गई और जो आज भी नंदिकर, निनासम और पृथ्वी थियेटर जैसे समूहों द्वारा बरकरार राखी गई है।

चित्रकारी

भारतीय चित्रकला की सबसे शुरूआती कृतियाँ पूर्व ऐतिहासिक काल में शैलचित्रों (रॉक पेंटिंग) के रूप में थीं। भीमबेटका जैसी जगहों पाए गए पेट्रोग्लिफ जिनमें से कुछ प्रस्तर युग में बने थे - इसका उदारहण है। प्राचीन ग्रंथों में दर्राघ के सिद्धांत और उपाख्यानों के जरिये ये बताया गया है कि दरवाजों और घर के भीतरी कमरों, जहाँ मेहमान ठहराए जाते थे, उन्हें पेंट करना एक आम बात थी।

मधुबनी चित्रकला, मैसूर चित्रकला, राजपूत चित्रकला, तंजौर चित्रकला और मुगल चित्रकला, भारतीय कला की कुछ उल्लेखनीय विधाएँ हैं, जबकि राजा रवि वर्मा, नंदलाल बोस, गीता वढेरा, जामिनी रॉय और बी वेंकटप्पाख्33, कुछ आधुनिक चित्रकार हैं। वर्तमान समय के कलाकारों में अतुल डोडिया, बोस कृष्णमक्नाहरी, देवज्योति राय और शिबू नटेसन, भारतीय कला के उस नए युग के प्रतिनिधि हैं, जिसमें वैश्विक कला का भारतीय शास्त्रीय शैली के साथ मिलाप होता है। हाल के इन कलाकारों ने अंतर्राष्ट्रीय सम्मान अर्जित किया है। देवज्योति राय के चित्र क्यूबा के राष्ट्रिय कला संग्रहालय में रखे गए है और इसी तरह नई पीढी के कुछ अन्य कलाकारों की कृतियाँ और शोध भी नोटिस किए गए है, इनमें सुमिता अलंग जैसे ख्यात कलाकार भी हैं।

मूर्तिकला

भारत की पहली मूर्तिकला के नमूने सिन्धु घाटी सभ्यता के जमाने के हैं जहाँ पत्थर और पीतल की आकृतियों की खोज की गई। बाद में, जब हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म का और विकास हुआ, भारत के मंदिरों में एवं पीतल की कुछ बहद जटिल नक्काशी के नमूने बने। कुछ विशालकाय मंदिर जैसे की एलोरा ऐसे भी थे, जिन्हें शिलाखंडों से नहीं बल्कि एक विशालकाय चट्टान को काट कर बनाया गया।

उत्तर पश्चिम में संगमरमर के चूने, एक प्रकार की शीस्ट, या मिट्टी से उत्पादित मूर्तिकला में भारतीय और शास्त्रीय हेलेनिस्टिक या संभावित रूप से ग्रीक-रोमन प्रभाव का भारी मिश्रण देखने को मिलता है। लगभग इसी के साथ ही मथुरा की गुलाबी बलुए पत्थरों की मूर्तिकला भी विकसित हुई। इस दौरान गुप्त के शासनकाल में (6वीं से 4वी शताब्दी तक) मूर्तिकला, श्रेष्ठ निष्पादन और मॉडलिंग की बारीकी में एक बहुत ही उच्च स्तर पर पहुंच गई थी। ये और

इसके साथ ही भारत के अन्य क्षेत्रों में विकसित हुई शास्त्रीय भारतीय कला ने समूचे दक्षिण पूर्वी केंद्र और पूर्व एशिया में हिन्दू और बौद्ध मूर्तिकला के विकास में अपना योगदान दिया।

वास्तुकला

भारतीय वास्तुकला में शामिल है- समय और स्थान के साथ साथ लगातार नए विचारों को अपनाती हुई अभिव्यक्ति का बाहुल्य। इसके परिणामस्वरूप ऐसे वास्तुशिल्प का उत्पादन हुआ, जो इतिहास के दौरान निश्चित रूप से एक निरंतरता रखता है। इसके कुछ बेहद शुरूआती उदहारण मिलते हैं। सिन्धु घटी सभ्यता (2600-1900 ईसा पूर्व) में जिसमें सुनियोजित शहर और घर पाए जाते थे। इन शहरों का खाका तय करने में धर्म और राजा द्वारा संचालन की कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका रही, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

मौर्य और गुप्त साम्राज्य और उनके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में, कई बौद्ध वास्तुशिल्प परिसर, जैसे की अजंता और एलोरा और स्मारकीय सांचीस्तूप बनाया गया। बाद में, दक्षिण भारत में कई हिन्दू मंदिरों का निर्माण हुआ जैसे कीबेलूर का चेन्नाकेसवा मंदिर, हालेबिदु का होयसेल्सवर मंदिर और सोमानाथपूरा का केसव मंदिर, थंजावुर का ब्रिहदीस्वर मंदिर, कोणार्क का सूर्य मंदिर, श्रीरंगम का श्री रंगनाथस्वामी मंदिर और भट्टीप्रोलू का बुद्ध स्तूप (चिन्ना लांजा डिब्बा और विक्रमार्का कोटा डिब्बा) में। अंगकोरवट, बोरोबुदुर और अन्य बौद्ध और हिंदु मंदिर जो की परम्परिक भारतीय धार्मिक भवनों की शैली में बने हैं, इस बात का संकेत देते हैं कि दक्षिण पूर्व एशियाई वास्तुकला पर भारतीय प्रभाव काफी ज्यादा है।

श्री स्वामीनारायण मंदिर, वडताल, गुजरात

पश्चिम से इस्लामिक प्रभाव के आगमन के साथ ही, भारतीय वास्तुकला में भी नए धर्म कि परम्पराओं को अपनाना शुरू के गया। इस युग में बनी कुछ इमारतें हैं- फतेहपुर सीकरी, ताज महल, गोल गुम्बद, कुतुब मीनार दिल्ली का लाल किला आदि, ये इमारतें अक्सर भारत के अपरिवर्तनीय प्रतीक के रूप में उपयोग की जाती हैं। ब्रिटिश साम्राज्य के औपनिवेशिक शासन के दौरान हिंद-अरबी और भारतीय शैली के साथ कई अन्य यूरोपीय शैलियों जैसे गोथिक के मिश्रण को विकसित होते हुए देखा गया, विक्टोरिया मेमोरियल या विक्टोरिया

टर्मिनस इसके उल्लेखनीय उदाहरण हैं। कमल मंदिर और भारत की कई आधुनिक शहरी इमारतें इनमें उल्लेखनीय हैं।

वास्तुशास्त्र की पारंपरिक प्रणाली फेंग शुई के भारतीय प्रतिरूप की तरह है, जो कि शहर की योजना, वास्तुकला और अर्गोनोमिक्स (यानि कार्य की जगह को तनाव कम करने के लिए और प्रभावशाली बनाने के लिए प्रयोग होने वाला विज्ञान) को प्रभावित करता है। ये अस्पष्ट है कि इनमें से कौन-सी प्रणाली पुरानी है, लेकिन दोनों में कुछ निश्चित समानताएँ जरूर हैं। तुलनात्मक रूप से देखें तो फेंग शुई का प्रयोग पूरे विश्व में ज्यादा होता है। यद्यपि वास्तु संकल्पना के आधार पर फेंग शुई के समान है, इन दोनों में घर के अन्दर ऊर्जा के प्रवाह को संतुलित करने की कोशिश कि जाती है, (इसको संस्कृत में प्राण-शक्ति या प्राण कहा जाता है और चीनी भाषा और जापानी भाषा में इसे ची/की कहा जाता है) लेकिन इनके विस्तृत रूप एक दुसरे से काफी अलग हैं, जैसे की वो निश्चित दिशाएं जिनमें विभिन्न वस्तुओं, कमरों, सामानों आदि को रखना चाहिए।

बौद्ध धर्म के प्रसार के कारण भारतीय वास्तुकला ने पूर्वी और दक्षिण एशिया को प्रभावित किया है। भारतीय स्थापत्य कला के कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षण जैसे की मंदिर टीला या स्तूप, मंदिर शीर्ष या शिखर, मंदिर टॉवर या पगोड़ा और मंदिर द्वार या तोरण एशियाई संस्कृति का प्रसिद्ध प्रतीक बन गये हैं और इनका प्रयोग पूर्व एशिया और दक्षिण पूर्व एशिया में बड़े पैमाने पर किया जाता है। केन्द्रीय शीर्ष को कभी-कभी विमानम् भी कहा जाता है। मंदिर का दक्षिणी द्वार गोपुरम अपनी गूढ़ता और ऐश्वर्य के लिए जाना जाता है।

मनोरंजन और खेल

मनोरंजन और खेल के क्षेत्र में भारत में खेलों की एक बड़ी संख्या विकसित की गई थी। आधुनिक पूर्वी मार्शल कला भारत में एक प्राचीन खेल के रूप में शुरू हुई और कुछ लोगों द्वारा ऐसा माना जाता है कि यही खेल विदेशों में प्रेषित किये गए और बाद में उन्ही खेलों का अनुकूलन और आधुनिकीकरण किया गया। ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में आये कुछ खेल यहाँ काफी लोकप्रिय हो गए। जैसे फील्ड हॉकी, फुटबॉल (सॉकर) और खासकर क्रिकेट।

हालाँकि फील्ड हॉकी भारत का राष्ट्रीय खेल है, मुख्य रूप से क्रिकेट भारत का सबसे लोकप्रिय खेल है, बल्कि न केवल भारत बल्कि पूरे उपमहाद्वीप में ये खेल मनोरंजन और पेशेवर तौर पर फल फूल रहा है। यहाँ तक कि हाल

ही में क्रिकेट को भारत और पाकिस्तान के बीच राजनयिक संबंधों के लिए एक मंच के रूप में उपयोग किया जा चुका है। दोनों देशों ने क्रिकेट टीमों सालाना एक-दूसरे के आमने सामने होती हैं और ऐसी प्रतियोगिता दोनों देशो के लिए काफी जोश भरी होती है। पारंपरिक स्वदेशी खेलों में शामिल हैं कबड्डी और गिल्ली-डंडा, जो देश के अधिकांश भागों में खेला जाता है। इंडोर (घर के भीतर खेले जाने वाले) और आउटडोर (घर के बाहर खेले जाने वाले) खेल जैसे कि शतरंज, सांप और सीढ़ी, ताश, पोलो, कैरम, बैडमिंटनभी लोकप्रिय हैं। शतरंज का आविष्कार भारत में किया गया था।

भारत में ताकत और गति के खेलों बहुत समृद्ध हैं। प्राचीन भारत में वजन, कंचे या पास के रूप में पत्थर का प्रोयोग किया जाता था। प्राचीन भारत में रथ दौड़, तीरंदाजी, घुड़सवारी, सैन्य रणनीति, कुश्ती, भारोत्तोलन, शिकार, तैराकी और दौड़ प्रतियोगिताएँ होती थी।

टेलीविजन

भारतीय टेलिविजन की शुरुआत 1959 में शिक्षा कार्यक्रमों के प्रसारण के परीक्षण के साथ हुई। भारतीय छोटे परदे के कार्यक्रम 1970 के मध्य शुरू किये गए। उस समय केवल एक राष्ट्रीय चैनल दूरदर्शन था, जो कि सरकार द्वारा अधिकृत था, 1982 में भारत में नई दिल्ली एशियाई खेलों के साथ टी वी प्रोग्रामिंग में क्रांति आई, उसी वर्ष भारत में पहली बार रंगीन टी वी आये। रामायण और महाभारत कुछ लोकप्रिय टेलीविजन शृंखलाओं में से थे। 1980 के दशक के अंतिम हिस्से तक अधिक से अधिक लोगों के पास अपने टीवी सेट हो गए थे। हालांकि चैनल एक ही था, टीवी प्रोग्रामिंग संतृप्ति पर पहुँचा चुकी थी। इसलिए सरकार ने एक अन्य चैनल खोल दिया, जिसमें कुछ भाग राष्ट्रीय प्रोग्रामिंग और कुछ भाग क्षेत्रीय प्रोग्रामिंग का था। इस चैनल को डीडी 2 और बाद में डीडी मेट्रो के रूप में जाना जाता था। दोनों चैनलों पृथ्वी से प्रसारित थे।

1991 में, सरकार ने अपने बाजार खोले और केबल टेलीविजन की शुरुआत हुई। तब से उपलब्ध चैनलों की संख्या में एक बड़ा उछाल कर आया है। आज, भारतीय सिल्वर स्क्रीन अपने आप में एक बहुत बड़ा उद्योग है और इसमें भारत के सभी राज्यों के हजारों कार्यक्रम है। छोटे परदे ने कई सिलेब्रिटी यानि मशहूर हस्तियों को जन्म दिया है और उनमें से कुछ आज अपने लिए राष्ट्रीय ख्याति अर्जित कर चुके हैं। कामकाजी महिलाओं और यहाँ तक की सभी

प्रकार के पुरुषों में भी टी बी धारावाहिक बेहद लोकप्रिय हैं। छोटे परदे पर काम करने वाले कुछ अभिनेताओं ने बॉलीवुड में भी अच्छी जगह बनाई है। भारतीय टीवी, पश्चिमी टीवी की तरह ही विकसित हो चुका है और यहाँ भी कार्टून नेटवर्क, निकेलोदियन, एमटीवी इंडिया जैसे स्टेशन आते हैं।

सिनेमा

बॉलीवुड, मुम्बई स्थित भारत के लोकप्रिय फिल्म उद्योग का अनौपचारिक नाम है। बॉलीवुड और अन्य प्रमुख सिनेमाई केन्द्रों (बंगाली, कन्नड़, मलयालम, मराठी, तमिल, तेलुगु (Telugu) को मिलाकर व्यापक भारतीय फिल्म उद्योग का गठन होता है। सबसे ज्यादा संख्या में फिल्मों के निर्माण और बेचे गए टिकटों की सबसे बड़ी संख्या के आधार पर इसका उत्पादन दुनिया में सबसे ज्यादा माना जाता है।

व्यावसायिक फिल्मों के अलावा, भारत में भी समीक्षकों द्वारा बहुप्रशंसित सिनेमा का निर्माण हुआ है। जैसे की सत्यजीत रे, ऋत्विक घटक, गुरु दत्त, के. एच. विश्वनाथ, अदूर गोपालकृष्णन, गिरीश कासरवल्ली, शेखर कपूर, ऋषिकेश मुखर्जी, शंकर नाग, गिरीश कर्नाड, जी वी अय्यर जैसे निर्माताओं द्वारा बनाई गई फिल्में। दरअसल, हाल के वर्षों में अर्थव्यवस्था के खुलने और विश्व सिनेमा की झलक मिलने से दर्शकों की पसंद बदल गई है। इसके अलावा, अधिकांश शहरों में मल्टीप्लेक्स के तेजी से बढे है, जिससे, राजस्व का स्वरूप भी बदलने लगा है।

रेडियो

भारत में रेडियो प्रसारण 1927 में, निजी स्वामित्व के दो ट्रांसमीटरों द्वारा बॉम्बे और कोलकत्ता में शुरू हुआ। 1930 में इनका राष्ट्रीयकरण किया गया और 1936 तक इन्होने 'भारतीय प्रसारण सेवा' नाम से काम किया। 1936 में इनका नाम बदल कर, ऑल इंडिया रेडियो (एआईआर) कर दिया गया। यद्यपि 1957 में आधिकारिक तौर पर इसका नाम बदल कर आकाशवाणी कर दिया गया लेकिन आज भी यह ऑल इंडिया रेडियो के नाम से लोकप्रिय है।

ऑल इंडिया रेडियो प्रसार भारती (ब्रॉडकास्टिंग कॉर्पोरेशन ऑफ इंडिया) का एक अंग है, जो कि सूचना और प्रसारण मंत्रलय, भारत सरकार की एक स्वायत्त संस्था है, यह प्रसार भारती के राष्ट्रीय टेलीविजन प्रसारणकर्ता दूरदर्शन

की एक सहयोगी संस्था है। 20वीं शताब्दी के अंत के बाद से भारत में रेडियो आवृत्तियों एफ एम् और ए एम् बैंड को निजी क्षेत्र के प्रसारणकर्ताओं के लिए खोला दिया गया है, लेकिन ऐसी सेवा ज्यादातर महानगरीय क्षेत्रों तक ही सीमित है। मुंबई, दिल्ली, कोलकाता, चेन्नई, हैदराबाद, बंगलौर जैसे शहरों में कई अन्य निजी एफ एम् चैनल लोकप्रिय हिंदी और अंग्रेजी संगीत प्रसारित करते हैं, हालाँकि उन आकाशवाणी की तरह समाचार प्रसारित करने का अधिकार नहीं है। हाल ही में वर्ल्ड स्पेस (ॅवतसकै चंबम) ने देश की पहली उपग्रह रेडियो सेवा का शुभारंभ किया।

दर्शन शास्त्र

विभिन्न युगों के दौरान भारतीय दर्शन का पूरे विश्व विशेषकर पूर्व में काफी प्रभाव पड़ा है। वैदिक काल के बाद, पिछले 2500 सालों में दर्शन के कई विभिन्न अनुयायी वर्ग जैसे कि बौद्ध धर्म और हिंदू धर्म के कई सम्प्रदाय विकसित हुए हैं। हालांकि, भारत ने भी तर्कवाद, बुद्धिवाद (rationalism), विज्ञान, गणित, भौतिकवाद (materialism), नास्तिकता, अज्ञेयवाद (agnosticism) आदि की कुछ सबसे पुराणी और सबसे प्रभावशाली धर्मनिरपेक्ष परम्पराओं को जन्म दिया है, जो कई बार इस वजह से अनदेखी कर दी जाती है, क्योंकि भारत के बारे में एक लोकप्रिय धारणा ये है कि भारत एक रहे हैं और एक 'रहस्यमय' देश है।

कई जटिल वैज्ञानिक और गणितीय अवधारणाओं जैसे की शून्य का विचार, अरब (Arab) की मध्यस्थता में यूरोप तक पहुंचा। कर्वाका (Carvaka), भारत में नास्तिकता का सबसे प्रसिद्द अनुयायी वर्ग है, इसे कुछ लोगों द्वारा विश्व का सबसे पुराना भौतिकवादी अनुयायी वर्ग भी माना जाता है। ये उसी समय जब बौद्ध धर्म और जैन धर्म के प्रारभिक दर्शन का निर्माण हो रहा था। 500 वर्ष ईसा पूर्व के पास की अवधि में भारतीय और वैश्विक दर्शन में एक तीव्र परिवर्तन आया था। और उसी समय समकालीन यूनानी (Greek) स्कूल भी उभर कर सामने आये थे। कुछ लोगों का मानना है की कुछ भारतीय दर्शन की अवधारणाओं से यूनान को परिचित कराय गया, जबकि अन्य पारसी साम्राज्य के माध्यम से भारत में आयेय सिकंदर महान के अभियान कजे बाद ऐसे पारस्परिक आदान प्रदान में वृद्धि हुई।

प्राचीन काल से ही भारत में दर्शन को दिए जाने वाले महत्त्व के अतिरिक्त, आधुनिक भारत ने भी कुछ प्रभावशाली दार्शनिकों को जन्म दिया है, जिन्होंने राष्ट्रीय भाषा के साथ साथ प्रायः अंग्रेजी में भी लिखा है। भारत के ब्रिटिशों द्वारा उपनिवेश बनाये जाने के दौरान, भारत के कुछ धार्मिक विचारकों ने विश्व भर में उतनी ही ख्याति अर्जित की जितनी की प्राचीन भारतीय ग्रंथों ने. उनमें से कुछ के कार्य को अंग्रेजी, जर्मन और अन्य भाषाओँ में अनुवादित भी किया गया। स्वामी विवेकानंद अमेरिका गए और वहां उन्होंने विश्व धर्म संसद (World Parliament of Religions) में हिस्सा लिया, उन्होंने धरती हिला देने वाले या कहिये अत्यंत प्रभावशाली वक्तव्य से सबको प्रभावित किया, वहन आये ज्यादातर प्रतिनिधियों के लिए ये हिन्दू दर्शन से पहला साक्षात्कार था।

कई धार्मिक विचारक जैसे की महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर और भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के अन्य सदस्यों ने राजनीतिक दर्शन के नए रूप को जन्म दिया जिसने आधुनिक भारतीय लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता और उदारवाद के आधार को बनाया। आज, एशिया का पहला आर्थिक विज्ञान में नोबेल मेमोरियल पुरस्कार (Nobel Memorial Prize in Economic Sciences) जीतने वाले अमर्त्य सेन जैसे अर्थशास्त्री भारत को दुनिया के विचारों में महत्त्वपूर्ण योगदान देने वाले एक देश के रूप में प्रतिष्ठित कर रहे है।

2

हिन्दी नाट्य का इतिहास

हिंदी में नाटकों का प्रारंभ भारतेन्दु हरिश्चंद्र से माना जाता है। उस काल के भारतेन्दु तथा उनके समकालीन नाटककारों ने लोक चेतना के विकास के लिए नाटकों की रचना की, इसलिए उस समय की सामाजिक समस्याओं को नाटकों में अभिव्यक्त होने का अच्छा अवसर मिला।

जैसाकि कहा जा चुका है, हिन्दी में अव्यावसायिक साहित्यिक रंगमंच के निर्माण का श्रीगणेश आगाहसन 'अमानत' लखनवी के 'इंदर सभा' नामक गीति-रूपक से माना जा सकता है। पर सच तो यह है कि 'इंदर सभा' की वास्तव में रंगमंचीय कृति नहीं थी। इसमें शामियाने के नीचे खुला स्टेज रहता था। नौटंकी की तरह तीन ओर दर्शक बैठते थे, एक ओर तख्त पर राजा इंदर का आसन लगा दिया जाता था, साथ में परियों के लिए कुर्सियाँ रखी जाती थीं। साजिंदों के पीछे एक लाल रंग का पर्दा लटका दिया जाता था। इसी के पीछे से पात्रों का प्रवेश कराया जाता था। राजा इंदर, परियाँ आदि पात्र एक बार आकर वहीं उपस्थित रहते थे। वे अपने संवाद बोलकर वापस नहीं जाते थे।

उस समय नाट्यारंगन इतना लोकप्रिय हुआ कि अमानत की 'इंदर सभा' के अनुकरण पर कई सभाएँ रची गई, जैसे 'मदारीलाल की इंदर सभा', 'दर्याई इंदर सभा', 'हवाई इंदर सभा' आदि। पारसी नाटक मंडलियों ने भी इन सभाओं और मजलिसेपरिस्तान को अपनाया। ये रचनाएँ नाटक नहीं थी और न ही इनसे हिन्दी का रंगमंच निर्मित हुआ। इसी से भारतेन्दु

हरिश्चन्द्र इनको 'नाटकाभास' कहते थे। उन्होंने इनकी पैरोडी के रूप में 'बंदर सभा' लिखी थी

हिन्दी रंगमंच और भारतेन्दु हरिश्चंद्र

इस प्रकार भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी रंगमंच और नाट्य-रचना के व्यावसायिक तथा अव्यावसायिक साहित्यिक प्रयास तो हुए पर हिन्दी का वास्तविक और स्थायी रंगमंच निर्मित और विकसित नहीं हो पाया था। सन् 1850 ई. से सन् 1868 ई. तक हिन्दी रंगमंच का उदय और प्रचार-प्रसार तो हुआ, पर उसका सुरुचिपूर्ण विकास और स्थायी निर्माण नहीं हो सका था। पारसी नाटक मंडलियों के अतिरिक्त कुछ और भी छुटपुट व्यावसायिक मंडलियाँ विभिन्न स्थानों पर निर्मित हुईं पर साहित्यिक सुरुचि सम्पन्नता का उनमें भी अभाव ही रहा।

व्यावसायिक मंडलियों के प्रयत्न में हिन्दी रंगमंच की जो रूपरेखा बनी थी, प्रचार और प्रसार का जो काम हुआ था तथा इनके कारण, जो कुछ अच्छे नाटककार हिन्दी को मिले थे-उस अवसर और परिस्थिति का लाभ नहीं उठाया जा सका था।

भारतेन्दु के नाटक लिखने की शुरुआत बंगला के विद्यासुंदर (1867) नाटक के अनुवाद से होती है। यद्यपि नाटक उनके पहले भी लिखे जाते रहे, किंतु नियमित रूप से खड़ीबोली में अनेक नाटक लिखकर भारतेन्दु ने ही हिंदी नाटक की नींव को सुदृढ़ बनाया। भारतेन्दु के पूर्ववर्ती नाटककारों में रीवा नरेश विश्वनाथ सिंह (1846-1911) के बृजभाषा में लिखे गए नाटक 'आनंद रघुनंदन' और गोपालचंद्र के 'नहुष' (1841) को अनेक विद्वान हिंदी का प्रथम नाटक मानते हैं। यहाँ यह जानना रोचक हो सकता है कि गोपालचंद्र, भारतेन्दु हरिश्चंद्र के पिता थे।

हिन्दी के विशुद्ध साहित्यिक रंगमंच और नाट्य-सृजन की परम्परा की दृष्टि से सन् 1868 ई. का बड़ा महत्त्व है। भारतेन्दु के नाटक-लेखन और मंचीकरण का श्रीगणेश इसी वर्ष हुआ। इसके पूर्व न तो पात्रों के प्रवेश-गमन, दृश्य-योजना आदि से युक्त कोई वास्तविक नाटक हिन्दी में रचा गया था। भारतेन्दु के पिता गोपालचन्दर चित 'नहुष' तथा महाराज विश्वनाथसिंह रचित 'आनंदरघुनंदन' भी पूर्ण नाटक नहीं थे, न पर्दों और दृश्यों आदि की योजना वाला विकसित रंगमंच ही निर्मित हुआ थाय नाट्यारंगन के अधिकतर प्रयास भी अभी

तक मुंबई आदि अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में ही हुए थे और भाषा का स्वरूप भी हिन्दी-उर्दू का मिश्रित खिचड़ी रूप ही था।

3 अप्रैल सन् 1868 को पं. शीतलाप्रसाद त्रिपाठी रचित 'जानकी मंगल' नाटक का अभिनय 'बनारस थियेटर' में आयोजित किया था। कहते हैं कि जिस लड़के को लक्ष्मण का अभिनय पार्ट करना था वह अचानक उस दिन बीमार पड़ गया। लक्ष्मण के अभिनय की समस्या उपस्थित हो गई और उस दिन युवक भारतेन्दु स्थिति को न सँभालते तो नाट्यायोजन स्थगित करना पड़ता। भारतेन्दु ने एक-डेढ़ घंटे में ही न केवल लक्ष्मण की अपनी भूमिका याद कर ली अपितु पूरे 'जानकी मंगल' नाटक को ही मस्तिष्क में जमा लिया। भारतेन्दु ने अपने अभिजात्य की परवाह नहीं की।

उन दिनों उच्च कुल के लोग अभिनय करना अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं समझते थे। इस प्रकार इस नाटक से भारतेन्दु ने रंगमंच पर सक्रिय भाग लेना आरम्भ किया। इसी समय-उन्होंने नाट्य-सृजन भी आरम्भ किया।

भारतेन्दु ने सन् 1868 ई. से सन् 1885 ई. तक अपने स्वल्प और अत्यन्त व्यस्त जीवन से शेष 17 वर्षों में अनेक नाटकों का सृजन किया, अनेक नाटकों में स्वयं अभिनय किया, अनेक रंगशालाएँ निर्मित कराई और हिन्दी रंगमंच के स्थापन का स्तुत्य प्रयास किया। यही नहीं, भारतेन्दु के अनेक लेखकों और रंगकर्मियों को नाट्य-सृजन और अभिनय के लिए प्रेरित किया। भारतेन्दु के सदुद्योग एवं प्रेरणा से काशी, प्रयाग, कानपुर आदि कई स्थानों पर हिन्दी का अव्यावसायिक साहित्यिक रंगमंच स्थापित हुआ।

भारतेन्दु के ही जीवन काल में ये कुछ रंग-संस्थाएँ स्थापित हो चुकी थीं-

(1) काशी में भारतेन्दु के संरक्षण में नेशनल थियेटर की स्थापना हुई। भारतेन्दु अपना 'अंधेर नगरी' प्रहसन इसी थियेटर के लिए एक ही रात में लिखा था,

(2) प्रयाग में 'आर्य नाट्यसभा' स्थापित हुई, जिसमें लाला श्रीनिवासदास का 'रंगधीर प्रेममोहिनी' प्रथम बार अभिनीत हुआ था,

(3) कानपुर में भारतेन्दु के सहयोगी पं. प्रतापनारायण मिश्र ने हिन्दी रंगमंच का नेतृत्व किया और भारतेन्दु के 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'भारत-दुर्दशा', 'अंधेर नगरी' आदि नाटकों का अभिनय कराया।

इनके अतिरिक्त बलिया, डुमराँव, लखनऊ आदि उत्तर प्रदेश के कई स्थानों और बिहार प्रदेश में भी हिन्दी रंगमंच और नाट्य-सृजन की दृढ़ परम्परा का निर्माण हुआ।

प्रेरणा-स्रोत

भारतेन्दु और उनके सहयोगी लेखकों ने नाट्य-सृजन की प्रेरणा कहाँ-कहाँ से प्राप्त की, यह प्रश्न पर्याप्त महत्त्व का है। इस प्रश्न का महत्त्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है, जब हम देखते हैं कि हिन्दी में नाट्य-रचना का सूत्रपात भारतेन्दु की ही नव-प्रवर्तनकारी प्रतिभा से हुआ। यद्यपि भारतेन्दु से पूर्व नाट्य-शैली में कुछ सृजन-प्रयास हुए थे, पर नाटक के वास्तविक रूप का उद्‌भव सर्वप्रथम भारतेन्दु की ही लेखिनी से हुआ। अस्तु, जब हिन्दी में इस साहित्यि-विधा का अभाव था, तो भारतेन्दु ने नाट्य-सृजन की प्रेरणा कहाँ से ली?

साहित्यिक प्रेरणा

साहित्यिक प्रेरणा की खोज की जाय तो कहा जा सकता है कि भारतेन्दु ने संस्कृत तथा प्राकृत की पूर्ववर्ती भारतीय नाट्य-परम्परा और बँगला की समसामयिक नाट्यधारा के साथ अंग्रेजी प्रभाव-धारा से प्रेरणा ली। यद्यपि हमारे यहाँ भास, कालीदास, भवभूति, शूद्रक आदि पूर्ववर्ती संस्कृत नाटककारों की समृद्ध नाट्य-परम्परा विद्यमान थी, पर यह खेद की बात है कि भारतेन्दु बाबू ने उस समृद्ध संस्कृत नाट्य-परम्परा को अपने सम्मुख रखा। प्राकृत-अपभ्रंश काल में अर्थात् ईसा की 9वीं-10 वीं शताब्दी के बाद संस्कृत नाटक ह्रासोन्मुख हो गया था। प्राकृत और अपभ्रंश में भी नाट्य-सृजन वैसा उत्कृष्ट नहीं हुआ जैसा पूर्ववर्ती संस्कृत-नाट्य-साहित्य था। अतः भारतेन्दु के सामने संस्कृत-प्राकृत की यह पूर्ववर्ती ह्रासगामी परम्परा रही। संस्कृत के मुरारि, राजशेखर, जयदेव आदि की क्रमशः 'अनर्घराघव', 'बालरामायण', 'प्रसन्नराघव' आदि रचनाएँ ही भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी लेखकों का आदर्श बनीं। इनमें न कथ्य-या विषय-वस्तु का वह गाम्भीर्य था, जो कालिदास आदि की अमर कृतियों में था, न उन जैसी शैली-शिल्प की श्रेष्ठता थी। यही कारण है कि भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी नाटक सर्वथा निष्प्राण रहा और यद्यपि भारतेन्दु ने उसमें सामयिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की झलक पैदा कर नवोन्मेष और किंचित् सप्राणता का प्रयास किया, पर

उनके प्रयत्नों के बावजूद भारतेन्दुकालीन हिन्दी नाटक कथ्य और शिल्प दोनों की ही दृष्टि से शैशव काल में ही पड़ा रहा, विशेष उत्कर्ष को प्राप्त नहीं हुआ।

भारतेन्दु के पश्चात्

इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सत्यप्रयत्नों से हिन्दी के साहित्यिक रंगकर्म और नाट्य-लेखन की दृढ़ परम्परा चली। पर सन् 1885 ई. में भारतेन्दु के निधन के पश्चात् वह उत्साह कुछ मन्द पड़ गया। 19 वीं शती के अन्तिम दशक में फिर कुछ छुटपुट प्रयास हुए। कई नाटक मंडलियों की स्थापना हुई, जैसे प्रयाग की 'श्रीरामलीला नाटक मंडली' तथा 'हिन्दी नाट्य समिति', भारतेन्दु जी के भतीजों- श्रीकृष्णचन्द्र और श्री ब्रजचन्द्र-द्वारा काशी में स्थापित 'श्री भारतेन्दु नाटक मंडली' तथा 'काशी नागरी नाटक मंडली।' इन नाटक मंडलियों के प्रयत्न से उस समय 'महाराणा प्रताप', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'महाभारत', 'सुभद्राहरण', 'भीष्मपितामह', 'बिल्व मंगल', 'संसार स्वप्न', 'कलियुग' आदि अनेक नाटकों का अभिनय हुआ।

पर ये प्रयास भी बहुत दिन नहीं चल सके। धनाभाव तथा सरकारी और गैर-सरकारी प्रोत्साहन के अभाव में साहित्यिक रंगमंच की स्थापना के प्रयत्न कालान्तर में सब सो गए। इन छुटपुट प्रयासों के अन्तर्गत तत्कालीन साहित्यिक नाटकों का अभिनय हुआ और हिन्दी में कुछ अच्छे रंगमंचानुकूल साहित्यिक नाटकों की रचना हुई। पारसी नाटक कंपनियों के दुष्प्रभाव का तो यह प्रयास अच्छा जवाब था, किन्तु यह प्रयास था बहुत ही स्वल्प। दूसरे, इस साहित्यिक रंगान्दोलन से भी हिन्दी का रंगमंच विशेष विकसित नहीं हुआ, क्योंकि यह रंगमंच पारसी रंगमंच से विशेष भिन्न और विकसित नहीं था-वही पर्दों की योजना, वैसा ही दृश्य-विधान और संगी आदि का प्रबंध रहता था। वैज्ञानिक साधनों से सम्पन्न घूमने वाले रंगमंच का विकास 19वीं शती में नहीं हो सका था। ध्वनि-यन्त्र आदि की स्थापना के प्रयास भी हिन्दी रंगमंच के विकास की दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण योग नहीं दे पाए। हाँ, इनका यही लाभ हुआ की पारसी नाटक कम्पनियों के भ्रष्ट प्रचार को कुछ धक्का लगा तथा कुछ रंगमंचीय हिन्दी नाटक प्रकाश में आए।

बीसवीं शताब्दी

20 वीं शताब्दी के तीसरे दशक में सिनेमा के आगमन ने पारसी रंगमंच को सर्वथा समाप्त कर दिया। पर अव्यावसायिक रंगमंच इधर-उधर नए रूपों में

जीवित रहा। अब हिन्दी का रंगमंच केवल स्कूलों और कॉलेजों में ही है। यह रंगमंच बड़े नाटकों की अपेक्षा एकांकियों को अधिक अपनाकर चला। इसके दो मुख्य कारण हैं- एक तो आज का दर्शक कम-से-कम समय में अपने मनोरंजन की पूर्ति करना चाहता है, दूसरे, आयोजकों के लिए भी बड़े नाटक का प्रदर्शन यहां बहुत कठिनाई उत्पन्न करता है वहाँ एकांकी का प्रदर्शन सरल है-रंगमंच, दृश्य-विधान आदि एकांकी में सरल होते हैं, पात्र भी बहुत कम रहते हैं। अतः सभी शिक्षालयों, सांस्कृतिक आयोजनों आदि में आजकल एकांकियों का ही प्रदर्शन होता है। डॉ. राम कुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविन्द दास, जगदीशचन्द्र माथुर आदि हमारे अनेक नाटककारों ने सुन्दर अभिनय-उपयोगी एकांकी नाटकों तथा दीर्घ नाटकों की रचना की है।

प्रसाद जी ने उच्चकोटि के साहित्यिक नाटक रच कर हिन्दी नाटक साहित्य को समृद्ध किया था, पर अनेक नाटक रंगमंच पर कुछ कठिनाई उत्पन्न करते थे। फिर भी कुछ काट-छाँट के साथ प्रसाद जी के प्रायः सभी नाटकों का अभिनय हिन्दी के अव्यावसायिक रंगमंच पर हुआ। जार्ज बर्नार्ड शॉ, इब्सन आदि पाश्चात्य नाटककारों के प्रभाव से उपर्युक्त प्रसादोत्तर आधुनिक नाटककारों ने कुछ बहुत सुन्दर रंगमंचीय नाटकों की सृष्टि की। इन नाटककारों के अनेक पूरे नाटक भी रंगमंचों से प्रदर्शित हुए।

स्वतंत्रता के पश्चात्

स्वतंत्रता के पाश्चात् हिन्दी रंगमंच के स्थायी निर्माण की दिशा में अनेक सरकारी-गैर-सरकारी प्रयत्न हुए हैं। सरकार की ओर से भी कई गैर-सरकारी संस्थाओं को रंगमंच की स्थापना के लिए आर्थिक सहायता मिली है। पुरुषों के साथ अब स्त्रियाँ भी अभिनय में भाग लेने लगी हैं। स्कूलों-कॉलेजों में कुछ अच्छे नाटकों का अब अच्छा प्रदर्शन होने लगा है।

अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं से संबद्ध कुछ अच्छे स्थायी रंगमंच बने हैं, जैसे थिएटर सेंटर के तत्त्वावधान में दिल्ली, बंबई, कलकत्ता, इलाहाबाद, हैदराबाद, बंगलौर, शान्तिनिकेतन आदि स्थानों पर स्थायी रंगमंच स्थापित हैं। केन्द्रीय सरकार भी इस ओर पर्याप्त ध्यान दे रही है। पर इन सर्वभाषायी रंगमंचों पर हिन्दी भिखारिणी-सी ही प्रतीत होती है।

केन्द्रीय सरकार ने संगीत नाटक अकादमी की स्थापना की है, जिसमें अच्छे नाटककारों और कलाकारों को प्रोत्साहन दिया जाता है।

व्यावसायिक रंगमंच के निर्माण के भी पिछले दिनों कुछ प्रयत्न हुए हैं। प्रसिद्ध कलाकार स्वर्गीय पृथ्वीराज कपूर ने कुछ वर्ष हुए पृथ्वी थियेटर की स्थापना की थी। उन्होंने कई नाटक प्रस्तुत किए हैं, जैसे 'दीवार', 'गद्दार', 'पठान', 'कलाकार', 'आहूति' आदि। धन की हानि उठाकर भी कुछ वर्ष इस कम्पनी ने उत्साहपूर्वक अच्छा कार्य किया। पर इतने प्रयास पर भी बंबई, दिल्ली या किसी जगह हिन्दी का स्थायी व्यावसायिक रंगमंच नहीं बन सका है। इस मार्ग में कठिनाइयाँ हैं।

हिंदी रंगमंच प्रयोग और परंपरा

हिंदी रंगमंच को हम डेढ सौ वर्ष पुराना ही कह सकते हैं अतः अभी कोई निश्चित परंपरा बन ही नहीं पाई है परंपरा के नाम पर कई धाराएँ हैं, जिनसे प्रेरणा ग्रहण कर उन्हें आत्मसात करते हुए अनेक विरोधाभासी प्रवृत्तियों में समन्वय करने का प्रयत्न होता रहा है। इन सबके साथ ही हिंदी रंगमंच की परंपरा बनने की प्रक्रिया में है।

पहली धारा संस्कृत नाटकों की सुदीर्घ और पुष्ट परंपरा है, जो नवीं दसवीं शताब्दी तक मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि भरत का नाट्य शास्त्र एक लंबी अलिखित परंपरा का मानकीकरण एवं शास्त्रीकरण हैं। अतिशास्त्रीयता शायद इसे नाटकों से दूर ले गई और भरत नाट्यम हमें आज नृत्य शैली के रूप में रंगमंच का हिस्सा बना मिलता है, जिससे संवाद गायब हो गए गायन बोल भावाभिनय और नृत्य का समावेश हो गया।

दूसरी धारा लोकनाट्य परंपरा की रही। लोकनाट्य परंपरा ने ही वस्तुतः भारतीय रंगमंच को जीवित रखा नौटंकी, माच विदेशिया, आल्हा, भांड आदि अनेक लोक नाट्य शैलियाँ प्रचलित रहीं। जिनमें किसी लिखित आलेख के बिना ही कलाकार मनोरंजन हेतु किस्से गढ़ लेते थे कालांतर में आधुनिक हिंदी रंगमंच में संगीतबद्ध या संगीत पर आधारित लोकनाट्य जैसे–मंचन हिंदी रंगमंच की कड़ी बन गए।

तीसरी धारा हमें पारसी नाटकों की मिलती है। ये अपने सारे कलेवर में व्यवसायिक थी प्रत्येक कंपनी अपने नाटककार रखकर इस हिसाब से नाटक लिखवाती और खेलती थी कि वे जनता में लोकप्रिय हों और अधिक से अधिक धनोपार्जन कर सकें जोर अतिनाटकीयता और चमत्कार पर था चमत्कार भी नाटक के कथानक भाषा अथवा रस भावना में नहीं, रंगमंच की ऊपरी

चटकमटक और वेशभूषा की नवीनता में था आख्यान इतिहास या पुराण से भी तो नाटक नायक नायिका के प्रेम शेरो शायरी और वेशभूषा और नाचगाने की चाशनी में लपेटकर पेश किये जाते थे हम कह सकते हैं कि पारसी थियेटर की यह व्यावसायिक परंपरा रंगमंच से ज्यादा फिल्मों के हिस्से आई और आज भी हिंदी फिल्में लगभग उसी नमूने पर चटपटी मसालेदार बन रही हैं। जिनमें दिमाग बंदकर केवल मनोरंजन के लिए देखा जाए तो कुंठा नहीं होगी, भारतेंदु ने इन्हीं परंपराओं का समन्वय कर औपचारिक हिंदी रंगमंच की स्थापना की।

चौथी धारा हिंदी में पाश्चात्य रंगमंच या अन्य भारतीय भाषाओं से अधिग्रहीत हुई भारतेंदु से पूर्व इप्सन या बर्नार्ड शॉ का यथार्थवादी थियेटर सात्र का अस्तित्त्ववाद और कालातंर में एब्सर्ड थियेटर उसमें भी बैकेट ब्रेख्त की धाराएँ सबका समन्वय कर हिंदी रंगमंच ने अपना रास्ता बनाया सभी पाश्चात्य धाराओं में जिनका भारतीय राजनीतिक वातावरण में भारतीय रूपांतरण हुआ एक बात समान रूप से पाई जाती है। वह है परंपरागत जीर्ण शीर्ण मान्यताओं से विद्रोह, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षिक, व्यवसायिक, प्रशासनिक व्यवस्था का विरोध साठवें दशक में साहित्यकारों ने नाटक को एक और लोकनाट्य से जोड़ने की कोशिश की, तो दूसरी ओर पाश्चात्य प्रभाव भी उन पर हावी रहा साठ तक आते आते विकसित देशों में जन समाज बनने लगा था उपभोक्तावाद जो मारने लगा था, मनोरंजन और उद्योग निर्णायक होने लगा था, टी वी फिल्में विज्ञापन और बाजार एक दूसरे से मिलकर नए-नए जनक्षेत्र बनाने लगे थे इस सबका अपरोक्ष रूप से भारतीय रंगमंच और साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा

बढ़ते जनक्षेत्र तक पहुँचने की ललक, राजनीतिक चेतना, राजनीतिक स्थितियों के कारण आवाम का मोह भंग और विपन्नता के मिले जुले प्रभाव से हिंदी रंगमंच में एक नया प्रयोग और कालांतर में पाँचवीं नई धारा के रूप में ब्रेख्त के स्ट्रीट कार्नर थियेटर की परंपरा में नुक्कड़ नाटक का प्रादुर्भाव हुआ नुक्कड़ नाटक का शाब्दिक अर्थ ही हुआ वह नाटक, जो गाँव या शहर या कसबे के किसी मोड़ पर किसी चौराहे या नुक्कड़ पर खेला जा सके, जहाँ किसी भी प्रेक्षागृह परिधान, रूप सज्जा या मंचदीपन की आवश्यकता नहीं होती, किंतु हिंदी नुक्कड़ नाटक भी प्रयोग के रूप में परंपरा से अलग नहीं था नुक्कड़ नाटक का मूल तत्त्व लोक साहित्य में ही है चौपाल में किस्सागोई की परंपरा कठबैठी और मेले वेले में डुग्गी, पीटकर सामंती आदेशों को जनमानस तक पहुँचाने की प्रवृत्ति ही इस विद्या के केन्द्र में रही है।

नुक्कड़ नाटक हों या बंद अँधेरे प्रेक्षागृह में बना मंच नाट्य लेख का मंच रूपांतरण हो या बिना नाट्य लेख के मनोरंजन व संदेश पहुँचाने के लिए आयोजित लोक नाटक, पैट्रोमैक्स या दिन की रोशनी में मंचित नाटक हो या व्यापक और क्लिष्ट प्रकाश ध्वनि की व्यवस्था रंगमंच में हर स्थिति में हर मोड़ पर और हर अंग में प्रयोग की संभावना होती है। सच पूछें तो हर नया मंचन एक नया प्रयोग होता है, क्योंकि वह पूरा पूरा अपने को नहीं दोहराता दोहरा सकता भी नहीं।

प्रयोग रंग प्रशिक्षण के स्तर से प्रारंभ हो सकता है। रंग प्रशिक्षण में अभी कई रिक्तताएँ हैं। दया प्रकाश सिन्हा के अनुसार हमारे नाट्य प्रशिक्षण में साहित्य से जुड़ने की कोशिश नहीं होती अत: प्रशिक्षित रंगकर्मी रंगमंच को एक क्राफ्ट के स्तर पर जीने की कोशिश करते हैं। साहित्य से न जुड़े होने के कारण वे नये नाटक पढ़ते नहीं जब वे पढ़ते नहीं तो उन्हें यह ज्ञान ही नहीं होता कि हिंदी में कौन से नाटक लिखे जा रहे हैं। आज भी एन एस डी राष्ट्रीय नाटक विद्यालय से निकले लोग कैलियर के "कंजूस" या "बीवियों का मदरसा" कर रहे हैं तो वे एक प्रोडक्शन की कापी कर रहे हैं। प्रशिक्षण के स्तर पर प्रयोग किये जा सकते हैं कि वह प्रशिक्षक आधारित न होकर प्रशिक्षार्थी आधारित हो उठे रंग प्रशिक्षण ऐसा हो कि प्रशिक्षण लेकर निकला हर कलाकार स्वतंत्र रूप से अपना व्यक्तित्त्व अपनी शैली अपना दिमाग लेकर निकले, परंपरा को पहचानने वाला प्रयोग को तत्पर।

प्रयोग नाट्य लेखन के स्तर पर हो सकता है यह भ्रामक धारण फैशन के तौर पर दोहराई जाती है कि हिंदी में नाट्य लेखन की स्थिति दयनीय है वस्तु स्थिति इसके विपरीत है हिंदी नाटकों, उसमें भी स्तरीय नाटकों का एक समृद्धि भंडार है, यदि हम सिर्फ बहुचर्चित बहुमंचित मौलिक नाटकों के नाम गिनाने लगें तो वे 25 के आस-पास पहुँच जाएँगे, शिल्प के स्तर पर ये की धाराओं की निरंतरता में हैं इनमें कहीं पाश्चात्य नाटककार इप्सन की तर्ज पर दो या तीन अंकों वाला यथार्थवादी मुहावरा मौजूद है कहीं भारत की शास्त्रीय और लोकनाट्य शैलियों से प्रेरणा ली गई है और कहीं या तो इन सबके मेल से नहीं तो अपने आप से एक नितांत मौलिक बनावट तैयार करने की कोशिश की गई हैं। अपनी स्रोत सामग्री में ये नाटक तीन चार मुख्य धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनकी तरफ आज के विभिन्न नाटककार बार बार लौटते रहे हैं यथा शुद्ध ऐतिहासिकता में से नाटक का जन्म मिथक अथवा लोककथाओं की फैंटेसी समसामयिक राजनीतिक स्थितियों पर व्यंग्य और अंतत: जीवन की जटिलताओं में मुख्यत: आदमी और औरत के रिश्ते की जाँच पड़ताल।

नाट्यलेख में प्रयोग कथ्य के स्तर पर हो सकता है, शिल्प के स्तर पर हो सकता है, प्रस्तुतिकरण के स्तर पर हो सकता है। नाटक बिंब लेकर चले पुनः काव्य की ओर लौट जाएँ, शब्द चित्र उकेरे या संवादों के बीच नियोजित मौन से वातावरण की रचना करें हर दिशा में नये प्रयोग संभव हैं। कई परंपराओं का सम्मिश्रण किया जा सकता है चीन जापान और एशिया के अन्य देशों की समृद्ध परंपराएँ हैं, जिनसे चुनिंदा चीजों का भारतीयकरण कर नये किस्म के आलेख तैयार किये जा सकते हैं कथ्य विचार या शिल्प के स्तर पर नई जमीन तोड़ने वाले नाटक लिखे जा सकते हैं। परंतु इस काम को निर्देशकों के सहयोग के बिना नहीं किया जा सकता।

नाट्य लेखन के प्रयोग की राह में रोड़ा रंगकर्म की रूढ़ियाँ अटकाती हैं, जो वर्तमान संसाधनों और प्रक्रियाओं के चश्मे से ही देखने का कष्ट उठाती हैं और प्रयोगों को नकार देती हैं। इसका एक जीवंत उदाहरण भुवनेश्वर है। भुवनेश्वर अपने समय से बहुत आगे थे इसलिए उनके साहित्य के लिए समाज साहित्यकार समीकरण तैयार नहीं थे समझ नहीं सके स्वीकार नहीं कर सके।

आदर्श स्थिति वह होगी जिसमें लेखक और निर्देशक मिलकर प्रयोग करें एक दूसरे को खुले दिल दिमाग से सहयोग देकर नई दिशाएँ खोलें प्रायः जो नाट्य लेख अपूर्ण घोषित कर दिये जाते हैं उनके मंचन के आयाम का अन्वेषण करना निर्देशक का प्रमुख कार्य है सफल नाटक वही है, जो साहित्यिक और रंगमंचीयता दोनों दृष्टियों से सफल हो।

जब हम सफल रंग कर्म का जायजा लेते हैं। चाहे वह हमारे देश का हो या विदेश का तो हम नाटक कारों को अमूमन रंगमंडलियों के साथ या उनके सदस्य के रूप में मौजूद पाते हैं चाहे शक्सपियर हों या जार्ज बर्नार्ड शॉ, भारतेंदु हरिश्चंद्र हों या आगा हश्र काश्मीरी, ब्रेख्त हों या बादल सरकार। अपने जन्म से ही नाट्य कला एक सामूहिक कला है, जिसे अलग-अलग विधान अलग-अलग कलाकार और निर्देशक तैयार करते हैं।

प्रयोग धर्मिता निर्देशक के जिम्मे अधिक पड़ेगी नाटक का कुल प्रभाव अभिनेता की शारीरिक मुद्राएँ संवाद ध्वनि मंच सज्जा सबके सम्मिश्रण का परिणाम होता है इनमें से हर विभाग में नये प्रयोगों की संभावना होती है। प्रकाश व्यवस्था से लेकर रूप सज्जा तक किसी में भी नया कोण पकड़कर नया प्रयोग किया जा सकता है। प्रश्न जोखिम उठाने का है देखा यह भी गया है कि प्रायः प्रयोग करने वाले निर्देशक एक प्रयोग के सफल हो जाने पर उसी को दोहराते

रहते हैं असफलता का भय उन्हें नए प्रयोग करने से रोकता है और यह दायित्व फिर किसी अन्य निर्देशक पर पड़ता है।

परंपरा और प्रयोगों की बात करते समय हम यह नहीं भूल सकते कि हिंदी रंगमंच इस समय संक्रमण काल से गुजर रहा है। उपभोक्ता और बाजार में "उद्योग" संस्कृति को जन्म दिया है हर चीज एक उत्पाद है रंगमंच पर हुआ प्रयोग या परंपरावादी मंचन की कभी चर्चा इसलिए होती थी कि कोई व्यक्ति या विषय महत्त्वपूर्ण होता था उपभोक्तावादी संस्कृति के इस दौर में कोई व्यक्ति या विषय तब महत्त्वपूर्ण होता है, जब मास मीडिया उसकी चर्चा करता है और चर्चा तभी करता है, जब कुछ हटकर हो रहा हो संस्कृति के क्षेत्र में सभी लोग समझ गए हैं कि मीडिया को घटिया या बढ़िया रचना से कोई मतलब नहीं रह गया है वह चालू और गंभीर दोनों किस्म की विधाओं और व्यक्तियों के बारे में दिलचस्प और केवल दिलचस्प किस्म की बात करना चाहता है। वह लोगों को दिलचस्प बात के लिए दिलचस्प विषय देना चाहता है।

आज इस दशक में जब वैश्वीकरण और अप संस्कृति के दबाव में परंपराएँ टूट तेजी से रही हैं, पर नई बन नहीं पा रही हैं एक शून्य की स्थिति पैदा हो गई है वास्तविकता इतनी भयावह है कि जब-जब हिंदी नाटक और रंगमंच की वास्तविक स्थिति का आकलन करने की चेष्टा होती है हम साने खड़ी चुनौतियाँ नजरंदाज कर आरोप प्रत्यारोप में व्यस्त हो जाते हैं रंग कर्म के विभिन्न भागीदारों नाटक कारों निर्देशकों अभिनेताओं आदि के बीच छिड़ी घमासान प्राय: निष्कर्ष विहीन होती है, जिसमें अपनी उपलब्धियों को बढ़ाकर और अन्य को नजरंदाज कर स्थिति बिगड़ने के लिए सदैव दूसरे को जिम्मेदार ठहरा दिया जाता है निर्देशक कहता है कि नये नाटक नहीं हैं। नाटककार कहता है कि निर्देशक मनमानी करता है अभिनेता रंगमंच को छोड़ टीवी और फिल्मों की ओर पलायन कर जाता है।

अत: हिंदी रंगमंच को अपने अस्तित्त्व के लिए पिछली परंपराओं से शक्ति ग्रहण कर नित्य नए प्रोयोग करने पढ़ेंगे इसके लिए मिशनरी उतसाह और दलगत भावना की आवश्यकता है। जिसके बिना की भी प्रयोग गुणवत्ता पूर्ण और सफल नहीं हो सकता बाजारीकरण के इस दौर में यह कोई नहीं देखता कि आपने प्रयत्न कितने किये हर एक की नजर नतीजों पर है। अत: अपने अहम् का बलिदान कर सबको हाथ मिलाना होगाष एक दल के रूप मे सफल प्रयास करने के लिए

बटने की टूटने की लड़खडाने की परंपरा छोड़ ये प्रयोग हिंदी रंगमंच के लिए आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य हैं।

आधुनिक हिन्दी नाटक

आधुनिक काल की अन्य गद्य-विधाओं के ही समान हिन्दी नाटक का भी आरम्भ पश्चिम के संपर्क का फल माना जाता है। भारत के कई भागों में अंग्रेजों ने अपने मनोरंजन के लिए नाट्यशालाओं का निर्माण किया, जिनमें शेक्सपीयर तथा अन्य अंग्रेजी नाटककारों के नाटकों का अभिनय होता था। उधर सर विलियम जोन्स ने फोर्ट विलियम कॉलेज में संस्कृत के 'अभिज्ञान शाकुन्तलं' के हिन्दी अनुवाद के अभिनय की भी प्रेरणा दी। इस बीच 'अभिज्ञान शाकुन्तलं' के कई हिन्दी अनुवाद हुए, जिनमें राजा लक्ष्मण सिंह का अनुवाद आज भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सन् 1859 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गोपालचन्द्र ने 'नहुष' नाटक लिखा और उसको रंगमंच पर प्रस्तुत किया। इधर पारसी नाटक कम्पनियां नृत्य-संगीत प्रधान, नाटकों को बड़े धूम-धड़ाके से प्रस्तुत कर रही थी। जिससे सुरुचि सम्पन्न तथा साहित्यिक गुणों के खोजी हिन्दी-साहित्यकार क्षुब्ध थे। इस सबसे प्रेरित होकर भारतेन्दु बाबू ने जनता की रुचि का परिष्कार करने के लिए स्वयं अनेक नाटक लिखे और अन्य लेखकों को नाट्य साहित्य की रचना के लिए प्रोत्साहित किया।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हिन्दी-नाट्यकला के विकास को चार कालों में बाँटा जा सकता है–

(1) भारतेन्दुयुगीन नाटक–1850 से 1900 ई.
(2) द्विवेदी युगीन नाटक–1901 से 1920 ई.
(3) प्रसाद युगीन नाटक–1921 से 1936 ई.
(4) प्रसादोत्तर युगीन नाटक–1937 से अब तक

भारतेन्दु-युगीन नाटक

हिन्दी में नाट्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्त्तन भारतेन्दु द्वारा होता है। भारतेन्दु युग नवोत्थान का युग था। भारतेन्दु देश की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक दुर्दशा से आहत थे। अत: साहित्य के माध्यम से उन्होंने समाज को जाग्रत करने का संकल्प लिया। समाज को जगाने में नाटक सबसे प्रबल सिद्ध होता है। भारतेन्दु ने इस तथ्य को पहचाना और नैराश्य के अन्धकार

में आशा का दीप जलाने के लिए प्रयत्नशील हुए। युग-प्रवर्त्तक भारतेन्दु ने अनूदितध्मौलिक सब मिलाकर सत्रह नाटकों की रचना की, जिनकी सूची इस प्रकार है–

(1) विद्यासुन्दर (1868), (2) रत्नावली (1868), (3) पाखण्ड विखंडन (1872), (4) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873),

(5) धनंजय विजय (1873), (6) प्रेम जोगिनी, (1874), (7) सत्यहरिश्चन्द्र (1875), (8) मुद्राराक्षस (1875),

(9) कर्पूर मंजरी (1876), (10) विषस्य विषमोषधम् (1876), (11) श्री चन्द्रावली (1875), (12) भारत-दुर्दशा (1876),

(13) भारत जननी (1877) (14) नीलदेवी (1880), (15) दुर्लभ-बन्धु (1880), (16) अन्धेर नगरी (1881), (17) सती प्रताप (1884)।

मौलिक नाटक

भारतेन्दु जी की मौलिक कृतियों में वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेमयोगिनी, विषस्य विषमोषधम्, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी तथा सती प्रताप हैं। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेम योगिनी और पाखण्ड विखंडन में धार्मिक रूढ़ियों और विडम्बनाओं से ग्रस्त समाज के पाखण्ड, आडम्बर, भ्रष्टाचार आदि का नाटकीय आख्यान हुआ है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में ऊपर से सफेदपोश दिखने वाले धर्मात्माओं के साथ ही तत्कालीन देशी नरेशों और मंत्रियों के व्यभिचार की पोल खोली गई है। अपने युग की धार्मिक स्थिति के प्रति जो तीव्र आक्रोश नाटककार में है, वही उसकी अपूर्ण नाटिका 'प्रेमयोगिनी' में प्रस्तुत हुआ है। 'पाखण्ड विखंडन' में हिन्दुओं के सन्त-महन्तों की हीन दशा का चित्रण हुआ है। इस प्रकार धार्मिक पाखण्डों का खण्डन करना ही इन नाटकों का मूल स्वर रहा है।

भारतेन्दु-युग में अंग्रेजों ने बहुत से राजाओं से उनका शासन छीन कर उनका राज्य अपने अधीन कर लिया था। अंग्रेजों की इस नीति की प्रशंसा पर गुलामी के भय के द्वन्द्व की परिकल्पना 'विषस्य विषमौषध म्' प्रहसन में साकार हो उठी है। देशोद्धार की भावना का संघर्ष भारतेन्दु जी के 'भारत जननी' और 'भारत दुर्दशा' में घोर निराशा के भाव के साथ प्रस्तुत होता है। 'भारत दुर्दशा' में भारत के प्राचीन उत्कर्ष और वर्तमान अध:पतन का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है–

रोअहु सब मिलि, आवहु भारत भाई
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

भारतेन्दु ने राजनीतिक संघर्ष की पृष्ठभूमि पर नौकरशाही की अच्छी आलोचना करते हुए 'अंधेर नगरी' प्रहसन लिखा है। 'अन्धेर नगरी' के चौपट राजा को फांसी दिलाकर नाटककार कामना करता है कि कभी इस अयोग्य राजा की तरह नौकरशाही भी समाप्त होगी और देश के कुशासन की समाप्ति होगी। अंग्रेजों के शासन से देश मुक्ति की कामना ही 'नील देवी' नाटक में ऐतिहासिक पृश्ठभूमि पर उभरती है। साथ ही तत्कालीन समाज में तीव्रता से उठ रहे 'नारी स्वातंत्रय' के पक्ष विपक्ष के द्वन्द्व को भी प्रस्तुत किया है।

''चन्द्रावली' और 'सती प्रताप' प्रेम की कोमल अभिव्यंजना से अभिभूत नाटक हैं। चन्द्रावली में ईश्वरोन्मुख प्रेम का वर्णन है। 'सती प्रताप' में भी पति-प्रेम का अनुकरणीय उज्ज्वल आदर्श है। इस प्रकार भारतेन्दु के नाटकों में भी प्रेम धारा तथा श्रृंगारिक मोहकता का वातावरण बना रहा है।

अनूदित और रूपान्तरित नाटक

भारतेन्दु ने अंग्रेजी, बंगला तथा संस्कृत के नाटकों के हिंदी अनुवाद भी किए, जिनमें रत्नावली नाटिका, पाखण्ड विखंडन, प्रबोध-चंद्रोदय, धनंजय-विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्रा राक्षस तथा दुर्लभ बन्धु आदि हैं। अंग्रेजी से किए गए अनुवादों में भारतेन्दु की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने उसमें भारतीय वातावरण एवं पात्रों का समावेश किया है। सभी नाटकों में मानव-हृदय के भावों की अभिव्यक्ति के लिए गीतों की योजना की है। इन नाटकों का अनुवाद केवल हिन्दी का भण्डार भरने की दृष्टि से नहीं किया गया,बल्कि हिन्दी नाटकों के तत्त्वों में अपेक्षित परिवर्तन के लिए दिशा-निर्देश करने के उद्देश्य से किया गया। रूपांतरित नाटकों में 'विद्या सुन्दर' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक आते हैं। 'विद्यासुन्दर' में प्रेम विवाह का समर्थन करते हुए भारतेन्दु माँ-बाप के आशीर्वाद को अनिवार्य मानते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में सामाजिक विकृतियों से ऊपर उठ कर सत्य के आदर्शों से अनुप्राणित होने का आह्वान किया है।

नाट्य-शास्त्र के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त भारतेन्दु ने 'नाटक' निबन्ध लिखकर नाटक का सैद्धान्तिक विवेचन भी किया है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर-अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक एवं मौलिक नाटकों की रचना ही नहीं की, अपितु उन्हें रंगमंच पर खेलकर भी दिखाया है। उनके नाटकों

में जीवन और कला, सुन्दर और शिव, मनोरंजन और लोक-सेवा का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनकी शैली सरलता, रोचकता एवं स्वभाविकता के गुणों से परिपूर्ण है। भारतेन्दु अद्वितीय प्रतिभा के धनी थे। सबसे बड़ी बात यह है कि वे अद्‌भुत नेतृत्व-शक्ति से युक्त थे। वे साहित्य के क्षेत्र में प्रेरणा के स्रोत थे। फलतः अपने युग के साहित्यकारों और नाटक तथा रंगमंच की गतिविधियों को प्रभावित करने में सफल रहे। इसके परिणामस्वरूप प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, लाला श्रीनिवास, देवकी नन्दन खत्री आदि बहुसंख्यक नाटककारों ने उनके प्रभाव में नाट्य रचना की। यह भी विचारणीय है कि भारतेन्दु मण्डल के नाटककारों ने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, चरित्र प्रधान राजनैतिक आदि सभी कोटियों के नाटक लिखे। इस युग में लिखे गये नाटक परिमाण और वैविध्य की दृष्टि से विपुल हैं। यहाँ मुख्य धाराओं का परिचय प्रस्तुत है:

(क) पौराणिक धारा—इसकी तीन उपधाराएँ—(1) रामचरित संबंधी, (2) कृष्णचरित संबंधी तथा (3) अन्य पौराणिक आख्यानक संबंधी हैं। रामचरित संबंधी नाटकों में देवकीनन्दन खत्री-कृत 'सीताहरण' (1876) और 'रामलीला' (1879), शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'रामचरित्र नाटक' (1891) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण चरित संबंधी नाटकों में अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'ललिता' (1884), हरिहरदत्त दूबे-कृत 'महारास' (1885) और 'कल्पवृक्ष' तथा सूर्यनारायण सिंह कृत 'श्यामानुराग नाटिका' (1899) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण-परिवार के व्यक्तियों के चरित्र से संबंधी नाटकों में चन्द्र शर्मा-कृत 'उषाहरण' (1887), कार्तिक प्रसाद खत्री-कृत उषाहरण (1892) और अयोध्यासिंह उपाध्याय-कृत 'प्रद्युम्न-विजय' (1893) तथा 'रुक्मणी परिणय' (1894) हैं। पौराणिक आख्यानकों से संबंधी गजराजसिंह-कृत 'द्रोपदी हरण' (1882), श्री निवासदास-कृत 'प्रींद चरित्र' (1888), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'नल-दमयन्ती स्वयंवर' (1895) और शालिग्राम लाल-कृत अभिमन्यु (1898) प्रसिद्ध हैं।

(ख) ऐतिहासिक धारा—ऐतिहासिक नाटक-धारा 'नीलदेवी' से प्रारम्भ होती है। ऐतिहासिक नाटकों में श्रीनिवासदास-कृत 'संयोगिता स्वयंवर' (1886), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'अमर सिंह राठौर' (1895) और राधाकृष्ण दास-कृत 'महाराणा प्रताप' (1896) ने विशेष ख्याति प्राप्त की।

(ग) समस्या-प्रधान धारा—भारतेन्दु ने अपने सामाजिक नाटकों और प्रहसनों में नारी समस्या को जिस ढंग से उठाया था, वहीं उनके मण्डल के सभी नाटककारों पर छाया रहा। प्राचीन आदर्शों के अनुरूप उनमें पतिनिष्ठा की प्रतिष्ठा

की गई और नवीन भावनाओं के अनुरूप, बाल-विवाह-निषेध, पर्दा-प्रथा का विरोध और विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया गया। श्री राधाचरणदास-कृत 'दु:खिनी बाला' (1880), प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'कलाकौतुक' (1886), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1913), काशी नाथ खत्री-कृत 'विधवा विवाह' (1899) बाबू गोपालराम गहमरी-कृत 'विद्या विनोद' आदि नाटक नारी-समस्याओं को केन्द्र-बिन्दु मानकर लिखे गये। इन समस्या-प्रधान नाटकों का मूलस्वर समाज-सुधार है। इस युग में जो तीव्र संघर्ष सामाजिक स्तर पर सुधारवाद की भावना से हो रहा था, वैसा इस काल के नाटकों में नहीं दिखाई देता। इनमें नाटक के नाम पर समस्याओं का वर्णन मात्र हुआ है। फिर भी इनमें सामाजिक जागरूकता मुख्य हुई है। इसमें संदेह नहीं कि ये अपने इसी स्वरूप में आगे के नाटकों के लिए कड़ी या आधार रहे।

(घ) प्रेम-प्रधान-धारा–रीतिकाल की शृंगारिक प्रवृत्ति भारतेन्दु-युग की कविताओं में ही नहीं नाटकों में भी देखने को मिल जाती है। प्रेम-प्रधान रोमानी नाटकों में श्रीनिवास दास-कृत 'रणधीर प्रेममोहनी' (1877), किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'मयंक मंजरी' (1891) और 'प्रणयिनी परिणय' (1890), खड्ग बहादुरमल्ल-कृत 'रति कुसुमायुध' (1885) शालिग्राम शुक्ल-कृत लावण्यवती' सुदर्शन (1892) तथा गोकुलनाथ शर्मा-कृत 'पुष्पवती' (1899) उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन नाटकों में उपदेशों की भी सर्वत्र भरमार है, जिनमें समय का सदुपयोग, वेश्या से घृणा, छोटे-बड़े के भेद की व्यर्थता, भाग्यवाद में विश्वास आदि विषयों पर भी उपदेश दिये गये हैं, फिर भी इन नाटकों की विषय-वस्तु तथा अभिप्राय रोमांटिक हैं।

(च) राष्ट्रीय प्रहसन धारा–राष्ट्रीय और व्यंग्यात्मक नाटकों की परम्परा 'नीलदेवी', 'भारत दुर्दशा' आदि द्वारा चलाई गई थी। उसका मूल कारण सांस्कृतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से उपस्थित सक्रांति-काल ही था। प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृति की टकराहट से नवजागरण का आलोक विकीर्ण हो रहा था। भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने इस जागरण को अभिव्यक्त करने के लिए प्रहसनों को चुना। इस युग में राष्ट्रीय विचारधारा को उजागर करने वाले, खड्गबहादुर मल्ल-कृत 'भारत आरत' (1885), अम्बिका दास व्यास-कृत 'भारत-सौभाग्य' (1887), गोपाल राम गहमरी-कृत 'देश-दशा' (1892), देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत 'भारत हरण' (1899) आदि नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में देश की तत्कालीन दुर्दशा का चित्र खींचा गया है। आलोच्य युग के अनेक सफल

प्रहसनों में से बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1877) और 'प्रचार बिडम्बना' (1899), विजयानन्द त्रिपाठी-कृत 'महा अंधेर नगरी' (1893), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'बूढ़े मुंह मुहासे' (1886), राधाकृष्ण दास-कृत 'देशी कुतिया विलायती बोल' आदि प्रहसनों को विशेष प्रसिद्ध प्राप्त हुई। नवीन वैचारिक आलोक के फलस्वरूप इन प्रहसनों में प्राचीन रूढियों, घिसी हुई परम्पराओं और अंध-विश्वासों पर व्यंग्य किया गया है तथा समाज के महंतों और कुटिल जनों पर प्रहार किये गये हैं।

आलोच्य युग के नाटक साहित्य का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि इस युग के नाटक विषय वैविध्य में पूर्ण हैं। भारतेन्दु युग के नाम से अभिहित इस संक्रांति काल में अनेक युग प्रश्नों यथा-कर, आलस्य, पारस्परिक फूट, मद्यपान, पाश्चात्य-सभ्यता का अन्धानुकरण, धार्मिक अंधविश्वास, पाखंड, छुआ-छूत, आर्थिक शोषण, बाल विवाह, विधवा-विवाह, वेश्या गमन आदि को नाटकों का विषय बनाया गया। ऐसा नहीं है कि किसी एक नाटक में इनमें से एक या दो बातों को लिया गया हो, पर अवसर पाते ही सभी बातें एक ही नाटक में गुम्फित हुई हैं। इससे कथानक में भले ही शिथिलता आ गई हो किंतु जनजीवन की विसंगति अवश्य स्पष्ट हो जाती है। नाटकों में प्रधान रूप से समाज में व्याप्त अशांति और व्यग्रता का चित्रण हुआ है। नाटककार अपने युग के प्रति बड़े सजग दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने भारत का अध:पतन अपनी आँखों से देखा था। चारों ओर रूढ़िग्रस्त, निष्क्रिय और मानसिक दासता में जकड़ी हुई जनता, पाश्चात्य सभ्यता का दूषित प्रभाव, भ्रष्ट राजनीति, हृदयविदारक आर्थिक अवस्था आदि ने उनके हृदय में सुधारवादी और राष्ट्रीय विचारों का उद्रेक किया। फलस्वरूप नाटकों में राष्ट्रीय जीवन को उन्नत बनाने के अनेक उपाय संकेतित हुए हैं। इनकी वाणी में नवोदित भारत की आकांक्षाओं का स्वर प्रतिध्वनित होता है।

शास्त्रीय दृष्टि से भारतेन्दु-कालीन नाटक संस्कृत-नाट्यशास्त्र की मर्यादा की रक्षा करते हुए लिखे गये। साथ ही पाश्चात्य नाट्य शास्त्र का प्रभाव भी इन पर लक्षित होता है। पाश्चात्य ट्रेजडी की पद्धति पर दु:खान्त नाटक लिखने की परम्परा भारतेन्दु के 'नीलदेवी' नाटक से प्रारम्भ हुई। इस युग के नाटक एक ओर पारसी कम्पनियों की अश्लीलता और फूहड़पन की प्रतिक्रिया थे, तो दूसरी ओर पाश्चात्य और पूर्व की सभ्यता की टकराहट के परिणाम। इसलिए उनमें अविचारित पुरानापन या अविचारित नयापन कहीं नहीं है। अभिनेयता की दृष्टि से ये नाटक अत्यधिक सफल हैं। भारतेन्दु और उनके सहयोगी स्वयं नाटकों में

भाग लेते थे और हिन्दी रंगमंच को स्थापित करने के लिए उत्सुक थे। नाटकों के माध्यम से जनता को वे जागरण का और आने वाले युग का सन्देश देना चाहते थे। इसी कारण भारतेन्दु-काल में विरचित ये नाटक सुदृढ़ सामाजिक पृष्ठभूमि पर अवस्थित थे।

अनूदित प्रस्तुत संदर्भ में भारतेन्दु युगीन, नाटकों पर विचार कर लेना भी समीचीन होगा। इस युग में संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध नाटकों के हिन्दी में अनुवाद किए गए। अनुवाद की परम्परा भी भारतेन्दु से ही प्रारम्भ हुई थी। जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। उनके अतिरिक्त भी अनेक लेखक संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटक अनूदित करने में संलग्न रहे।

द्विवेदीयुगीन नाटक

भारतेन्दु के अनन्तर साहित्य का जो दूसरा उत्थान हुआ, उसके प्रमुख प्रेरणा-केन्द्र महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। हिन्दी नाटकों के ऐतिहासिक विकास-क्रम में पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान भारतेन्दु की तुलना में इतना नगण्य है कि नाटक के क्षेत्र में द्विवेदी-युग को अलग से स्वीकार करना और महत्त्व प्रदान करना औचित्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता है। भारतेन्दु के अवसान के साथ नाटक के ह्रास के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। अपने युग की समस्याओं को नाट्यरूप प्रदान करने का जो अदम्य साहस भारतेन्दु युग के लेखकों में दिखाई पड़ा था उसके दर्शन द्विवेदी-युग में नहीं होते। इसके कई कारण थे। प्रथम तो हिन्दी के नाटककारों में नाटक के सूक्ष्म नियमों एवं विधियों की योजना की क्षमता न थी। दूसरे, नाटकों के इस उदयकाल की सामाजिक स्थिति विक्षोभ पैदा करने वाली थी। इस प्रवृति ने कुछ कर बैठने की प्रेरणा तो दी, किन्तु भावों और विचारों को घटनाओं के साथ कलात्मक ढंग से नियोजित करने के लिए मानसिक सन्तुलन नहीं प्रदान किया। तीसरे, आर्य समाज के आन्दोलन के लेखकों पर सुधारवादी जीवन दृष्टि और शास्त्रार्थ शैली का प्रभाव पड़ा, जो निश्चय ही नाटकों के कलात्मक विकास में बाधक हुआ। चौथे, पाश्चात्य 'कॉमेडी' के अंधानुकरण के कारण भारतेन्दु के उपरान्त हिन्दी साहित्य में प्रहसनों की प्रवृत्ति भी पनप उठी। प्रहसनों की वृद्धि ने साहित्यिक एवं कलात्मक अभिनयपूर्ण नाटकों की रचना में व्याघात उपस्थित किया। पाँचवें, द्विवेदी-युग नैतिकता और सुधार का युग था। नैतिकता और आदर्श के प्रतिस्थापन में उनकी दृष्टिकोण संस्कृत के नाटककारों की भांति उदारवादी था अतएव भारतेन्दु-युग की नवीनता परवर्ती युग के स्वभाव

के अनुकूल न थी। अतः कठोर नीतिवादी अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद के फलस्वरूप द्विवेदी-युग, भारतेन्दु-युग की परम्परा को अग्रसर नहीं कर सका।

उपर्युक्त सभी कारणों के फलस्वरूप आलोच्य युग में मौलिक नाटकों की संख्या अत्यल्प है। अनुवाद-कार्य पर अधिक बल रहा है। मौलिक नाटकों में साहित्य की दो धाराएं प्रमुख हैं–

(1) साहित्यिक नाटक (शौकिया रंगमंच),

(2) मनोरंजन प्रधान नाटक (व्यावसायिक पारसी रंगमंच)

साहित्यिक नाट्य धारा को विकसित करने के उद्देश्य से अनेक नाटक मंडलियों की स्थापना की गई। जेसे प्रयाग की 'हिन्दी नाटक मण्डली', कलकत्ते की नागरी नाटक मंडल' मुजफ्फरनगर की 'नवयुवक समिति' आदि। इनमें 'हिन्दी नाट्य-समिति' सबसे अधिक पुरानी थी। सन् 1893 ई. में यह 'रामलीला नाटक मंडली' के रूप में स्थापित हुई थी। इसके संस्थापकों में प्रमुख थे–पंडित माधव शुक्ल जो स्वयं अच्छे अभिनेता और रंगकर्मी थे और जिन्होंने राष्ट्रीयता चेतना प्रचार-प्रसार के लिए नाटकों को सशक्त माध्यम बनाया था। किन्तु हिन्दी रंगमंच समुचित साधन और संरक्षण के अभाव में तथा जनता की सस्ती रुचि के कारण अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाया। फलतः नाटक का साहित्यिक रूप ही सामने आया। संख्या की दृष्टि में आलोच्यकाल में लिखे गये नाटक कम नहीं हैं, किन्तु मौलिक नाटकों के नाम पर ऐतिहासिक पौराणिक प्रसंगों को ही नाटकों में या कथोपकथन में परिवर्तित कर दिया गया। अध्ययन की सुविधा के लिए आलोच्य युग के नाटकों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक उपादानों पर रचित नाटक, रोमांचकारी नाटक, प्रहसन और अनूदित नाटक।

पौराणिक नाटक

हृदय की वृत्तियों की सत्त्व की ओर उन्मुख करने का प्रयास भारतेन्दु-युग के नाटकों में बहुत पहले से होता आ रहा था। द्विवेदी-युग से इन वृत्तियों के उत्कर्ष के लिए पौराणिक आख्यानों का निःसंकोच ग्रहण किया गया। आलोच्य युग में पौराणिक नाटकों के तीन वर्ग देखने को मिलते हैं–कृष्णचरित-संबंधी, रामचरित संबंधी तथा अन्य पौराणिक पात्रों एवं घटनाओं से संबंधित। कृष्ण चरित संबंधी नाटकों में राधाचरण गोस्वामी कृत 'श्रीदामा' (1904), ब्रज नन्दन सहाय-कृत 'उद्धव' (1909), नारायण मिश्र-कृत 'कंसवध' (1910), शिव

नन्दन सहाय-कृत 'सुदामा।' (1907) और बनवारी लाल-कृत 'कृष्ण तथा कंसवध' (1910) को विशेष ख्याति प्राप्त है। रामचरित-संबंधी नाटकों में रामनारायण मिश्र-कृत 'जनक बड़ा' (1906) गिरधर लाल-कृत 'रामवन यात्रा' (1910) और गंगाप्रसाद-कृत 'रामाभिषेक' (1910), नारायण सहाय-कृत 'रामलीला' (1911) और राम गुलाम लाल-कृत 'धनुषयज्ञ लीला (1912), उल्लेखनीय हैं। अन्य पौराणिक घटनाओं से संबंधित नाटकों में महावीर सिंह का 'नल दमयन्ती' (1905), सुदर्शनाचार्य का 'अनार्थ नल चरित' (1906), बांके बिहारी लाल का 'सावित्री नाटिका' (1908), बालकृष्ण भट्ट का 'बेणुसंहार' (1909), लक्ष्मी प्रसाद का 'उर्वशी' (1907) और हनुमंतसिंह का 'सती चरित' (1910), शिवनन्दन मिश्र का 'शकुन्तला' (1911), जयशंकर प्रसाद का 'करुणालय (1912) बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवन दहन' (1915), माधव शुक्ल का 'महाभारत-पूर्वार्द्ध' (1916), हरिदास माणिक का 'पाण्डव-प्रताप' (1917) तथा माखन लाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध (1918) महत्त्वपूर्ण हैं।

इन नाटकों का विषय पौराणिक होते हुए भी पारसी रंगमंच के अनुरूप मनोरंजन करने के लिए हास-परिहास, शोखी और छेड़-छाड़ के वातावरण का ही आधार ग्रहण किया गया है।

ऐतिहासिक नाटक

पौराणिक नाटकों के साथ ही इस काल में कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे गए जिनमें–गंगाप्रसाद गुप्त का 'वीर जय माल' (1903), शालिग्राम कृत 'पुरु विक्रम' (1905), वृन्दावन लाल वर्मा का 'सेनापति ऊदल' (1909), कृष्ण प्रकाश सिंह कृत 'पन्ना' (1915), बद्रीनाथ भट्ट कृत 'चन्द्रगुप्त' (1915), हरिदास माणिक-कृत 'संयोगिता हरण' (1915), जयशंकर प्रसाद का 'राज्यश्री' (1915) और परमेश्वरदास जैन का 'वीर चूड़ावत सरदार' (1918) महत्त्वपूर्ण हैं। इन नाटकों में प्रसाद के 'राज्यश्री' नाटक को छोड़कर और किसी भी नाटक में इतिहास-तत्त्व की रक्षा नहीं हो सकी।

सामाजिक-राजनैतिक समस्यापरक नाटक

द्विवेदी-युग में भारतेन्दु-युग की सामाजिक-राजनीतिक और समस्यापरक नाटकों की प्रवृत्ति का अनुसरण भी होता रहा है। इस धारा के नाटकों में प्रताप नारायण मिश्र-कृत 'भारत दुर्दशा' (1903) भगवती प्रसाद-कृत 'वृद्ध विवाह'

(1905), जीवानन्द शर्मा-कृत 'भारत विजय' (1906), रुद्रदत शर्मा-कृत 'कंठी जनेऊ का विवाह' (1906), कृष्णानन्द जोशी-कृत 'उन्नति कहाँ से होगी' (1915), मिश्र बन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' (1915) आदि कई नाटक गिनाए जा सकते हैं। नाट्यकला की दृष्टि से विशेष महत्त्व न रखते हुए भी ये नाटक, समाज सुधार और नैतिकवादी जीवन दृष्टि से युक्त हैं।

व्यवसायिक दृष्टि से लिखे नाटकसम्पादन

इस युग में पारसी रंगमंच सक्रिय रहा जिसके लिए निरन्तर रोमांचकारी, रोमानी और धार्मिक नाटक लिखे जाते रहे। पारसी नाटक कम्पनियों के रूप में व्यवसायी रंगमंच का प्रसार भारतेन्दु-युग में ही हो चुका था। इस काल में 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी', 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी', 'एल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी', 'शेक्सपीयर थिटेट्रिकल कम्पनी', 'जुबिली कम्पनी' आदि कई कम्पनियां 'गुलबकावली', 'कनकतारा', 'इन्दर सभा', 'दिलफरोश', 'गुल फरोश', 'यहूदी की लड़की', जैसे–रोमांचकारी नाटक खेलती थी। रोमांचकारी रंगमंचीय नाटककारों में मोहम्मद मियाँ रादक', हुसैन मियाँ 'जर्राफ', मुन्शी विनायक प्रसाद 'तालिब', सैयद मेंहदी हसन 'अहसान', नारायण प्रसाद बेताब', आगा मोहम्मद हश्र' और राधेश्याम 'कथावाचक' उल्लेखनीय हैं। इनमें राधेश्याम कथावाचक और 'बेताब' ने सुरुचिपूर्ण धार्मिक-सामाजिक नाटक भी लिखे, किन्तु पारसी रंगमंच का सारा वातावरण दूषित ही रहा, जिसने द्विवेदी-युग में नाट्य लेखन की धारा को कुंठित कर दिया।

प्रहसन

इस काल में अनेकानेक स्वतंत्र प्रहसन भी लिखे गये। अधिकांश प्रहसन लेखकों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव है, इसलिए वे अमर्यादित एवं mPí"a[ky हैं। प्रहसनकारों में बदरीनाथ भट्ट एवं जी. पी. श्रीवास्तव के नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। भट्ट जी के 'मिस अमेरिका', 'चुंगी की उम्मीदवारी', 'विवाह विज्ञापन', 'लबड़धोंधों' आदि शिष्ट-हास्यपूर्ण प्रहसन हैं। जी.पी. श्रीवास्तव ने छोटे-बड़े अनेक प्रहसन लिखे हैं। इन प्रहसनों में सौष्ठव और मर्यादा का अभाव है।

अनूदित नाटक

मौलिक नाटकों की कमी द्विवेदी-युग में अनूदित नाटकों द्वारा पूरी की गई। सामाजिक तथा राजनीतिक अशान्ति के इस वातावरण में लेखकों को हिन्दी

नाटक-साहित्य की हीनता स्पष्ट दिखाई देती थी। अतः कुछ थोड़े उदात्तवादी परम्परा के लोगों का ध्यान संस्कृत नाटकों की ओर गया, परन्तु अधिकांश का अध्ययन बंगला तथा पाश्चात्य नाटकों की ओर ही अधिक था।

संस्कृत से लाला सीताराम ने 'नागानन्द', 'मृच्छकटिक', 'महावीरचरित', 'उत्तररामचरित', मालती माधव' और 'मालविकाग्निमित्र' और सत्यनारायण कविरत्न ने 'उत्तररामचरित' का अनुवाद किया। अंग्रेजी से शेक्सपीयर के नाटकों 'हेमलेट', 'रिचर्ड' द्वितीय', 'मैकवेथ' आदि का हिन्दी में अनुवाद भी लाला सीताराम ने किया। फ्रांस के प्रसिद्ध नाटककार ओलिवर' के नाटकों को लल्लीप्रसाद पांडेय और गंगाप्रसाद श्रीवास्तव ने अंग्रेजी के माध्यम से अनूदित किया।

बंगला नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत करने वालों में गोपालराम गहमरी स्मरणीय हैं। उन्होंने 'बनवीर' 'बभ्रुवाहन', 'देश दशा', 'विद्याविनोद', 'चित्रागंदा' आदि बंगला नाटकों के अनुवाद किये। बंगला नाटकों के अन्य समर्थ अनुवादक रामचन्द्र वर्मा तथा रूप नारायण पांडेय हैं। उन्होंने गिरीशचन्द्र घोष, द्विजेन्द्र लाल राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मनमोहन गोस्वामी, ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुर तथा क्षीरोद प्रसाद के नाटकों का अनुवाद किया। पांडेय जी के अनुवाद बड़े सफल हैं, उनमें मूल नाटकों की आत्मा को अधिक सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है।

इसी प्रकार भारतेन्दु-युग तथा प्रसाद-युग को जोड़ने वाले बीच के लगभग 25-30 वर्षों में कोई उल्लेखनीय नाटक नहीं मिलता। भले ही प्रसाद-युगीन नाटककारों की आरम्भिक नाट्य कृतियाँ द्विवेदी-युग की सीमा में आती हैं, परन्तु आगे चलकर उनकी नाट्य कृतियों में जो वैशिष्ट्य आता है, वह उन्हें द्विवेदी-युग के लेखकों से पृथक्क् कर देता है। द्विवेदी-युग में हिन्दी रंगमंच विशेष सक्रिय नहीं रहा। इस युग में बद्रीनाथ भट्ट ही अपवादस्वरूप एक ऐसे नाटककार थे, जिन्होंने नाटकीय क्षमता का परिचय दिया है, किन्तु इनके नाटक भी पारसी कम्पनियों के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। उनमें उत्कृष्ट साहित्यिक तत्त्व का अभाव है।

प्रसाद-युगीन नाटक

प्रसाद का आगमन नाट्य रचना में व्याप्त गतिरोध को समाप्त करने वाले युग-विधायक व्यक्ति के रूप में हुआ। उन्होंने एक प्रवर्त्तक के रूप में कविता, नाटक तथा निबंध आदि सभी क्षेत्रों में युग का प्रतिनिधित्व किया। डॉ. गुलाबराय

का कहना है, 'प्रसाद जी स्वयं एक युग थे।' उन्होंने हिन्दी नाटकों में मौलिक क्रांति की। उनके नाटकों को पढ़कर लोग जितेन्द्र लाल के नाटकों को भूल गये। वर्तमान जगत के संघर्ष और कोलाहलमय जीवन से ऊबा हुआ उनका हृदयस्थ कवि उन्हें स्वर्णिम आभा से दीप्त दूरस्थ अतीत की ओर ले गया। उन्होंने अतीत के इतिवृत्त में भावना का मधु और दार्शनिकता का रसायन घोलकर समाज को एक ऐसा पौष्टिक अवलेह दिया, जो ह्रास की मनोवृत्ति को दूर कर उसमें एक नई सांस्कृतिक चेतना का संचार कर सके। उनके नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय की सी ऐतिहासिकता और रवि बाबू की-सी दार्शनिकतापूर्ण भावुकता के दर्शन होते हैं।

प्रसाद की आरम्भिक नाट्य कृतियाँ—सज्जन (1910), 'कल्याणी परिणय (1912), प्रायश्चित (1912), करुणालय (1913) और राज्यश्री (1918), द्विवेदी-युग की सीमा के अंतर्गत आती हैं। प्रसाद के इन नाटकों में उनका परम्परागत रूप तथा प्रयोग में भटकती हुई नाट्य दृष्टि ही प्रमुखता से उभर कर सामने आती है। नाटक रचना का प्रारम्भिक काल होने के कारण इन कृतियों में प्रसाद की नाट्य कला का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया है, वह अपनी दिशा खोज रही है। यह दिशा उन्हें विशाख (1921), अजातशत्रु (1922), कामना (1927), जनमेजय का नागयज्ञ (1926) स्कन्दगुप्त (1928), एक घूँट (1930), चन्द्रगुप्त (1931) और ध्रुवस्वामिनी (1933) में प्राप्त हुई। इन नाटकों में प्रसाद जी ने अपनी गवेषणा शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया।

'सज्जन' का कथानक महाभारत की एक घटना पर आधारित है। इस नाटक में प्रसाद जी ने परम्परागत मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भारतेन्दु-कालीन नाट्य-प्रणाली को अपनाया है। 'कल्याणी—परिणय' भी प्रसाद का प्रारम्भिक प्रयास है, जिसका अंतर्भाव उन्होंने बाद में 'चन्द्रगुप्त' के चतुर्थ अंक के रूप में किया है। 'करुणालय' बंगला के 'अमित्राक्षर अरिल्ल छंद' की शैली पर लिखा गया गीति-नाट्य है। 'प्रायश्चित' हिन्दी का प्रथम दुखांत मौलिक रूपक है। शिल्प-विधान की दृष्टि से प्रसाद ने इसमें सर्वप्रथम पाश्चात्य नाट्य-शिल्प को अपनाने का प्रयास किया है। सही अर्थों में 'राज्यश्री' प्रसाद का प्रथम उत्कृष्ट ऐतिहासिक नाटक है। 'विशाख' प्रसाद की पूर्ववर्ती और परवर्ती नाटकों में एक विभेदक रेखा है। इनका कथानक साधारण होते हुए भी देश की तत्कालीन राजनैतिक धार्मिक और सामाजिक समस्याओं की अभिव्यक्ति से ओत-प्रोत है यद्यपि प्रसाद के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक ही हैं, परन्तु

इतिहास की पीठिका में वर्तमान की समस्याओं को वाणी देने का विचार प्रसाद ने सर्वप्रथम इसी नाटक में व्यक्त किया है। भूमिका में वे लिखते हैं मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है। जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने में बहुत प्रयास किया है और वह वर्तमान स्थिति परतंत्र भारत के राजनैतिक सामाजिक परिवेश से जुड़ी हुई थी। अपनी सत्ता को स्थानयी बनाये रखने के लिए ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीयों में फूट डालने के लिए अपनाये गये साम्प्रदायिकता, प्रांतीयतावाद के हथकण्डे प्रसाद से छिपे नहीं थे। अतः इतिहास की पीठिका पर उन्होंने वर्तमान के इन प्रश्नों को यथार्थ की दृष्टि से उठाते हुए समन्वयवादी आदर्श समाधान प्रस्तुत किये। युगीन साम्प्रदायिक प्रभावों को आत्मसात करते हुए प्रसाद ने अपने नाटकों में ब्राह्मण-बौद्ध धार्मिक संघर्षों को रूपायित किया है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक आर्यों और नागजति तथा आर्य-नाग-संघर्ष की पृष्ठभूमि में रचा गया है।

'अजातशत्रु' में आर्य जनपदों का पारस्परिक संघर्ष परोक्ष रूप में युगीन साम्प्रदायिक संघर्षों का ही प्रतिरूप है। इस प्रकार अपनी इन प्रौढ़ कृतियों में प्रसाद ने जातीय, क्षेत्रीय तथा वैयक्तिक भेदों को मिटाकर व्यापक राष्ट्रीयता का आह्वान किया है। इस दृष्टि से 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'कामना' और 'एक घूंट' भिन्न कोटि के नाटक हैं। इनकी कथावस्तु ऐतिहासिक नहीं है। कथ्य की दृष्टि से भी ये भिन्न हैं। इनमें प्रसाद ने भौतिक विलासिता का विरोध किया है। 'कामना' में विभिन्न भावों को पात्र रूप में प्रस्तुत किया गया है, इसलिए उसे प्रतीक नाटक कहा जा सकता है। 'एक घूट' एकांकी है और उसमें प्रसाद ने यथार्थ और आदर्श की स्थिति, जीवन का लक्ष्य और स्त्री-पुरुष की प्रेम-भावना के सामंजस्य को चित्रित किया है। 'ध्रुवस्वामिनी प्रसाद की अन्तिम कृति है। अन्य नाटकों में प्रसाद विशेष रूप से राजनैतिक प्रश्नों के यथार्थ से जूझते रहे हैं, परन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' में सामाजिक जीवन की वर्तमान युगीन नारी समस्या पर बौद्धक विचार विमर्श कर यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया है। नारी-जीवन की इस सामाजिक समस्या के प्रति प्रसाद का आकर्षण वर्तमान नारी-आन्दोलन का ही परिणाम है। आज के समाज में नारी की स्थिति, दासता की शृंखला से उसकी मुक्ति, विशिष्ट परिस्थितियों में पुर्नविवाह की समस्या को बड़े साहस, संयम, तर्क और विचार एवं धर्म की पीठिका पर स्थित करके इस नाटक में सुलझाया गया है।

स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने हिन्दी नाटक की प्रवाहयान धारा को एक नए मोड़ पर लाकर खड़ा किया। वे एक सक्षम साहित्यकार थे। उनके हृदय में भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध ममता थी। उन्हें विश्वास था कि भारतीय संस्कृति ही मानवता का पथ प्रशस्त कर सकती है। इसी कारण अपने नाटकों द्वारा प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति के भव्य रूप की झांकी दिखाकर राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ अपने देश के अधुनातन निर्माण की पीठिका भी प्रस्तुत की है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में जिस प्राचीन भारतीय संस्कृति की स्मृति को भारत की सोई हुई जनता के हृदय में जगाया था, प्रसाद ने नाटकों में उसी संस्कृति के उदात्त और मानवीय रूप पर अपनी भावी संस्कृति के निर्माण की चेतना प्रदान की। पर यह समझना भी भूल होगी कि उन्होंने केवल भारतीय संस्कृति के गौरव-गान के लिए ही नाटकों की रचना की। वस्तुतः उनका नाट्य साहित्य ऐतिहासिक होते हुए भी सम-सामयिक जीवन के प्रति उदासीन नहीं है, वह प्रत्यक्ष को लेकर मुखर है और उनमें लोक-संग्रह का प्रयत्न है, राष्ट्र के उद्‌बोधन की आकांक्षा है।

प्रसाद से पूर्व साहित्यिक नाटकों का अभाव था। जिस समय भारतेन्दु ने नाटक-रचना की शुरुआत की, उनके सामने पहले से निश्चित, प्रतिष्ठित हिन्दी का कोई रंगमंच न था। अतः उन्होंने संस्कृत, लोकनाटक एवं पारसी रंगमंच शैली की विभिन्न रंगपरम्पराओं को सुधारवादी यथार्थ कथ्य के अनुरूप मोड़ देने का स्तुत्य प्रयास किया। प्रसाद के युग तक नाटकों में पारसी रंगशिल्प का स्वरूप निर्धारित हो चुका था। अतः पारसी रंगमंच की अतिरंजना, चमत्कार, फूहड़ता, शोखभाषा, चुलबुले संवाद, शेरोशायरी के घटियापन की प्रतिक्रिया में प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक, राष्ट्रीय नाटकों की रचना की। दार्शनिकता, सांस्कृतिक बोध, उदात्त कल्पना, काव्यमय अलंकृति, दुरूह भाषा का विन्यास उनकी उपलब्धि था। फिर भी साहित्यिक और कलात्मक वैशिष्ट्य होते हुए भी प्रसाद में नाट्य शिल्प के अनेक दोष दिखाई देते हैं। एक तथ्य यह है कि प्रकारान्तर से उन्होंने अतिरंजना की रूढ़ि को किंचित परिवर्तन के साथ ग्रहण किया। यह परिवर्तन प्रमुखतः शेक्सपीयर के जीवन-बोध एवं रंगविधान के प्रभाव स्वरूप ही आया था। शेक्सपीयर का रोमानी बोध एवं नियतिवाद संभवतः भारतीय युगीन परिवेश के कारण भी स्वतः उद्‌भूत होकर प्रसाद की चेतना पर छा गया था। इन्हीं कारणों से प्रसाद मूलतः कवि, दार्शनिक तथा संस्कृति के जागरूक समर्थक थे। जीवन दृष्टि के अनुरूप उन्होंने अपने नाटकों की रचना स्वच्छन्दतावादी नाट्य-प्रणालियों

को आधार बनाकर कल्पना, भावुकता, सौन्दर्य-प्रेम, अतीत के प्रति अनुराग, उच्चादर्शों के प्रति मोह तथा शैली शिल्प की स्वच्छन्दता आदि को ग्रहण किया। किन्तु ऐसे साहित्यिक नाटकों के अनुरूप रंगमंच हिन्दी में नहीं था। इसलिए अन्य सभी दृष्टियों से सफल होते हुए भी प्रसाद के नाटक अभिनय की दृष्टि से सफल नहीं हो सके। इधर हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में नए प्रयोग हो रहे हैं, जिससे आज के रंगकर्मी, प्रसाद के नाटकों को चुनौती के रूप में स्वीकार करने लगे हैं। उनके नाटकों को इसीलिए सर्वथा अभिनेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें से कुछ छुटपुट रूप से उनके जीवन काल में ही खेले गये थे। फिर भी आकार की विपुलता, दृश्यों की भरमार, चरित्र-बाहुल्य और विलक्षण दृश्य-योजना उनके नाटकों को रंगमंच के लिए अति कठिन बना देती है।

आधुनिक हिन्दी नाटक साहित्य के विकास में जयशंकर प्रसाद के बाद हरिकृष्ण प्रेमी को गौरवपूर्ण स्थान दिया जाता है। प्रसाद-युग में 'प्रेमी' ने 'स्वर्ण-विहान' (1930), 'रक्षाबन्धन' (1934), 'पाताल विजय' (1936), 'प्रतिशोध' (1937), 'शिवासाधना' (1937) आदि नाटक लिखे हैं। इनमें 'स्वर्ण विहान', गीतिनाट्य है और शेष गद्य नाटक। प्रसाद ने जहाँ प्राचीन भारत का चित्रण करते हुए सत्य, प्रेम, अहिंसा व त्याग का संदेश दिया, वहाँ प्रेमी जी ने मुस्लिम-युगीन भारत को नाट्य-विषय के रूप में ग्रहण करते हुए हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। देश के उत्थान और संगठन के लिए इनके नाटक राष्ट्रीय भावना का प्रचार करने वाले हैं। प्रेमी जी प्रसाद की परम्परा के अनुयायी हैं, परन्तु उन्होंने प्रसाद जी की भांति अपने नाटकों को साहित्यिक और पाठ्य ही न रखकर उनको रंगमंच के योग्य भी बनाया है। साहित्यिकता और रंगमंचीयता का समन्वय है उनके नाटकों की विशेषता है। उन्होंने संस्कृत नाट्य परम्परा का अनुसरण न करके पाश्चात्य नाट्यकला को अपनाया है। इन नाटकों के कथानक संक्षिप्त एवं सुगठित, चरित्र सरल एवं स्पष्ट, संवाद पात्रानुकूल एवं शैली सरल व स्वभाविक है।

उपर्युक्त प्रमुख नाट्य कृतियों के अतिरिक्त आलोच्य युग में धार्मिक-पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की रचना अत्यधिक हुई। इन नाटकों में कलात्मक विकास विशेष रूप से नहीं हुआ, किन्तु युग की नवीन प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर कई नाटककारों ने अपनी रचनाओं में नवीन दृष्टिकोण को अपनाया। धार्मिक नाट्यधाराके अन्तर्गत कृष्ण चरित-राम चरित, पौराणिक तथा अन्य सन्त महात्माओं के चरित्रों को लेकर रचनाएँ प्रस्तुत की गईं। इस धारा की उल्लेखनीय

रचनाएँ हैं–अम्बिकादत्त त्रिपाठी कृत 'सीय-स्वयंवर' (1918), रामचरित उपाध्याय-कृत 'देवी द्रौपदी' (1921), राम नरेश त्रिपाठीकृत 'सुभद्रा' (1924) तथा 'जयन्त' (1934), गंगाप्रसाद अरोड़ा-कृत 'सावित्री सत्यवान' गौरीशंकर प्रसाद-कृत–'अजामिल चरित्र नाटक' (1926), पूरिपूर्णानन्द वर्मा-कृत 'वीर अभिमन्यु नाटक' (1927), वियोगी हरि-कृत (1925), 'छद्मयोगिनी' (1929) और 'प्रबुद्ध यामुन' अथवा 'यामुनाचार्य चरित्र' (1929), जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी-कृत 'तुलसीदास' (1934) लक्ष्मीनारायण गर्ग-कृत' श्री कृष्णावतार', किशोरी दास वायपेयी-कृत 'सुदामा' (1934), हरिऔध-कृत 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' (1939), सेठ गोविन्ददास-कृत 'कर्त्तव्य' (1936) आदि। राष्ट्रीय चेतना की प्रधानता होने के कारण धार्मिक नाटकों में भी राष्ट्रीयता का चित्रण हुआ। नाटकों में अति-नाटकीय और अति-मानवता का बहिष्कार किया गया है। प्राचीन रूढ़ियों और मान्यताओं को पूर्ण रूप से हटाने की चेष्टा की गई है। इस प्रकार की रचनाओं में नाटककारों ने प्रायः कथावस्तु प्राचीन साहित्य से लेकर उसी पुराने ढांचे में नई बुद्धवादी धाराओं तथा विचारधाराओं के अनुसार आधुनिक युग की समस्याओं को उनमें फिट कर दिया है।

प्रसाद युग में इतिहास का आधारलेकर अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत की गई। इस समय के नाटककारों की दृष्टि इतिहास की ओर विशेष रूप से गई क्योंकि यह युग पुनरुत्थान और नवजागरणवादी प्रवृत्तियों से अनुप्राणित था। फलतः जन साधारण में अपने गौरवपूर्ण इतिहास तथा अपनी महान सांस्कृतिक चेतना का संदेश देना इन नाटककारों ने अपना कर्त्तव्य समझा। इस काल की गौण ऐतिहासिक कृतियों में गणेशदत्त इन्द्र-कृत 'महाराणा संग्रामसिंह' (1911), भंवरलाल सोनी-कृत 'वीर कुमार छत्रसाल' (1923), चन्द्रराज भण्डारी-कृत 'सम्राट' अशोक (1923) ज्ञानचन्द्र शास्त्री-कृत 'जयश्री' (1924) प्रेमचन्द-कृत 'कर्बला' (1928), जिनेश्वर प्रसाद भायल-कृत 'भारत गौरव' अर्थात् 'सम्राट चन्द्रगुप्त' (1928) दशरथ ओझा-कृत 'चित्तौड़ की देवी' (1928) और प्रियदर्शी सम्राट अशोक (1935), जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द-कृत 'प्रताप प्रतिज्ञा' (1929), चतुरसेन शास्त्री-कृत 'उपसर्ग' (1929) और 'अमर राठौर' (1933) उदयशंकर भट्ट-कृत 'विक्रमादित्य' (1929) और 'दाहर अथवा सिंधपतन' (1943), द्वारिका प्रसाद मौर्य–कृत 'हैदर अली या मैसूर-पतन' (1934), धनीराम प्रेम-कृत 'वीरांगना पन्ना' (1933) जगदीश शास्त्री-कृत 'तक्षशिला' (1937) उमाशंकर शर्मा-कृत 'महाराणा प्रताप' आदि को विशेष ख्याति प्राप्त हुई

है। इन नाटककारों ने आदर्शवादी प्रवृत्ति के बावजूद स्वभाविकता का बराबर ध्यान रखा और कल्पना और मनोविज्ञान की सहायता से प्राचीन काल की घटनाओं और चरित्रों को स्वाभाविकता के साथ चित्रित करने की चेष्टा की। पुरानी मान्यताओं तथा अतिलौकिक वर्णनों के स्थान पर वास्तविक कथा-वस्तु को प्रयोग में लाया गया है। इन चरित्रों में संघर्ष का भी समावेश हुआ। सारांश यह है कि इन नाटकों के कथानक महत् हैं, चरित्र सभी दार्शनिक और आदर्शवादी हैं, शैली कवित्वपूर्ण और अतिरंजित है और नाटकों का वातावरण संगीत और काव्यपूर्ण है। ये नाट्य-कृतियाँ हिन्दी नाट्य-कला विकास का एक महत्त्वपूर्ण चरण पूरा करती हैं।

इस युग में पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा का महत्त्वपूर्ण स्थान तो रहा ही है, इसके अतिरिक्त सामाजिक नाटकोंकी रचना भी बहुतायत से हुई है। सामाजिक नाटकों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' कृत 'अत्याचार का परिणाम' (1921) और 'हिन्द विधवा नाटक' (1935), 'प्रेमचन्द-कृत 'संग्राम' (1922) ईश्वरी प्रसाद शर्मा-कृत दुर्दशा (1922), सुदर्शन-कृत 'अंजना' (1923), 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' (1929) और 'भयानक' (1937), गोविन्दवल्लभ पन्त-कृत 'कंजूस की खोपड़ी' (1923) और 'अंगूर की बेटी' (1929), बैजनाथ चावला-कृत 'भारत का आधुनिक समाज' (1929), नर्मदेश्वरी प्रसाद 'राम'-कृत 'अछूतोद्धार' (1926), छविनाथ पांडेय-कृत 'समाज' (1929), केदारनाथ बजाज-कृत 'बिलखती 'विधवा' (1930), जमनादास मेहरा-कृत 'हिन्दू कन्या' (1932), महादेव प्रसाद शर्मा-कृत 'समय का फेर', बलदेव प्रसाद मिश्र-कृत 'विचित्र विवाह' (1932) और 'समाज सेवक' (1933) रघुनाथ चौधरी-कृत 'अछूत की लड़की या समाज की चिनगारी' (1934), महावीर बेनुवंश-कृत 'परदा' (1936), बेचन शर्मा 'उग्र'-कृत 'चुम्बन' (1937) और डिक्टेटर' (1937), रघुवीर स्वरूप भटनागर-कृत 'समाज की पुकार' (1937), अमर विशारद-कृत 'त्यागी युवक' (1937) चन्द्रिका प्रसाद सिंह-कृत 'कन्या विक्रय या लोभी पिता' (1937) आदि उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में सामाजिक विकृतियों—बाल विवाह, विधवा-विवाह का विरोध, नारी स्वतंत्रता आदि का चित्रण करते हुए उनके उन्मूलन का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। इन नाटकों में समुन्नत समाज की स्थापना का प्रयास किया गया है, भले ही नाट्यकला की दृष्टि से ये नाटक उच्चकोटि के नहीं हैं।

आलोच्य युग में शृंगार-प्रधान नाटकों का प्रायः ह्रास हो गया था। थोड़ी बहुत प्रतीकवादी परम्परा चल रही थी, किन्तु उसकी गति बहुत धीमी थी। प्रतीक का महत्त्व वस्तुतः सांकेतिक अर्थ में है। इस अवधि में प्रसाद की 'कामना' के पश्चात् सुमित्रानन्दन पन्त-कृत ज्योत्स्ना' (1934) इस शैली की उल्लेखनीय रचना है। इसमें पंत की रंगीन कल्पनामयी झांकी का मनोरम स्वरूप व्यक्त होता है। इसके अतिरिक्त एक नाट्य-धारा व्यंग्य-विनोद प्रधान नाटकों को लेकर थी। इसको प्रमुख रूप से समाज की त्रुटियों, रूढ़िगत विचारों अथवा किसी व्यक्ति विशेष की विलक्षण प्रवृत्तियों पर चोट करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार से किसी भी समस्या पर किया हुआ प्रहार ऊपर से तो साधारण-सा प्रतीत होता है, किन्तु तनिक भी ध्यान देने पर उसके पीछे छिपा हुआ अर्थ-गाम्भीर्य स्पष्ट हो जाता है। हास्य-व्यंग्य प्रधान नाटकों में जी.पी. श्रीवास्तव का 'दुमदार आदमी' (1919) गड़बड़ झाला (1919), नाक में दम उर्फ जवानी बनाम बुढ़ापा उर्फ मियां का जूता मियां के सर (1926) भूलचूक (1928), चोर के घर छिछोर (1933) चाल बेढव (1934), साहित्य का सपूत (1934), स्वामी चौखटानन्द (1936) आदि प्रसिद्ध हैं। जनता में इन नाटकों का खूब प्रचार हुआ, परन्तु रस और कला की दृष्टि से ये निम्नकोटि की रचनाएँ हैं। इस युग में कतिपय गीति-नाटकों की भी रचना हुई। इसमें प्रमुख हैं—मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' (1928) हरिकृष्ण प्रेमी-कृत 'स्वर्ण विहान' (1937) भगवतीचरण वर्मा-कृत 'तारा', उदयशंकर भट्ट का मत्स्यगंधा (1937) और विश्वमित्र (1938) आदि उल्लेखनीय है। 'स्वर्ण विहान' में जीवन की बहिरंग व्यवस्था की ओर अधिक ध्यान दिया गया है और अन्य में आन्तरिक क्रिया-व्यापारों का चित्रण है। भाव प्रधान होने के कारण इन नाटकों में कार्य-व्यापार तथा घटना चक्र की कमी मिलती है। भावातिरेक ही भाव-नाट्यों की प्राणभूत विशेषता है।

इस प्रकार प्रसाद-युग हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में नवीन क्रांति लेकर आया। इस युग के नाटकों में राष्ट्रीय जागरण एवं सांस्कृतिक चेतना का सजीव चित्रण हुआ है, किन्तु रंगमंच से लोगों की दृष्टि हट गई थी। जो नाटक इस युग में रचे गये उनमें इतिहास तत्त्व प्रमुख था और रंगमंच से कट जाने के कारण वे मात्र पाठ्य नाटक बनकर रह गए। कथ्य के स्तर पर वे देश की तत्कालीन समस्याओं की ओर अवश्य लिखे गये, किन्तु उनमें आदर्श का स्वर ही प्रमुख रहा। फिर भी इतिहास के माध्यम से अपने युग की यथार्थ समस्याओं को अंकित करने में वे पीछे नहीं रहे।

प्रसादोत्तर-युगीन नाटक

प्रसादोत्तर-युगीन नाटक अधिकाधिक यथार्थ की ओर उन्मुख दिखाई पड़ते हैं। परन्तु भारत के सामने एक विशिष्ट उद्देश्य था राष्ट्र की स्वाधीनता की प्राप्ति और विदेशी शासकों के अत्याचारों से मुक्ति प्राप्त करना, फलस्वरूप व्यापक स्तर पर पुनरुत्थान एवं पुनर्जागरण की लहर फैल गई। इस समूचे काल में पुनर्जागरण की शक्तियों का प्रभाव होने के कारण चेतना के स्तर पर भावुक, आवेशात्मक, आदर्शवादी, प्रवृत्तियों से आक्रांत होना नाटककारों के लिए स्वाभाविक था। यही कारण है कि प्रसादोत्तर काल तक किंचित परिवर्तनों के साथ सभी रचनाकारों की दृष्टि मूलत: आस्था, मर्यादा एवं गौरव के उच्चादर्शों से मंडित रही। भारतेन्दु ने अपनी अद्‌भुत व्यंग्यशक्ति एवं समाज-विश्लेषण की पैनी दृष्टि से सामाजिक यथार्थ का चित्रण किया, परन्तु उनकी मूल चेतना सुधारवादी आग्रहों का परिणाम होने के कारण आस्थामूलक थी। द्विवेदी युग में भी दो दशकों के अनवरत साहित्यिक अनुशासन आदर्शवादी मर्यादा एवं नैतिकता के कठोर बन्धन के कारण यथार्थ के स्वर मिद्धम पड़ गए। प्रसाद युगीन नाटकों की मूलधारा भी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक आदर्श चेतना से संबंधित थी, परन्तु खल पात्रों की चारित्रिक दुर्बलताओं तथा सद् पात्रों की जीवन चरित्र-सृष्टि में यथार्थ चेतना को नकारा नहीं जा सकता। 19वीं शताब्दी में पश्चिमी नाट्य साहित्य में इब्सन् एवं शॉ द्वारा प्रवर्तित यथार्थवादी नाट्यान्दोलन ने भारतीय नाट्य साहित्य की गतिविधियों को भी प्रेरित एवं प्रभावित किया। लक्ष्मी नारायण मिश्र ने समस्या नाटकों का सूत्रपात करके बुद्धवादी यथार्थ को प्रतिष्ठित करने का दावा किया है, परन्तु सिद्धांत एवं प्रयोग में पर्याप्त अन्तर पाते हुए हम देखते हैं कि एक ओर वैचारिक धरातल पर प्रकृतवाद सुलभ जीवन के क्रांतिव्यंजक संबंध उभरते हैं, वहीं दूसरी ओर समाधान खोजते हुए परम्परा के प्रति भावुकता-सिक्त दृष्टि भी पाई जाती है। 'भावात्मकता और बौद्धकता' का घपला होने के कारण उनके नाटकों का मूल स्वर यथार्थ से बिखर जाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व अन्य युगीन सामाजिक समस्याओं के साथ राष्ट्र की मुक्ति का प्रश्न सभी नाटककारों की चेतना पर छाया हुआ था। स्वाधीन भारत से उन्हें अनेक प्रकार की मीठी अपेक्षाएँ थीं, परन्तु विडम्बना यह है कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद जीवन समस्याओं से आक्रांत, बोझिल और जटिल हो उठा। परिवेश के दबाव से ही यथार्थ बोध की शुरुआत हुई।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटक का लेखन प्रसाद-युग में ही प्रारम्भ किया था। उनके अशोक (1927), संन्यासी (1829), 'मुक्ति का रहस्य' (1932), राक्षस का मन्दिर (1932), 'राजयोग' (1934), सिन्दूर की होली (1934), 'आधी रात' (1934) आदि नाटक इसी काल के हैं, किन्तु मिश्र जी के इन नाटकों में भारतेन्दु और प्रसाद की नाट्यधारा से भिन्न प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि भारतेन्दु और प्रसाद-युग के नाटकों का दृष्टिकोण मूलत: राष्ट्रीय और सांस्कृतिक था। यद्यपि इस युग के नाटकों में आधुनिक यथार्थवादी धारा का प्रादुर्भाव हो चुका था। तथापि प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों के द्वारा राष्ट्रीयता का उद्घोष इस युग के नाटककारों का प्रमुख लक्ष्य था। अत: उसे हम सांस्कृतिक पुनरुत्थान की दृष्टि कह सकते हैं, जिनमें प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों और नयी यथार्थवादी चेतना में समन्वय और सन्तुलन परिलक्षित होता है। मिश्र जी नयी चेतना के प्रयोग के अग्रदूत माने जाते हैं। डॉ. विजय बापट के मतानुसार नयी बौद्धक चेतना का विनियोग सर्वप्रथम उन्हीं के तथाकथित समस्या नाटकों में मिलता है। इस बौद्धक चेतना और वैज्ञानिक दृष्टि का प्रादुर्भाव बीसवीं शताब्दी में पश्चिमी चिन्तकों के प्रभाव से हुआ था। डारविन द्वारा प्रतिपादित विकासवादी सिद्धान्त, फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकतावादी सिद्धान्तों ने यूरोप को ही नहीं, भारतीय जीवन पद्धति को भी प्रभावित किया, जिसके फलस्वरूप जीवन में आस्था और श्रद्धा की बजाय तर्क को प्रोत्साहन मिला। पश्चिम में इस प्रकार की बौद्धक चेतना ने समस्या नाटक को जन्म दिया। उन्हीं की प्रेरणा से मिश्र जी ने भी हिन्दी नाटकों में भावुकता, रसात्मकता और आनन्द के स्थान पर तर्क और बौद्धकता का समावेश किया। साथ ही द्रष्टव्य है कि बुद्धवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए भी वे परम्परा-मोह से मुक्त नहीं हो पाए। युगीन मूल्यगत अन्तर्विरोधी चेतना समान रूप से उनके प्रत्येक नाटकों में देखी जा सकती है। इनके नाटकों का केन्द्रीय विषय स्त्री-पुरुष संबंध एवं सेक्स है। राष्ट्रोद्धार, विश्व-प्रेम आदि के मूल में भी मिश्र जी ने काम भावना को ही रखा है, जो परितृप्ति के अभाव में अपनी दमित वृत्ति को देश सेवा आदि के रूप में अभिव्यक्त करती है और प्राय: इस प्रकार परितष्ति' के साधन जुटा लेती है।

मिश्र जी के नाटकों के साथ हिन्दी-नाटक के विषय और शिल्प दोनों में बदलाव आया है। मिश्र जी के सभी नाटक तीन अंकों के हैं। इनमें इब्सन की नाट्य पद्धति का अनुसरण कर किसी भी अंक में बाह्यत: कोई दृष्य विभाजन

नहीं रखा गया है यद्यपि दृष्य-परिवर्तन की सूचना यत्र-तत्र अवश्य दे दी जाती है। प्रेम, विवाह और सेक्स के क्षेत्र में विघटित जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए मिश्र जी ने शिल्पगत नवीनता को अपनाया है। पात्र समस्या के संबंध में तर्कमूलक वाद-विवाद करते हुए दिखाई देते हैं। कार्य-व्यापार के अभाव से इनके नाटकों में रुक्षता आ गई। जिसके फलस्वरूप प्रभावान्विति खण्डित हो गई। रसात्मकता, प्रभावन्विति के स्थान पर बौद्धक आक्रोश और उत्तेजना ही इनके नाटकों में प्रधान है, लेकिन भावुकता के कारण इनके नाटकों का शिल्पगत गठन प्रभावित हुआ है। इस अन्तर्विरोध के रहते हुए भी इनके नाटक अकलात्मक नहीं कहे जा सकते।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' उन नाटककारों में हैं, जिन्होंने प्रसादोत्तर काल में नाट्य परम्परा को निर्भीक और बुनियादी यथार्थ की मुद्रा प्रदान की। काल-क्रम के अनुसार उनके प्रमुख नाटक हैं–'जय-पराजय' (1937), स्वर्ग की झलक' (1938, 'छठा बेटा' (1940), 'कैद' (1943-45), 'उड़ान' (1943-45), 'भंवर' (1943), 'आदि मार्ग' (1950), 'पैतरे' (1952), 'अलग-अलग रास्ते' (1944-53), 'अंजो दीदी' (1953-54), 'आदर्श और यथार्थ' (1954) आदि। अश्क के प्रायः सभी नाटकों में विकसित नाट्य-कला के दर्शन होते हैं। वस्तु-विन्यास की दृष्टि से इनके नाटक सुगठित, स्वाभाविक, सन्तुलित एवं चुस्त बन पड़े हैं। उच्च मध्य वर्गीय समाज की रुढ़ियों, दुर्बलताओं, उनके जीवन में व्याप्त 'कृत्रिमता', दिखावे और ढोंग का पर्दाफाश करना उनके नाटकों का मूलभूत कथ्य है। यह कथ्य समाज के स्थूल यथार्थ से संबंधित है। कथ्य की स्थूलता और सतही प्रगतिशील यथार्थवादिता ही अश्क के नाटकों की सीमा है, तथापि स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के सम्मोहन से हिन्दी नाटक को मुक्त करने का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। उनकी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने जीवन और समाज को एक आलोचक की दृष्टि से देखा है। इनके अनेक नाटक मंचित तथा रेडियो पर प्रसारित हो चुके हैं। इनका योगदान हिन्दी नाटक और रंगमंच के लिए एक विशेष उपलब्धि है।

आलोच्य-युग में कुछ पुराने खेमे के नाटककार यथा–सेठ गोबिन्ददास, लक्ष्मी नारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्द वल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' आदि भी नाट्य साहित्य को समृद्ध करते रहे। सेठ गोविन्ददास के 'कर्ण' (1942), शशि गुप्त (1942) आदि पौराणिक नाटकों और 'हिंसा और अहिंसा' (1940), सन्तोष कहाँ (1941) आदि सामाजिक

नाटकों की रचना की। हरिकृष्ण प्रेमी के 'छाया' (1941) और बन्धक (1940), सामाजिक नाटक हैं। दोनों नाटकों में आर्थिक शोषण एवं विषमता का यथार्थ मुखरित है। ऐतिहासिक नाटकों में 'आहुति' (1940), स्वप्नभंग (1940), विषपान (1945), साँपों की सृष्टि, उद्धार आदि उल्लेखनीय हैं। 'अमृत-पुत्री' (1978), नवीनतम ऐतिहासिक नाटक हैं। गोबिन्द वल्लभ पंत ने आलोच्य युग में 'अन्तःपुर का छिद्र (1940), 'सिन्दूर बिन्दी' (1946) और 'ययाति' (1951) नाटकों की रचना की। पन्त जी ने 'कला के लिए कला' की भावना से प्रेरित होकर नाटकों की रचना अवश्य की है, किन्तु उनके नाटक उद्देश्य से रहित नहीं हैं। उन्होंने जीवन की गहरी उलझनों एवं समस्याओं को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित किया है। पंत ने यद्यपि प्रसाद-युग की परम्परा का निर्वाह किया है, किन्तु उनके परवर्ती नाटकों में सामाजिक चेतना अधिकाधिक मुखर होती गई है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'गरुड़ध्वज' (1945), 'नारद की वीणा', 'वत्सराज' (1950) 'दशाश्वमेघ (1950), 'वितस्ता की लहरें' (1953), 'जगदगुरु', चक्रव्यूह (1953), कवि भारतेन्दु (1955), 'मृत्युञ्ज्य' (1958) चित्रकूट, अपराजित, धरती का हृदय आदि नाटकों की रचना की।

सभी नाटकों में वर्तमान युग के शिक्षित व्यक्तियों की समस्याओं, उनकी संशयात्मक मनः स्थिति, उनकी कुंठाओं और मानसिक विकृतियों का स्वाभाविक और मनोविश्लेषणात्मक चित्रण किया गया है। उदयशंकर भट्ट के नाटकों में 'राधा' (1961), 'अन्तहीन-अन्त' (1942) 'मुक्तिपथ' (1944) 'शक विजय' (1949), कालीदास (1950) 'मेघदूत' (1950), विक्रमोर्वशी (1950), 'क्रांतिकारी' (1953), 'नया समाज' (1955), पार्वती (1962), मत्स्यगंधा (1976) आदि हैं। भट्ट जी के ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों की मूल प्रेरणा राष्ट्रीयता है। इसमें इतिहास और मिथक के बीच में यथार्थ और समस्या का अहसास भी दिखाई देता है। सामाजिक नाटकों के माध्यम से भट्ट जी ने वर्तमान जीवन के व्यक्तिगत एवं समाजगत संघर्षों एवं समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है। जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्दका 'समर्पण' (1950) और 'गौतम नन्द' (1952) ख्याति प्राप्त रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त कई अन्य साहित्यकारों ने भी नाटक के क्षेत्र में अवतरण किया, किन्तु उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। इनमें बैकुण्ठनाथ दुग्गल, वृन्दावनलाल वर्मा, सीताराम चतुर्वेदी, चतुरसेन शास्त्री, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द आदि उल्लेखनीय हैं।

इसी काल में स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटक में परिवर्तन की एक नई स्थिति दिखाई देती है। प्रसादोत्तर नाटक के पहले चरण में यथार्थवादी प्रवृत्ति से अनुप्राणित हुआ और उसके साथ ही समस्यामूलक नाटक का आविर्भाव हुआ। किन्तु स्वतंत्रता के बाद सामाजिक यथार्थ और समस्या के प्रति जागरूकता के साथ-साथ नाटक के क्षेत्र में कथ्य और शिल्प के कई नए आयाम उभरे। इसके अतिरिक्त स्थूल यथार्थ के प्रति नाटककार के दृष्टिकोण में भी अन्तर आया।

युगीन परिवेश के ऐतिहासिक संदर्भों में पाँचवें दशक तक जीवन के समस्या संकुल होने पर भी आम जनता की स्थिति में सुधार और परिवर्तन आने की अभी धुँधली सी आशा दिखाई दे रही थी परन्तु छठे दशक के बाद से मीठे मोहक सपने वालू की भीत की भांति ढह गए, परिवेश का दबाव बढ़ा, मोहासक्ति भंग हुई और आज परिवेशगत यथार्थ अधिक नंगा होकर सामने आ रहा है। यथार्थ बोध का सही अभिप्राय मोहभंग की इस प्रक्रिया से ही जोड़ा जा सकता है। जगदीश चन्द्र माथुर, लक्ष्मी नारायण लाल आदि नाटककारों ने अपनी ऐतिहासिक एवं सामाजिक रचनाओं द्वारा कुछ सीमाओं के साथ यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया। 'जगदीशचन्द्र माथुर' के चार नाटक प्रकाशित हुए हैं–'कोणार्क' (1954), 'पहला राजा' (1969), शारदीया तथा 'दशरथनन्दन'। इन नाटकों में क्रमशः मार्क्स एवं फ्रायड के प्रभावसूत्रों को आत्मसात करते हुए छायावादी रोमानी कथा स्थितियों की सृष्टि करने में माथुर की दृष्टि यथार्थवादी एवं आदर्शवादी, कल्पना तथा स्वच्छन्दतावादी भावुकता को एक साथ ग्रहण करती है। परिणामतः उनके नाटकों में अन्तर्निहित समस्याएं जीवन के यथार्थ को व्याख्यायित करते हुए भी यथार्थवादी कलाशिल्प में प्रस्तुत नहीं हुई हैं। समस्याओं का विश्लेषण एवं विकास बौद्धक एवं तार्किक क्रिया द्वारा प्रेरित नहीं है। कोणार्क में कलाकार एवं सत्ता के संघर्ष की समस्या धर्मपद के तार्किक उपकथनों के माध्यम से विश्लेषित हुई हैं, परन्तु 'शारदीया' एवं 'पहला-राजा' की समस्याएं प्रगतिशील एवं ह्रासशील मूल्यों के संघर्ष की भूमि पर अवतरित होते हुए भी बौद्धक एवं तार्किक प्रक्रिया के अभाव में यथार्थवादी कला की दृष्टि से हमारी चिन्तन शक्ति को उद्‌बुद्ध नहीं करती, क्योंकि माथुर का विशेष बल आन्तरिक अनुभूतियों एवं मानवीय संवेदना को जगाने पर है। फलस्वरूप उन्होंने काव्यात्मकता एवं रसोत्कर्ष के साधनों का सहारा लिया है। अपनी विचारधारा के अनुरूप ही जगदीश चंद्र माथुर ने नाटकीय कला को संस्कृत एवं लोकनाट्य तथा यथार्थवादी मंच की विशेषताओं से अभिमंडित किया है। काव्य-तत्त्व, अलंकरण एवं रस

परिपाक से संबंधी तत्त्व उन्होंने संस्कृत नाटकों से ग्रहण किए हैं। संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व का तत्त्व पाश्चात्य यथार्थवादी नाटक शिल्प का प्रभाव है। संक्षेप में, एक ऐसे मंच की परिकल्पना पर उनका ध्यान केन्द्रित रहा है, जो बहुमुखी हो, एक ही शैली में सीमित नहीं हो, भिन्न-भिन्न सामाजिक आवश्यकताओं और चेतनाओं का परिचायक हो।

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटक ने पाश्चात्य प्रभाव से, जो नये आयाम ग्रहण किए उनकी प्रथम अभिव्यक्ति धर्मवीर भारती के 'अन्धायुग' में प्रकट हुई है। पश्चिम में दो महायुद्धों के बाद नाटक के क्षेत्र में कथ्य और शिल्प के अनेक प्रयोग हुए। इसके साथ ही युद्ध की परिस्थितियों के कारण जीवन मूल्यों में भी जो बड़ा भारी परिवर्तन आया उसकी अभिव्यक्ति भी नाटक में हुई। भारत में समानान्तर सामाजिक परिस्थिति तो नहीं आई किन्तु पश्चिम की विचारधारा का उस पर प्रभाव पड़े बिना न रहा। नई कविता और नई कहानी उससे अनुप्राणित थी ही, हिन्दी नाटक को भी उससे एक दिशा मिली। ऐसी स्थिति में आधुनिक भाव-बोध को उजागर करने का प्रयास हुआऔर धर्मवीर भारती, लक्ष्मी नारायण लाल, मोहन राकेश आदि नाटककारों ने उसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

डॉ. धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' (1955) गीति-नाटक ने हिन्दी गीत नाट्य-परम्परा को एक नया मोड़ दिया है। इसमें नाटककार ने महाभारत के युद्ध को अनीति, अमर्यादा और अर्द्ध-सत्य से युक्त माना है। इसीलिए उन्होंने इस काल को अन्धायुग कहा है। इस नाटक में मिथकीय पद्धति द्वारा विगत और आगत का समन्वय कर, निरन्तरता में आस्था उत्पन्न करने का सघन प्रयास 'भारती' ने किया है। इसमें अस्तित्त्ववादी दर्शन की स्पष्ट झलक मिलती है। 'अन्धायुग' के अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पन्त के 'रजतशिखर', 'शिल्पी' और 'सौवर्ण' में संगृहीत गीतिनाट्य, गिरजाकुमार माथुर का 'कल्पान्तर', सृष्टि की सांझ और अन्य काव्य-नाटक' में संगृहीत सिद्धान्त कुमार के पांच गीतिनाट्य-सृष्टि की साँझ, लोह देवता, संघर्ष, विकलांगों का देश और बादली का शाप तथा दुष्यन्तकुमार के गीतिनाटक 'एक कण्ठ विषपायी' (1963) आदि भी विशेष उल्लेखनीय हैं। डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल के हैं-'अन्धा कुआँ' (1955), 'मादा कैक्टस' (1959), 'तीन आँखों वाली मछली' (1960), 'सुन्दर रस', 'सूखा सरोवर' (1960), रक्त कमल (1961), 'रात रानी' (1962), 'दर्पण' (1963)' 'सूर्यमुख' (1968), 'कलंकी', 'मिस्टर अभिमन्यु' (1971), 'करफ्यू' (1972) आदि। 'अन्धा कुआँ' में आर्थिक संघर्ष के कारण उत्पन्न

ग्राम्य-जीवन के सामाजिक और पारिवारिक द्वन्द्व का चित्रण है। 'मादा कैक्टस', 'सुन्दर रस', 'सूखा सरोवर' और 'रक्त कमल' उनके प्रतीक नाटक हैं। 'तोता मैना' नाटक टेकनीक के नये प्रयोगों को प्रस्तुत करता है। यह नाटक लोकवृत्त पर आधारित है। 'दर्पण' और 'रातरानी' समस्या नाटक हैं। दर्पण में मनुष्य को अपने वास्तविक रूप की तलाश में भटकते हुए दिखाया गया है। 'कलंकी' नाटक में अनेक जटिल प्रश्नों यथा सक्रांति कालीन लोकचेतना को प्रस्तुत करना, आज के समय में भी कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास, देखना, यथार्थ का सामना करने से कतराना आदि को लोकरंगमंचीय संस्कृति, अभिव्यंजनावादी नाट्य-संरचना में प्रस्तुत किया गया है। 'सूर्य-मुख' में महाभारत-युद्ध के बाद की घटना ली गई है। इस नाटक पर 'अन्धायुग' और 'कनुप्रिया' की स्पष्ट छाप है। 'मिस्टर अभिमन्यु' और 'कर्फ्यू' आधुनिक जीवन की संवेदना को लेकर लिखे गये विचारोत्तेजक नाटक हैं। डॉ. लाल अपने चारों ओर के परिवेश और युग जीवन के प्रति सजग हैं। उनका लक्ष्य समाज की विरुपता को संयम और तर्क के साथ चित्रित कर समाज को बदलते जीवन-मूल्यों और नैतिक मानदंडो से अवगत कराना है।

हिन्दी नाटकों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाकर 'मोहन राकेश' ने एक नये युग की स्थापना की है। उनका 'आषाढ़ का एक दिन' (1956), 'लहरों के राजहंस (1963) तथा 'आधे-अधूरे' (1969) नाटक निश्चय ही ऐसे आलोक स्तम्भ हैं, जो सुदूर भविष्य में भी हिन्दी-नाटक को एक नवीन गति-दिशा प्रदान करते रहेंगे। मानवीय संबंधों में विघटन के कारण टूटते हुए व्यक्ति के आभ्यंतर यथार्थ का चित्रण करना इन नाटकों का केन्द्रीय कथ्य एवं मूल स्वर है। 'आषाढ़ का एक दिन' कवि कालिदास और उसकी बाल-संगिनी मल्लिका के प्रेम और संघर्ष की कथा पर आधारित है। कालिदास अपने परिवेश एवं मल्लिका से कट जाने के कारण जीवन के नये अर्थ की तलाश में निकल पड़ता है। 'लहरों के राजहंस' अश्वघोष के प्रसिद्ध महाकाव्य 'सौन्दरानन्द' पर आधारित है। इस नाटक में नन्द सुन्दरी और गौतम दोनों से निरपेक्ष हो जाने के बाद अलगाव की स्थिति में आंतरिक सत्य की तलाश करने के लिए चल पड़ता है। उनका जीवन-बोध अस्तित्त्ववाद की वैचारिक भूमिका पर ही उभरा है। राकेश की दृष्टि का यह यथार्थ जीवन-अर्थो की खोज तक ही सीमित है। किसी परिणति तक पहुंचना राकेश का अभीष्ट भी नहीं है। इसी कारण उनके समस्त नाटकों का समापन किसी निश्चित अन्त पर पहुंच कर नहीं होता। 'आधे-अधूरे' द्वारा आधुनिक

जीवन से साक्षात्कार कराया गया है, इसमें महानगर के मध्यम वर्गीय परिवार का चित्रण है। आज के परिवार की टूटन और चुक गये आपसी संबंधों को नाटक में बड़े सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया गया है। अस्तु, राकेश ने अपनी नाट्य-सृष्टि में अन्तर्निहित यथार्थ को पकड़ने की चेष्टा की है। सभी नाटक रंगमंचीय सम्भावनाओं से पूर्ण है। प्रसाद जी के बाद सर्वाधिक सशक्त नाटककार हम राकेश को कह सकते हैं। उन्होंने अतीत के सघन कुहासे और अपने समसामयिक जीवन के अन्धे-गलियारों में भटक कर सभी स्तरों पर अपनी नाट्यकला को पूर्णतया आधुनिक रखा है।

मोहन राकेश के बाद जिस नाटककार के प्रति विश्वास जागता है, वह है 'सुरेन्द्र वर्मा'। उनके नाटकों में 'द्रोपदी', 'सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक', 'आठवां सर्ग' आदि उल्लेखनीय हैं। प्रथम नाटक में आधुनिक नारी की मन:स्थिति का चित्रण पुराने मिथक-प्रतीकों के माध्यम से बड़ी सफलतापूर्वक किया गया है। 'सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक' का आधार छद्म इतिहास हैं, पर इसमें लेखक ने एक पौरुषहीन व्यक्ति के विवाह बन्धन में पड़ी नारी की शाश्वत समस्या को आधुनिक भाव-बोध के साथ उठाने का प्रयास किया है। आठवाँ सर्ग' कालिदास के जीवन और लेखन पर आधारित है और उसका कथ्य लेखकीय स्वातंत्रय की आधुनिक चेतना को उजागर करता है।

व्यवस्था के संदर्भ में समाज एवं व्यक्ति के बाह्य एवं आंतरिक यथार्थ का चित्रण करना नये नाटककारों के नाटकों का केन्द्रीय कथ्य लगता है। ब्रजमोहन शाह के 'त्रिशंकु', ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'शुतुरमुर्ग', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के 'बकरी' आदि नाटकों में सत्ता के छद्म और पाखंडो का ही पर्दाफाश किया है। अधुनातन नाटककार मुद्राराक्षस, लक्ष्मीकांत वर्मा, मणि मधुकर, शंकर शेष और भीष्म साहनी भी क्रमश: अपने नाटकों 'योअर्स-फेथ-फुल्ली', 'तेंदुआ', 'मरजीवा', 'रोशनी एक नयी है', 'रसगन्धर्व', 'एक और द्रोणाचार्य' तथा 'हानूश' के माध्यम से इन्हीं प्रश्नों से जूझ रहे हैं। इन्होंने जहाँ एक ओर वर्ग-वैषम्यो की चेतना को जाग्रत करके व्यवस्था के ह्रासशील रूपों का यथार्थ चित्रण किया है वहीं सत्ता के दबाव में पिस रहे आम आदमी की करुण नियति और उससे उत्पन्न संत्रास का भी रुपायन किया है। इस तरह नाटक सीधे जिन्दगी की शर्तों से जुड़े और उनकी विषमताओं के साथ जूझते व्यक्ति की यंत्रणा उसके भीतर यथार्थ को रंग-माध्यम से प्रस्तुत करने का बीड़ा उठाते हैं। बदलाव की चेतना और आकुलता को उजागर करने के सशक्त कथ्य से ही हिन्दी के रचनात्मक नाट्य

के लिए शुभारम्भ की स्थिति मानी जा सकती है। नये नाटककार सत्यदेव 'दूबे, रमेश उपाध्याय, रामेश्वर प्रेम, शरद जोशी, गिरिराज, सुशील कुमार सिंह, बलराज पंडित, मृदुला गर्ग, सुदर्शन चोपड़ा नये नाटक लिखकर आंतरिक यथार्थ बोध की संपुष्टि में योग दे रहे हैं। अभी हाल ही में कुछ नाटक प्रकाशित हुए हैं–

प्रभात कुमार भट्टाचार्य का 'काठ महल', गंगाप्रसाद विमल का 'आज नहीं कल', प्रियदर्शी प्रकाश का 'सभ्य सांप', रमेश बख्षी का 'वामाचरण', भगवतीचरण वर्मा का 'वसीयत', इन्द्रजीत भाटिया का 'जीवन दण्ड' सुदर्शन चोपड़ा का 'काला पहाड़' शिवप्रसाद सिंह का 'घाटियां गूंजती हैं' नरेश मेहता का 'सुबह के घण्टे' ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'नेफा की एक शाम' अमृतराय की 'विंदियों की एक झलक' गोविन्द चातक का' अपने अपने खूंटे' विपिन कुमार अग्रवाल का 'लोटन', विष्णुप्रभाकर का 'टगर', सुरेन्द्र वर्मा का 'द्रोपदी' और 'आठवाँ सर्ग' भीष्म साहनी का 'कबिरा खड़ा बाजार में', राजेन्द्र प्रसाद का 'प्रतीतियों के बाहर' और 'चेहरों का जंगल' आदि। इन नाटकों में जो सामान्य प्रवृत्तियाँ उभर कर आई हैं वे इस प्रकार हैं–आकार में छोटे, वर्तमान जीवन से उनका संबंध, वस्तुवाद का प्राधान्य, अधिकांश मनोवैज्ञानिक और समस्यात्मक, रंगमंचीय संकेतों का बाहुल्य संकलन त्रय के पालन की प्रवृत्ति आदि। इनमें से अन्तर्मन की सच्चाइयों को नकार कर तटस्थता का मुखौटा लगा लेने का उपदेश देने वाले नाटककार कहां तक सफल हो पायेंगे, इसका सही मूल्यांकन उनकी आने वाली कृतियों से ही लग सकेगा।

किसी भी रचना की सम्पूर्णता कथ्य और शिल्प के सानुपातिक कलात्मक संयोजन में निहित रहती है। हिन्दी नाटकों में इन दोनों तत्त्वों के बीच तालमेल की स्थिति पर यदि विचार किया जाए तो हिन्दी के बहुत कम नाटक इस स्तर तक ऊंचे उठ पाते हैं। जब तक रंग जगत में वे सफल नहीं होते, उन्हें अर्थवान साबित नहीं किया जा सकता। यह एक सुखद संयोग है कि हिन्दी रंगमंच व्यापक स्तर पर राष्ट्रीय रंगमंच की भूमिका में क्रियाशील है। आज के हिन्दी नाटकों की उपलब्धि पर विचार किया जाए तो यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी नाटक ने अपनी निरर्थकता और कलाहीनता के घेरे को तोड़कर उल्लेखनीय सर्जनात्मकता प्राप्त करने की दिशा में कदम बढ़ाया है और अब नाट्यलेखन केवल सतही सामाजिक उद्देश्यपरकता के आस-पास चक्कर नहीं काटता बल्कि गहरी या मूलभूत मानवीय अनुभूति या स्थितियों का सन्धान करता है। इन नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे जीवन और समाज की विसंगतियों को उभारते

हैं, पीड़ा संत्रास और अजनबीपन के बीच आज के मानव की दयनीय नियति को रेखांकित करते हैं। स्वतंत्रता के बाद नाटक आधुनिक युग बोध के साथ ही जुड़ता नहीं दिखाई देता, वरन् रंगशिल्प के प्रति अधिक जागरूक भी हो गया है।

भारतेन्दुकाल और नाट्य समीक्षा

हिन्दी समीक्षा के आरम्भ की चर्चा करते हुए डॉ. रामदरश मिश्र ने भारतेन्दुकाल से आलोचना का आरंभ स्वीकार किया है और लिखा है कि अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से गद्य में निबन्धों तथा सम्पादकीय टिप्पणियों के रूप में आलोचना होने लगी थी। उन्होंने माना है कि इस काल की व्याख्या परक आलोचनाओं में गुण और दोष दर्शन प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा। यहाँ तक कि स्वयं भारतेन्दु ने 'नाटक' नामक लेख में यह दर्शाया है कि हमारे पुराने सिद्धान्त आज कितने उपयोगी हैं और कितने अनुपयोगी तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों में किन-किन का ग्रहण श्रेयस्कर होगा। इस प्रकार 'नाटक' लेख को प्रथम सैद्धान्तिक समीक्षात्मक कृति तथा भारतेन्दु को प्रथम समीक्षक माना गया है, परन्तु यह युग नाट्य प्रस्तुतियों की दृष्टि से और भी महत्त्वपूर्ण है। पारसी रंगकर्मियों ने सभी भाषाओं के रूपान्तरित नाटक प्रस्तुत कर अर्थप्राप्ति को अपना ध्येय बनाया था और उनमें चमत्कार के साथ कुछ निम्न स्तर (पभद्देपन) को भी महत्त्व दिया जाने लगा था। इस प्रकार दर्शकवृंद को शिक्षित करने के बजाय भारतीय संस्कृति के आदर्श रूपों को खेमटिये वालों की तरह मंच पर प्रस्तुत किया जाने लगा। पारसियों को आदर्श से कोई मतलब नहीं था। वे तो व्यापारी थे नाटक के व्यापारी। बस इसी विरोधाभास ने भारतेन्दु के हृदय में भारतीय आदर्श को ललकारा और जागृत किया तत्पश्चात् पारसी प्रस्तुतियों का घोर विरोध किया जाने लगा। बस यहीं (19वीं शताब्दी) से सही समीक्षा का उदय हुआ।

नारायण प्रसाद 'बेताब' ने पारसियों की भाषा शैली के लिए अपनी समीक्षात्मक दृष्टि "न खालिस उर्दू न ठेठ हिन्दी" बतलाकर रखी है। हाँ, गिरीश रस्तोगी ने "चुटीले संवाद बोलते-बोलते पद्य में बोल जाना, हल्की किस्म के शेर अपनाए जाना" कहकर साहित्य और शैलीगत अपने विचार रखे हैं। 1903 में भट्ट जी ने एक लेख में लिखा था-"हिन्दू जाति तथा हिन्दुस्तान को जल्द गिरा देने का सुगम से सुगम लटका यह पारसी थियेटर हैं, जो दर्शकों को आशिकी, माशूकी का लुत्फ हासिल करने का बडा उम्दा जरिया है, क्या मजाल जो तमाशबीनों को कहीं से किसी बात में पुरानी हिन्दुस्तानी की झलक मन में आने पाये।" श्री जयशंकर

प्रसाद ने भी इनकी प्रस्तुतियों को 'एक असंबंध फूहड भडैती' लिखकर कटु भर्त्सना की है। इस प्रकार इन समीक्षाओं से कुछ पारिसयों की बाह्य प्रस्तुतियों में सुधार भी हुआ जिनमें श्री सूर विजय, व्याकुल भारत, रासमहल नाटक मंडली आदि के नाम गणनीय हैं। सुधार का दूसरा कारण यह भी था कि भारतेन्दु नाटक मंडली के प्रसिद्ध अभिनेता डॉ. वीरेन्द्रनाथ दास, कृष्ण कौल, केशवदास टंडन आदि भी इसमें सक्रिय भाग लेने लगे थे। माधव शुक्ल ने भी पारसी रंगमंच के फूहडपन को समाप्त करने में अपना पूर्ण सहयोग दिया था। फलस्वरूप पारसी फूहडपन के साथ-साथ पारसी कम्पनियों का भी पतन हो गया और 1857 से हिन्दी रंगमंच ने अपनी जडें जमाना आरम्भ कर दिया।

इस प्रकार इस काल में समीक्षा के नाम पर केवल एक ही तत्त्व हमारे सामने उभर कर आता है वह है "हीन प्रदर्शनों का घोर विरोध।" इन सुधारवादी समीक्षकों में श्री विश्वम्भर सहाय व्याकुल और जनेश्वर प्रसाद भायल का इसमें विशेष योगदान रहा। पं. बालकृष्ण भट्ट की भी इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इनकी प्रेरणा से पं. माधव शुक्ल, प्रताप नारायण मिश्र, महादेव भट्ट, पं. गोपालदत्त, रास बिहारी शुक्ल, देवेन्द्रनाथ बेनर्जी, मुद्रिका प्रसाद आदि के नाम गणनीय हैं। इन्होंने हिन्दी रंग आन्दोलन से हिन्दी रंगमंच को विकसित करने में अत्यधिक सहयोग दिया। इस काल में नाट्य प्रतिस्पर्द्धा के तो अनेक उद्धरण मिलते हैं, परन्तु किसी भी प्रकार की सीधी समीक्षात्मक अभिव्यक्ति अप्राप्य है। इस युग की सबसे बडी विशेषता यही है कि हिन्दी रंगकर्मियों ने दर्शक रुचि को बदल दिया। चमत्कार प्रयोग और शेर ओ शायरी से प्रभावित दर्शक रुचि को परिष्कृत कर शुद्ध साहित्यिक एवं राष्ट्रीय प्रेरणायुक्त परिस्थितियों की ओर खींच लाना कोई सहज कार्य नहीं कहा जा सकता।

केवल 'ब्राह्मण' नामक पत्र में श्री रामनारायण त्रिपाठी और प्रताप नारायण मिश्र द्वारा लिखित कुछ नाट्यालोचनाएँ प्राप्त होती हैं तथा मौखिक समीक्षा का एक उदाहरण भी मिलता है कि एक मजिस्टट ने भारतेन्दु के नाटकों को देखकर उन्हें कवि शिरोमणि शेक्सपियर से भी उत्तम बताया और भट्ट जी ने 1903 में अपने लेख में पारसियों की प्रस्तुतियों को हीन बतलाया और भारतेन्दु ने नाटक नामक लेख में पारसियों के कुछ कुरुचिपूर्ण प्रदर्शन का चित्रण भी किया। समाज सुधार और जनजागृति की राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना के उद्देश्य से भारतेन्दु ने व्यावसायिक नाटक मण्डलियों की पद्धति का भी खण्डन किया। भारतेन्दु स्वयं एक अच्छे नाटककार, अभिनेता, निदेशक और व्यवस्थापक भी थे इसलिए

रंगमंच के हर अच्छे–बुरे पहलू को अच्छी तरह पहचानते थे। उनकी कलम में जो समीक्षा रूप हमें दिखाई देता है, उसी आधार पर उन्हें ही हिन्दी रंग आन्दोलन का सर्वप्रथम नाट्य-समीक्षक मानना समीचीन प्रतीत होता है।

भारतेन्दुकाल की नाट्यकृतियों से समीक्षात्मक दृष्टि का पता चलता है कि अभिनय में अतिनाटकीयता थी, उच्च स्वर, संगीतपूर्ण वाणी, सुन्दर आकर-प्रकार, अनूदित नाटकों का प्रचलन, मंगलाचरण, सूत्रधार, नेपथ्य और आकाशभाषित आदि का प्रयोग संस्कृत के अनुरूप, गीत मौन झाँकी, रामलीला-सी चित्र सज्जा, पद्यात्मक संवाद, नाट्यधर्मी मंच सज्जा, प्रत्येक नाटक का मौन झाँकियों पर समाप्त होना, लम्बे संवाद, जनोपयोगी कथोपकथन, लोकप्रिय गीत ध्वनियाँ, पात्रानुकूल भाषा, देशभक्ति और देशोद्धार पूर्ण कथानक ब्रज और खडी बोली मिश्रित संवाद मेलों, बाजारों आदि में नाटक प्रस्तुत करना आदि-आदि।

स्त्री पात्रों की भूमिका पुरुष ही करते थे, परन्तु उनमें इतनी स्वाभाविकता थी कि दर्शक रो पडते थे, भारतेन्दु के द्वारा 'हरिश्चन्द्र' और माणक जी के द्वारा शैव्या की भूमिकाएँ ऐसे ही उदाहरण हैं।

उस समय के दर्शकों को गुणग्य एवं रसिक भी बतलाया गया है। डॉ. गोविन्द चातक ने भारतेन्दुकालीन नाट्य रचना की समीक्षा की है। इन समीक्षकों के द्वारा तत्कालीन वेशभूषा, प्रकाश योजना तथा नेपथ्य संगीत की ओर ध्यान दिया गया है। डॉ. गिरीश रस्तोगी आदि ने भी भारतेन्दुकाल के रंगबोध को अपनी समीक्षात्मक दृष्टि से उभारा है।

श्रीकृष्णदास ने भारतेन्दु की नाटक रचना और गठन में कुछ ढीलापन बतलाया है साथ ही उसे सही भी कह दिया गया, क्योंकि उसमें समीक्षक को लेखक के द्वारा एक नई दिशा की खोज का संकेत मिला।

डॉ. बच्चनसिंह ने भारतेन्दु के नाटकों को एक 'क्रांतिकारी कदम' बताया। डॉ. सी.पी. सिंह ने सैद्धान्तिक समीक्षा करते हुए लिखा है कि भारतेन्दु जी का प्रधान तथा धीरोदात्त और धीर ललित पर ही विशेष अनुराग लक्षित होता है, उनके पास सभी कवि उच्च कोटि के हैं।

द्विवेदी एवं प्रसादयुगीन समीक्षा

उत्तर भारतेन्दुकाल में खेले जाने वाले नाटकों का कथ्य प्राय: पौराणिक सामाजिक विषयों से सम्बद्ध था, परन्तु कई स्थानों पर राजनीतिक समस्याओं की ओर भी संकेत कर दिया जाता था जैसे–"सीता स्वयंवर" नाटक में ब्रिटिश

कूटनीति के समान कठोर शिवधनुष को टस से मस नहीं किया जा सकता" कहा गया। इस प्रकार संवादों के माध्यम से ही जन-जागृति उत्पन्न करने का उपक्रम किया जाता था। ऐसे आयोजन कहीं-कहीं प्रतिबन्धित भी कर दिये जाते थे। इस प्रकार इस युग में राजनैतिक संकेत प्रतीकात्मक रूप में प्रेषित किए जाने लगे।

सार्वजनिक स्थल पर मंच-निर्माण, घरों में नाट्य प्रदर्शन, नाट्य पुनरावृत्ति, पूर्वाभ्यास, भडकीली पोशाकें, ट्रान्सफर सीन, दर्शक श्रेणियाँ, कुलीन वर्ग आदि का कला प्रेम, आमंत्रण पत्रों का चलन, चमत्कार प्रयोग आदि के संकेत मिलते हैं। द्विवेदीयुगीन अभिनय कला आदि अतिनाटकीयता से प्रेरित कही गई है, परन्तु इन सबसे बडी बात तो यह है कि इस युग में रंगमंचीय समीक्षाओं का भी प्रचलन हो चुका था।

समीक्षाओं का रूप कैसा था, यह बतलाना कठिन है। 1920-1930 तक साहित्यिक नाटकों के साथ-साथ पारसी रंगमंचीय नाटकों की धारा चलती रही थी। सभी नाटकों में अतिनाटकीयता प्रसंगों, दैवीशक्ति, कौतुहल चमत्कार, शोखी और छेडछाड प्रेम संबंधी सस्ते गाने, रोमांचकारी घटनाओं, कुरुचिपूर्ण हास्य आदि की प्रधानता थी। इन व्यावसायिक रंगमंचीय नाटकों ने जनरुचि को इतना विकृत कर दिया कि आधुनिक काल में भी नाटककारों को साहित्यिक नाटकों के अनुसार, गीत, गजल का प्रयोग अनिवार्य करना पडा। इसलिए जयशंकर प्रसाद पर भी रचनागत शिथिलता, अराजकता, बहुउद्देशीयता, घटना प्रधानता का दोषारोपण किया गया है, परन्तु ऐसा लगता है कि उस युग में कुछ लेखकों ने कटु आलोचना करना ही अपना ध्येय बना लिया था। चाहे वे सही हो या गलत लेकिन आलोचक को अध्येता होने के साथ-साथ प्रस्तुति के काल, पात्र और वस्तुस्थिति से भी पूर्ण परिचित होना चाहिए अन्यथा किसी के दोषी ठहराने के पूर्वाग्रह के आक्षेप से वह स्वयं को बचा नहीं सकेगा क्योंकि समीक्षा के दौरान कभी-कभी भारी भूलें रह जाती हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में यदि हम प्रसाद जी की इस उक्ति की ओर ध्यान दें-"मैंने उन कम्पनियों के लिए नाटक नहीं लिखे हैं, जो चार चलते अभिनेताओं को एकत्र कर कुछ पैसा जुटाकर चार पर्दे मँगनी माँग लेती हैं और दुअन्नी-अठन्नी के टिकिट पर इक्केवालो, खोमचेवालो और दुकानदारों को बटोर कर जगह-जगह प्रहसन करती फिरती हैं। उत्तर रामचरित, शकुन्तला और मुद्राराक्षस कभी न ऐसे अभिनेताओं द्वारा अभिनीत हो सकते हैं और न जन साधारण में वे रसोद्रेक का कारण बन सकते हैं 3.।" तो प्रसाद जी पर किया गया दोषारोपण विद्वजनों के प्रति ईर्ष्या का द्योतक लगने लगता है।

प्रसाद काल में कुछ नए रूप सामने आए वे हैं–नेपथ्य में गान, कोलाहल और रणवाद्य आदि। बहुत कम अवसर ऐसे होते हैं, जब लेखक स्वयं पूर्वाभ्यास के समय कलाकारों के मध्य बैठकर अपनी लिखित भावधारा के मूर्त रूप का रसास्वादन करता है और उसमें कहीं अर्थ का अनर्थ हो रहा हो तो सुधार भी करवा देता है। काशी में प्रसाद जी पूर्वाभ्यास के समय कलाकारों के मध्य बैठा करते थे। भारत सरकार के गीत एवं नाटक प्रभाग के कलाकारों द्वारा मंचित उदयपुर में 12, 13, 14 जुलाई 1988 को मंचित मेरे एक नाटक "मेरा देश मेरे सपने" के पूर्वाभ्यास के दौरान मुझे भी उन कलाकारों के मध्य बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

समीक्षाएँ नाटक क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं–वे नाट्य जगत् की अथवा साहित्य के विविध विधाओं की प्रस्तुति का बोध कराती हैं, जिससे कला का और विकास होता है और युग का बोध। प्रसाद युग में समीक्षात्मक माध्यम का पूर्ण अभाव प्रतीत होता है यही कारण है कि रंगमंच की दृष्टि से इस युग को मात्र एक कडी समझा गया है, यद्यपि समीक्षाओं का अपेक्षाकृत रूप तात्कालिक 'जागरण', 'इन्दु', 'सरस्वती', 'माधुरी', 'प्रभा', 'आज' आदि पत्र-पत्रिकाओं में द्रष्टव्य बतलाया गया है पर यह सब अप्राप्य होने के कारण ही इस युग के समीक्षात्मक रूप को उभारने में असमर्थता प्रतीत होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समीक्षा का आदिकाल कुछ बिखरे-बिखरे सूत्रों में दिखाई देता है।

समीक्षा युग

प्रसादोत्तर युग में रंगमंचीय गतिविधियों की एक जबरदस्त हलचल दिखाई देने लगी। अनेक प्रकार के प्रयोग और परीक्षण यहीं से विकसित होने लगे। इस युग में अनेक कलाकारों एवं उनकी नाट्य प्रस्तुतियों की समीक्षात्मक चर्चा मिलती है। इस युग के लोक विख्यात पृथ्वीराज कपूर के लिए लिखा गया है कि इनके प्रस्तुत नाटकों के कथा शिल्प में एक स्वाभाविक विकासक्रम है। इनमें न अतिमानवीय तत्त्व है और न कोई कृत्रिम अप्राकृतिक नाटकीय चमत्कार। पृथ्वीराज कपूर के समय से ही प्रकाश उपकरणों का प्रयोग आरम्भ हो चुका था। इनके नाटकों में देशभक्ति एवं साम्प्रदायिक एकता की कलात्मक अभिव्यक्ति द्रष्टव्य है। नाटकों के कथोपकथन स्वाभाविक एवं व्यंग्यपूर्ण होने के कारण मर्म पर सीधी चोट करते हैं। इनके नाटकों द्वारा साम्प्रदायिक एकता का शंखनाद फूँका

जाना आर्यावृत्त की बहुत बडी सेवा थी। श्री पृथ्वीराज कपूर द्वारा बार-बार ड्राप गिराकर 30-30 या 40-40 सीन दिखाने की परम्परा भी समाप्त कर दी गई। मंच सज्जा की ओर श्री पृथ्वीराज विशेष ध्यान रखते थे। उन्होंने बडे-बडे खम्भों, छत्रधारी सिंहासनों और चित्रांकित दीवारों तक को भव्य रूप में प्रस्तुत किया। उस समय के आलोचकों ने अभिनेता, निदेशक और व्यवस्थापक पृथ्वीराज कपूर के व्यक्तिगत प्रभाव तक की ओर भी दृष्टिपात किया। दरअसल इस युग का समीक्षक नाटक देखने वाले दर्शक, अभिनेता, वेषकार, रंगलेपन, ध्वनि, संगीत तथा प्रकाश प्रयोग आदि सभी पहलुओं की ओर बडे एकाग्रचित्त से ध्यान देकर उनकी अच्छाई-बुराई को कलमबद्ध करता है। इतना ही नहीं, समीक्षक स्वयं निदेशक और व्यवस्थापकों से व्यक्तिगत भेंटवार्ता कर अपनी शंकाओं का समाधान भी कर लेता है ताकि वह प्रस्तोताओं के उस संदेश का भी मूल्यांकन कर लेता है कि प्रस्तोता अमुक प्रस्तुति के द्वारा अपना संदेश पहुँचाने में कहाँ तक सफल हुआ है।

इस युग में नाट्य कला का सरकारी, गैर सरकारी स्तर पर नाट्य प्रशिक्षण भी आरम्भ हो गया जिससे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ज्ञान के साथ-साथ अच्छे दर्शक, परिष्कृत समीक्षक और नए-नए आयाम दिखाई देने लगे। इस चहुँमुखी प्रगति से हिन्दी रंग आन्दोलन ने नाटक जगत् में अपनी अभूतपूर्व सम्पदा से विशिष्ट ख्याति प्राप्त की। नाट्य समीक्षा के लिए यथोचित व्यवस्था भी 'धर्मयुग', साप्ताहिक हिन्दुस्तान, दिनमान तथा कई दैनिक पत्रों में पाई जाने लगी। यहाँ तक कि नियमित स्तम्भ आने लगे। इसलिए यदि इस काल को पूर्णरूपेण समीक्षा-युग के नाम से सम्बोधित किया जाय तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी।

समीक्षा युग की देन

इस युग के पत्र-पत्रिकाओं को श्रेय है कि जिनके सहयोग से समीक्षा ने अपना अलग स्थान बनाया है। बडी उपलब्धि यह हुई कि नाट्य जगत् के वैविध्य को इसने उभारा जिससे हिन्दी रंगमंच के विकसित परम्परा की अनेक विधाओं को अपनाया जाने लगा। एब्सर्ड नाटकों की प्रस्तुतियों ने कई लेखकों और प्रस्तोताओं को बहुत प्रभावित किया। मोहन राकेश के 'बीज' और 'आधे अधूरे' नाटक इसी परम्परा के द्योतक हैं। लेखन में नयापन होगा तो निःसंदेह समीक्षा भी अपना रूप बदलेगी।

नाट्य अध्येताओं, समीक्षकों और लेखकों ने सम्प्रति नाटकों की कथावस्तु को केवल 'मूड' और 'तर्क' का स्वरूप माना है। डॉ. लाल की भी यही मान्यता है। बिम्बवादी और अमूर्त कथा वस्तुपूर्ण नाटक भी मंच पर प्रस्तुत हुए हैं। राजनैतिक अव्यवस्था और अत्याचारों की कटु आलोचना भी आज के नाटक की विषय वस्तु है। मनोवैज्ञानिक कथावस्तु, प्रकृति प्रकोपयुक्त लघुकथानक भी इस युग की विशेष देन है। इस प्रकार इस युग ने पुरानी शैली को छोड सर्वथा नवीन शैली को जन्म दिया है।

3

उपन्यास

अर्नेस्ट ए. बेकर ने उपन्यास की परिभाषा देते हुए उसे गद्यबद्ध कथानक के माध्यम द्वारा जीवन तथा समाज की व्याख्या का सर्वोत्तम साधन बताया है। यों तो विश्वसाहित्य का प्रारंभ ही संभवत: कहानियों से हुआ और वे महाकाव्यों के युग से आज तक के साहित्य का मेरुदंड रही हैं, फिर भी उपन्यास को आधुनिक युग की देन कहना अधिक समीचीन होगा। साहित्य में गद्य का प्रयोग जीवन के यथार्थ चित्रण का द्योतक है। साधारण बोलचाल की भाषा द्वारा लेखक के लिए अपने पात्रों, उनकी समस्याओं तथा उनके जीवन की व्यापक पृष्ठभूमि से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करना आसान हो गया है। जहाँ महाकाव्यों में कृत्रिमता तथा आदर्शोन्मुख प्रवृत्ति की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है, आधुनिक उपन्यासकार जीवन की विशृंखलताओं का नग्न चित्रण प्रस्तुत करने में ही अपनी कला की सार्थकता देखता है।

यथार्थ के प्रति आग्रह का एक अन्य परिणाम यह हुआ कि कथा साहित्य के अपौरुषेय तथा अलौकिक तत्त्व, जो प्राचीन महाकाव्यों के विशिष्ट अंग थे, पूर्णतया लुप्त हो गए। कथाकार की कल्पना अब सीमाबद्ध हो गई। यथार्थ की परिधि के बाहर जाकर मनचाही उड़ान लेना उसके लिए प्राय: असंभव हो गया। उपन्यास का आविर्भाव और विकास वैज्ञानिक प्रगति के साथ हुआ। एक ओर जहाँ विज्ञान ने व्यक्ति तथा समाज को सामन्य धरातल से देखने तथा चित्रित करने की प्रेरणा दी वहीं दूसरी ओर उसने जीवन की समसयाओं के प्रति एक

नए दृष्टिकोण का भी संकेत किया। यह दृष्टिकोण मुख्यतः बौद्धिक था। उपन्यासकार के ऊपर कुछ नए उत्तरदायित्व आ गए थे। अब उसकी साधना कला की समस्याओं तक ही सीमित न रहकर व्यापक सामाजिक जागरूकता की अपेक्षा रखती थी। वस्तुतः आधुनिक उपन्यास सामाजिक चेतना के क्रमिक विकास की कलात्मक अभिव्यक्ति है। जीवन का जितना व्यापक एवं सर्वांगीण चित्र उपन्यास में मिलता है, उतना साहित्य के अन्य किसी भी रूप में उपलब्ध नहीं।

सामाजिक जीवन की विशद व्याख्या प्रस्तुत करने के साथ ही साथ आधुनिक उपन्यास वैयक्तिक चरित्र के सूक्ष्म अध्ययन की भी सुविधा प्रदान करता है। वास्तव में उपन्यास की उत्पत्ति की कहानी यूरोपीय पुनरुत्थान (रेनैसाँ) के फलस्वरूप अर्जित व्यक्ति स्वातंत्र्य के साथ लगी हुई है। इतिहास के इस महत्त्वपूर्ण दौर के उपरांत मानव को, जो अब तक समाज की इकाई के रूप में ही देखा जाता था, वैयक्तिक प्रतिष्ठा मिली। सामंतवादी युग के सामाजिक बंधन ढीले पड़े और मानव व्यक्तित्त्व के विकास के लिए उन्मुक्त वातावरण मिला। यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों ने मानव चरित्र के अध्ययन के लिए भी एक नया दृष्टिकोण दिया। अब तक के साहित्य में मानव चरित्र के सरल वर्गीकरण की परंपरा चली आ रही है। पात्र या तो पूर्णतया भले होते थे या एकदम गए गुजरे। अच्छाइयों और त्रुटियों का सम्मिश्रण, जैसा वास्तविक जीवन में सर्वत्र देखने को मिलता है, उस समय के कथाकारों की कल्पना के परे की बात थी। उपन्यास में पहली बार मानव चरित्र के यथार्थ, विशद एवं गहन अध्ययन की संभावना देखने को मिली।

अंग्रेजी के महान् उपन्यासकार हेनरी फील्डिंग ने अपनी रचनाओं को गद्य के लिखे गए व्यंग्यात्मक महाकाव्य की संज्ञा दी। उन्होंने उपन्यास की इतिहास से तुलना करते हुए उसे अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण कहा। जहाँ इतिहास कुछ विशिष्ट व्यक्तियों एवं महत्त्वपूर्ण घटनाओं तक ही सीमित रहता है, उपन्यास प्रदर्शित जीवन के सत्य, शाश्वत और संर्वदेशीय महत्त्व रखते हैं। साहित्य में आज उपन्यास का वस्तुतः वही स्थान है, जो प्राचीन युग में महाकाव्यों का था। व्यापक सामाजिक चित्रण की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त साम्य है, लेकिन जहाँ महाकाव्यों में जीवन तथा व्यक्तियों का आदर्शवादी चित्र मिलता है, उपन्यास, जैसा फील्डिंग की परिभाषा से स्पष्ट है, समाज की आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है। उपन्यासकार के लिए कहानी साधन मात्र है, साध्य नहीं। उसका ध्येय

पाठकों का मनोरंजन मात्र भी नहीं। वह सच्चे अर्थ में अपने युग का इतिहासकार है, जो सत्य और कल्पना दोनों का सहारा लेकर व्यापक सामाजिक जीवन की झाँकी प्रस्तुत करता है।

उपन्यास साधारण जीवन के समानान्तर चलने का पूरा प्रयत्न करता है। इसीलिए यह शिल्प के अनुशासन को, अन्य साहित्यिक विधाओं की भाँति, अधिक स्वीकार नहीं करता। इसमें कथा के प्रसार की छूट है, यहाँ वर्णन-चित्रण की निश्चित परिपाटी नहीं है और पात्रों तथा परिच्छेदों की संख्या या आकार-प्रकार पर किसी तरह की रोक-टोक नहीं है। यह जीवन की भांति समस्या पकड़ता है, उसी के अनुरूप अपना रूप ग्रहण कर लेता है। उसके अनुसार ही इसके आकार तथा तत्त्वों का विकास होता है। इसका शिल्प लचीला है। अपने लचीलेपन के कारण जीवन को सही और अधिकतम व्यक्त करने के लिए आवश्यकतानुसार, उपन्यास समय-समय पर अन्य अनेक सहयोगी विधाओं के गुणों को अपनाता चलता है। यह नाटक, इतिहास, जीवनी तथा निबंध की मूल विशेषताओं को यथावसर सहज भाव से ग्रहण कर लेता है।

नाटक, इतिहास और जीवनी, तीनों रचनाएँ जीवन के प्रसार को काल के आयाम में प्रस्तुत करती हैं। नाटक कालगति का अनुसरण करके भी उसे देश-विशेष में बाँधकर, पात्रों के मनोभाव को सामाजिकों के समक्ष अधिकाधिक मूर्त करने का प्रयत्न करता है। उसमें प्रत्यक्षीकरण और सम्प्रेषणीयता के तत्त्व प्रधान रहते हैं। इतिहास में राष्ट्र या समाज की विविध शक्ति-धाराओं की पारम्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया का आख्यान रहता है। वह अपने वर्णन में व्यक्ति को स्वतंत्र महत्त्व नहीं देता। व्यक्ति को महत्त्व देती है जीवनी और वहाँ पृष्ठभूमि में रहता है राष्ट्र या समाज। इस प्रकार, व्यक्ति के गहन और समाज के विशद जीवन को प्रस्तुत करने में जीवनी तथा इतिहास, आपस में पूरक हैं। ये दोनों, प्राप्त तथ्यों के आधार पर अपने वर्ण्य विषय का रूप खड़ा करते हैं। साक्ष्यों से ये निष्कर्ष निकालते हैं, पर अनुमान से बचते हैं और कल्पना के आधार पर व्यक्तित्त्व या परिस्थिति का चित्रण करना इनके क्षेत्र में निषद्ध है।

उपन्यास पात्रों के मनोभावों को प्रखर करने के लिए नाटकीयता का आश्रय लेता है, प्रत्यक्षीकरण करता है। वह इतिहासकार की भाँति, वातावरण बनाने वाली, सामाजिक शक्तियों का अंकन करता है और जीवनी-लेखक की भाँति पात्रों के कृतित्त्व को उभारता है। इन सबके साथ उपन्यासकार निज की क्षमता भी लेकर चलता है और वह है। संवेदनात्मक कल्पना। वह पात्रों के परिवेश और

उनकी गतिविधि तक सीमित न रहकर, आगे बढ़कर उनके मन के भीतर झाँकता है। जीवन में उसने जो भोगा और अनुभव किया है, जो स्वाभाविक और सहज है, उसी के आधार पर वह पात्रों के अन्तर को उद्‌घाटित करता है। अपनी असाधारण अनुभव-क्षमता के बल पर पात्रों की नित्य सत्ता के मर्म को गोचर करना उपन्यासकार की अपनी विशेषता है।

पात्रों के भीतरी-बाहरी जगत को प्रस्तुत करते हुए उपन्यासकार इनके विषय में जो धारणा बनाता है, उसे वह निबन्ध द्वारा संजोता है। निबन्ध का कार्य है जीवन के अनुभव और अनुभूति को विचार-रूप में बाँधना। निबन्ध में नाटक, इतिहास तथा जीवनी की भाँति कालगति का अनुकरण नहीं है, यह तो उस गति का परिणाम है। उपन्यास जीवन का काल के आयाम में चित्रण करते हुए निबन्धकार की भाँति, उसके शेष अविचल प्रभाव को भी अंकित करता है।

प्रश्न उठ सकता है, महाकाव्य की विशद कथा है, उसमें भी युग-चित्रण और पात्रों का चरित्र रहता है, फिर उपन्यास और महाकाव्य में अन्तर क्या है? क्या केवल इतना ही अन्तर है कि महाकाव्य पद्य-कथा है और उपन्यास गद्य-कथा? नहीं, दोनों की जीवन संबंधी दृष्टि में मूल भेद है। महाकाव्य में कवि जीवन को प्रस्तुत नहीं करता, वरन जीवन संबंधी अपनी प्रबल अनुभूति को व्यक्त करता है। उसकी सघन अनुभूति का अनुशासन पूरी रचना पर रहता है और जो जीवन उसके अन्तर्गत आता है, वह विशिष्ट और प्रतीकात्मक होता है। महाकाव्य कथा के सुनिर्मित ढाँचे और पात्रों के सुनिश्चित स्वरूप को साधन रूप में ग्रहण करता है। उपन्यास में स्थिति भिन्न है।

उपन्यास में भी विशद कथा है, समाज का चित्रण है और पात्रों का चरित्र है, किन्तु यहाँ उपन्यासकार का उद्देश्य अपनी घनीभूत भावना को नहीं, साक्षात जीवन को प्रस्तुत करना है। उसकी सफलता इसी में है कि वह परोक्ष रहकर पात्रों और कथा को स्वत: विकसित होने दे। पात्र जितने स्वतंत्र और स्वत: स्फूर्त होंगे, उतने ही वे उपन्यास के लिए उपयोगी होंगे। पात्रों की स्वायत्त सत्ता को उभारना उपन्यास का परम उद्देश्य है। उपन्यास का जीवन महाकाव्य की भाँति प्रतीकात्मक नहीं, यथार्थ होता है। तात्पर्य है, उपन्यासकार को जीवन जैसा दिखता और अनुभूत होता है, वह उसे वैसा ही ब्योरेवार चित्रित करने का प्रयत्न करता है। वह जीवन के बनाव शृंगार की अपेक्षा उसके निरीक्षण और विस्तार पर अधिक बल देता है। उसका निरन्तर प्रयत्न रहता है कि प्रस्तुत किया गया जीवन अधिक से अधिक विश्वसनीय बन पड़े।

उपन्यास के निहित काल की तीन कोटियाँ हैं। कभी उपन्यासकार काल का उल्लेख-मात्र करता है, अथवा कालान्तर में जो घटा है, उसका सार वर्णन करता है। कभी वह काल-गति के साथ पात्रों की गतिविधि का चित्रण करता है और कभी कालक्रम को पीछे छोड़ पात्रों की गहन चेतना में प्रवेश करता है। ये तीनों काल-कोटियाँ क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाती हैं। इनको यदि हम सितार के तीन तार मान लें, तो इन्हीं पर आवश्यकतानुसार उँगलियाँ फेरकर कुशल उपन्यासकार रचना के गति-बोध (टेम्पो) को नियंत्रित करता है। तीसरे तार-मनोगत काल-में सबसे अधिक गूँज है। पात्रों के मनोगत काल के संकोच या प्रसार के कौशल में उपन्यासकार का रचयिता अपनी सामर्थ्य का परिचय देता है। इसके निपुण नियंत्रण से वह उपन्यास के पठन-काल को प्रभावित करता है। मनोगत काल की संवेदन क्षमता के अनुसार पाठक कभी उपन्यास में तन्मय हो जाता है, कभी रुक-रुककर पढ़ता है और कभी किसी अंश को बार-बार पढ़ता है।

पात्रों के मनोगत काल की सूक्ष्म पकड़ करने वाले उपन्यास पाठकों की चेतना को अपने अनुरूप ढालने की क्षमता रखते हैं। ये उपन्यास आकार में बड़े या छोटे कैसे ही हों, पाठक को मानो जकड़ लेते हैं और पाठक की मंत्रमुग्ध चेतना अपने वास्तविक जीवन और उपन्यास में निहित जीवन की सीमा-रेखाओं का उल्लंघन कर, दोनों के बीच डूबने लगती है। पाठक कभी अपने जीवन के अनुभवों से उपन्यास के जीवन को आँकने लगता है और कभी उपन्यास के जीवन की संवेदना उसके साधारण व्यावहारिक जीवन को प्रभावित करने लगती है।

उपन्यास गद्य लेखन की एक विधा है। अर्नेस्ट ए. बेकर ने उपन्यास की परिभाषा देते हुए उसे गद्यबद्ध कथानक के माध्यम द्वारा जीवन तथा समाज की व्याख्या का सर्वोत्तम साधन बताया है। यों तो विश्व साहित्य का प्रारंभ ही संभवतः कहानियों से हुआ और वे महाकाव्यों के युग से आज तक के साहित्य का मेरुदंड रही हैं, फिर भी उपन्यास को आधुनिक युग की देन कहना अधिक समीचीन होगा। साहित्य में गद्य का प्रयोग जीवन के यथार्थ चित्रण का द्योतक है। साधारण बोलचाल की भाषा द्वारा लेखक के लिए अपने पात्रों, उनकी समस्याओं तथा उनके जीवन की व्यापक पृष्ठभूमि से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करना आसान हो गया है। जहाँ महाकाव्यों में कृत्रिमता तथा आदर्शोन्मुख प्रवृत्ति की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है, आधुनिक उपन्यासकार जीवन की विशृंखलताओं का नग्न चित्रण प्रस्तुत करने में ही अपनी कला की सार्थकता देखता है।

उपन्यास शब्द : व्याख्या एवं अर्थ

सं. उप. / नि. / अस् घ् प्रत्यय लगाकर 'उपन्यास' शब्द व्युत्पन्न हुआ है। 'अस्' क्षेपण अर्थ में लिया गया है। उपन्यास का अर्थ वाक्य का उपक्रम। बंधान, अमानत/धरोहर, प्रमाण, वह बड़ी और लंबी आख्यायिका जिसमें किसी व्यक्ति के काल्पनिक या वास्तविक जीवन-चरित्र का चित्र अंकित या उपस्थित किया जाता है। इस शब्द का अंग्रेजी पर्याय 'नॉवेल' है। बंगला में 'नवल कथा' कहा जाता है।

'उपन्यास' शब्द का मूल अर्थ - निकट रखी हुई वस्तु (उप-निकट, न्यास-रखी हुई), आधुनिक साहित्य में इसका अर्थ गद्य की एक विशिष्ट विधा हेतु किया जाता है, जो आयाम में विस्तृत होती है। ऐसी आख्यायिका जिसमें समाज के किसी अंग का चरित्र-चित्रण, काल्पनिक एवं वास्तविक के समन्वित रूप में अंकित होता है। सर्वांगीण व्यापक सामाजिक चित्रण को उपन्यास की संज्ञा दी जाती है। उपन्यास के मूल अर्थ एवं आधुनिक अर्थ में यद्यपि साम्य नहीं रह गया है, किन्तु विद्वानों ने उसका समन्वित प्रस्तुत करने का यत्न किया है। उनके अनुसार उपन्यास में मानव जीवन को उसके अति निकट उपस्थित कर देने वाली विधा को उपन्यास कहा जाता है। इस दृष्टि से यह नाम सर्वथा सार्थक प्रतीत होता है, किन्तु यही कार्य नाटक, एकांकी एवं कहानी भी करते हैं। माना कि एकांकी एवं कहानी का आयाम छोटा होता है, किन्तु नाटक की कथा तो लंबी और बड़ी होती है। उपस्थिति करने की प्रवृत्ति उसकी भी उपन्यास के समान ही है।

प्राचीन काव्य शास्त्र में उपन्यास शब्द का प्रयोग भी 'प्रतिमुख संधि' के एक उपभेद के रूप में किया गया है। भरतमुनि ने इसके लिए 'उपपत्ति कृत्तों ह्यर्थ' तथा 'प्रसादनम्' आदि विशेषण का प्रयोग किया है। जिनका अर्थ होता है - किसी अर्थ को युक्तिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने वाला तथा प्रसन्नता प्रदान करने वाला' 'किंतु यही स्थिति साहित्य की अन्य विधाओं में भी नजर आती है। आधुनिक उपन्यास अंग्रेजी पर्याय नॉवेल के अर्थों में प्रयुक्त होता है। उपन्यास शब्द पूर्ण अर्थ न प्रदान करते हुए भी साहित्य की विधा विशेष के लिए सर्वाधिक प्रयोग किया जाता है।

प्रथम उपन्यास

बाणभट्ट की कादम्बरी को विश्व का प्रथम उपन्यास माना जा सकता है। कुछ लोग जापानी भाषा में 1007 ई. में लिखा गया "जेन्जी की कहानी" नामक

उपन्यास को दुनिया का सबसे पहला उपन्यास मानते हैं। इसे मुरासाकी शिकिबु नामक एक महिला ने लिखा था। इसमें 54 अध्याय और करीब 1000 पृष्ठ हैं। इसमें प्रेम और विवेक की खोज में निकले एक राजकुमार की कहानी है।

यूरोप का प्रथम उपन्यास सेर्वैन्टिस का "डोन क्विक्सोट" माना जाता है, जो स्पेनी भाषा का उपन्यास है। इसे 1605 में लिखा गया था।

आधुनिक उपन्यास साहित्य रूप विधान का विकास यूरोप माना जाता है, किन्तु उससे पूर्व प्राचीन भारत में इस विधि का उल्लेख प्राप्त होता था, पंचतंत्र, हितोपदेश, वैताल पंचविंशति, बृहत् कथा मंजरी, वासवदत्ता, कादंबरी और दशकुमार चरित आदि के रूप में औपन्यासिकता का विकास हो चुका था। मराठी साहित्य में 'उपन्यास' का पर्यायवाची ही कादंबरी है, किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण एवं शैली की स्वाभाविकता की दृष्टि से लाला श्रीनिवास दास कृत 'परीक्षा गुरु' को हिंदी का प्रथम मौलिक उपन्यास की श्रेणी में रखा जा सकता है। हिंदी में उपन्यास का आविर्भाव उन्नीसवीं सदी के अंतिम काल में हुआ। बंगला में इस विधा का उद्‌भव हिंदी से पूर्व हो चुका था, क्योंकि अंग्रेजी का प्रभाव सर्वप्रथम बंगला भाषा पर पड़ा।

हिंदी में सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' भारतेन्दु के जीवन काल में ही सन् 1882 ई. में छप चुकी थी, जिसकी रचना का श्रेय लाला श्रीनिवास दास को है। यद्यपि लाला जी ने इसकी भूमिका में स्पष्ट लिख दिया है कि इसके लेखन में–

"महाभारतादि संस्कृत, गुलिस्ताँ वगैरह फारसी, स्पेकटेटर, लार्ड बेकन, गोल्ड स्मिथ, विलियम कपूर आदि पुराने लेखों और स्त्री बोध आदि के वर्तमान रिसालों से बड़ी सहायता मिली है।" इससे तथा इसके ढांचे से ज्ञात होता है कि इसकी रचना बंगला उपन्यासों के आधार पर नहीं की गई है अपितु लेखक ने सीधे अंग्रेजी के उपन्यासों से प्रेरणा ग्रहण की है। 'परीक्षा गुरु' में दिल्ली के एक सेठ पुत्र की कहानी है, जो बुरे संगति में पड़ गया था, जिसका उद्धार अंत में एक सज्जन मित्र द्वारा किया। लेखक इसमें अत्यधिक उपदेशात्मक हो गया है, जिसके परिणामस्वरूप यह रचना सफल उपन्यास का रूप ग्रहण नहीं कर सकी। डॉ. विजय शंकर मल्ल ने फिल्लौरी कृत 'भाग्यवती' को प्रथम उपन्यास कहा।

विकास

उपन्यास के उद्‌भव के संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। डॉ. गुलाब रॉय, शिवनारायण श्रीवास्तव आदि विद्वानों की धारणा है कि भारतीय उपन्यासों के अंकुर भारत की प्राचीनतम साहित्य में ही उपलब्ध हैं। वे कहीं बाहर से नहीं आए। किन्तु डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, नलिनी विलोचन शर्मा तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी इससे सहमत नहीं हैं। उनकी मान्यता है कि उपन्यास का संबंध संस्कृत की प्राचीनतम औपन्यासिक परंपरा से जोड़ना विडंबना मात्र है।

अनेक विद्वान हिन्दी उपन्यास का पश्चिमी साहित्य की देन मानते हैं। उनके अनुसार 19वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में, भारतेन्दु युग में, जब हमारे यहां हिन्दी उपन्यासों का श्रीगणेश हुआ था, यह विधा पश्चिमी साहित्य में पूर्ण रूप से विकसित थी। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रभाव के कारण सर्वप्रथम बांगला साहित्य, पश्चिमी साहित्य की इस पूर्ण विकसित विधा से प्रभावित हुआ। परिणामस्वरूप बंगला उपन्यासों की रचना हुई। बंगभाषा में बहुत अच्छे उपन्यास निकल चुके थे। बंगला साहित्य की इस साहित्यिक परिवर्धन से भारतेन्दु युगीन साहित्यकारों ने हिन्दी उपन्यासों की आवश्यकता को अपरिहार्य समझा।

भारतेंदु युग या प्रेमचन्द-पूर्वोत्तर

भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी में जो कथात्मक पुस्तकें लिखी गईं, वे आधुनिक उपन्यास और कहानी से मिलती-जुलती होने पर भी उनसे भिन्न थी। वास्तव में उपन्यास और कहानी पश्चिमी साहित्य की देन है। भारतेन्दु-युग में जो उपन्यास लिखे गये, उनमें उपन्यास विद्या का उचित निर्वाह न होने के कारण उन्हें सच्चा उपन्यास नहीं कहा जा सकता है। सच तो यह है कि हिन्दी में वास्तविक उपन्यास की रचना सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने ही की। यों, ऐतिहासिक दृष्टि से लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षा-गुरु' (1882 ई.) ही हिन्दी का पहला उपन्यास माना जाता है। यह पश्चिमी उपन्यास की शैली पर आधारित है और यथार्थ जीवन का चित्र भी प्रस्तुत करता है, परन्तु कला की दृष्टि से बहुत अपरिपक्व है। इसमें उपदेश की प्रवृत्ति प्रधान है।

'परीक्षा-गुरु' के पूर्व भी 'देवरानी-जेठानी' (1872 ई.) 'रीति-रत्नाकर', 'वामा शिक्षक', 'भाग्यवती' आदि कुछ उपन्यास जैसी कथा-पुस्तकें प्रकाशित हुई थी, परन्तु वे भी मुख्यतः शिक्षात्मक तथा अपरिपक्व हैं। भारतेन्दु ने भी 1866

ई. में कहानी 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती' लिखने का यत्न किया था और 'चन्द्र प्रभा और पूर्ण प्रकाश शीर्षक मराठी उपन्यास का अनुवाद व संशोधन भी किया था। उनकी प्रेरणा से राधा चरण गोस्वामी, राधाकृष्णदास, प्रतापनारायण मिश्र आदि ने बंगला के बहुत से उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद किया और मौलिक उपन्यास भी लिखे। इन लेखकों के अतिरिक्त बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री, रामकृष्ण वर्मा आदि और भी कई लेखकों ने बंगला उपन्यासों का अनुवाद किया। अंग्रेजी से भी कुछ उपन्यासों का अनुवाद हुआ।

भारतेन्दु युग के मौलिक कथा-ग्रन्थों और उपन्यासों में महत्त्वपूर्ण हैं : ठाकुर जगमोहन सिंह का 'श्याम स्वप्न' (काव्यात्मक गद्य-कथा), पं. बालकृष्ण भट्ट रचित 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान और एक सुजान' किशोरी लाल गोस्वामी का 'स्वर्गीय कुसुम', राधाचरण गोस्वामी का 'विधवा-विपत्ति', राधाकृष्ण दास का 'नि:सहाय हिन्दू', अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'प्रेमकांता' और रत्नचंद प्लीडर प्रणीत 'नूतन चरित्र'। ये सभी उपन्यास प्राय: सोद्देश्य तथा शिक्षाप्रद हैं, पर कला की दृष्टि से दुर्बल हैं। इनमें परिवार और समाज का साधारणत: अच्छा अंकन हुआ है। उच्च चरित्र, वीरता तथा प्रेम की कथा प्रस्तुत करने वाले कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गये, परन्तु उनमें इतिहास के तथ्यों का ठीक निर्वाह नहीं हुआ है।

सर्व प्रथम भारतेंदु ने 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' नामक उपन्यास का अनुवाद किया। एक मौलिक उपन्यास की रचना की शुरुआत भी लगभग हो चुकी थी दुर्भाग्य से पूर्ण न हो सका। भारतेंदु युग के अन्य कई लेखकों ने भी उपन्यासों की रचना की, जिनमें श्रद्धाराम फिल्लौरी का 'भाग्यवती', रत्न चंद प्लीडर का 'नूतन चरित्र' - 1883, बालकृष्ण भट्ट - 'नूतन ब्रह्मचारी' - 1886 तथा 'सौ अजान एक सुजान' - 1892(राधा कृष्ण दास - 'नि:सहाय हिंदू' - 1890(राधा चरण गोस्वामी - 'विधवा विपत्ति' - 1888(कार्तिका प्रसाद खत्री - 'जया' - 1896 बालमुकुन्द गुप्त - 'कामिनी' आदि प्रमुख हैं।

डॉ. विजय शंकर मल्ल के अनुसार फिल्लौरी के 'भाग्यवती' हिंदी का प्रथम उपन्यास है, किन्तु उन्होंने अपनी घोषणा की पृष्टि अपेक्षित प्रमाणों या कारणों से नहीं की।

अनूदित

इन लेखकों ने मौलिक उपन्यासों के साथ-साथ बंगला के उपन्यासों का हिन्दी रूपांतरण भी किया। बाबू गदाधर सिंह - 'बंगविजेता', 'दुर्गेश नंदिनी'(

राधा कृष्ण दास – 'स्वर्ण लता'(प्रताप नारायण मिश्र – 'राज सिंह', 'इंदिरा तथा राधारानी', राधाचरण गोस्वामी 'विरजा', 'जावित्री', तथा 'मृण्मयी' आदि को रूपांतरित किया। बाबू रामकृष्ण वर्मा एवं कार्तिका प्रसाद खत्री ने उर्दू और अंग्रेजी के अनेक रोमांटिक एवं जासूसी उपन्यासों का अनुवाद हिंदी में किया। भारतेंदु युग में अनूदित उपन्यासों की प्रधानता रही है। मौलिक उपन्यासों का रूपांतरण हिंदी भाषा में किया। भारतेंदु युग में अनूदित उपन्यासों का काफी महत्त्व रहा है।

वास्तव में हिन्दी के मौलिक उपन्यासों में भी कला विकास दृष्टिगोचर नहीं होता है। उनमें इतिवृत्त एवं घटनाओं की प्रधानता, चरित्र-चित्रण का अभाव, उपदेशात्मकता का आधिक्य एवं शैली की अपरिपक्वता नजर आती है।

हिंदी के मौलिक उपन्यासों की रचना का श्रेय भारतेंदु कालीन उपन्यासकार त्रयी-देवकी नंदन खत्री, गोपाल राम गहमरी तथा राधाचरण गोस्वामी को दिया जाता है। देवकी नंदन खत्री ने सन् 1891 ई. में 'चंद्रकांता' एवं 'चंद्रकांता संतति' की रचना की, जिनमें तिलस्मी एवं ऐय्यारी का वर्णन है। इन उपन्यासों को इतना अधिक पसंद किया गया कि कई अनेक लोगों ने इन्हें पढ़ने के लिए हिंदी सीखी। गहमरी ने 'जासूस' नामक पत्र का संपादन प्रारंभ किया, जिसमें लगभग पाँच दर्जन से अधिक स्वरचित उपन्यासों को छापा।

उपन्यासों की रचना अंग्रेजी उपन्यासों के आधार पर ही की जाती थी। गोस्वामी ने उपन्यास पत्रिका निकाली जिनमें उनके छोटे-बड़े लगभग 65 उपन्यासों का प्रकाशन किया गया। गोस्वामी के उपन्यासों का विषय सामाजिक था, किन्तु उनमें कामुकता एवं विलासिता का चित्रण सर्वाधिक था जिसके परिणामस्वरूप 'उपन्यास त्रयी' की ये रचनाएँ उपन्यास कला की दृष्टि से अति साधारण कोटि में आती है। इनमें अस्वाभाविक घटनाओं की अधिकता है।

खत्री, गहमरी और गोस्वामी की समन्वित त्रिवेणी तथा प्रेमचन्द की अजस्र प्रवाहिनी धारा को मिलाने का श्रेय अयोध्यासिंह उपाध्याय, लज्जाराम मेहता तथा कुछ अनुवादकों को दिया जाता है। हरिऔध ने 'ठेठ हिंदी का ठाठ' तथा 'अधखिला फूल' लिखकर आईसी.ए म. के विद्यार्थियों के लिए हिंदी मुहावरों की पाठ्य-पुस्तक उपलब्ध कराया। मेहता ने 'आदर्श हिंदू' तथा 'हिंदू गृहस्थ' की रचना कर सुधारवाद का परचम फहराया।

द्विवेदी युग

द्विवेदी युग में भी मौलिक और अनूदित दोनों प्रकार के उपन्यासों का प्रकाशन हुआ। इस समय अधिकतर तिलस्म, ऐयारी, जासूसी और रोमांस के

कथानक प्रस्तुत किए गए। उपन्यास घटना-प्रधान बना रहा। अंग्रेजी से भी साहसिक, जासूसी तथा प्रेमचर्या-प्रधान उपन्यासों का अनुवाद हुआ। इस युग के तीन उपन्यासकार बहुत प्रसिद्ध हैं : देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी और गोपालराम गहमरी। खत्री जी ने 'चन्द्रकांता', 'चन्द्रकांता-संतति' तथा 'भूतनाथ' नामक तिलस्म और ऐयारी के रोचक उपन्यास कई भागों में प्रकाशित किए। इन उपन्यासों के पहले भी भारतेन्दु काल में उन्होंने 'नरेन्द्र मोहनी', वीरेन्द्र वीर' आदि उपन्यास लिखे थे। हरेकृष्ण जोहरी आदि कई लेखकों ने उनके अनुकरण पर तिलस्मी उपन्यास लिखे। बहुत लोगों ने उनके मनोरंजक उपन्यास पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी।

सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास किशोरीलाल गोस्वामी ने लिखे। गोस्वामी जी के सामाजिक उपन्यास वस्तुतः नाम के ही सामाजिक हैं। उनमें समाज की बहुत ही स्थूल और ऊपरी झलक है, यथार्थ चित्रण नहीं। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास के तथ्यों का उचित निर्वाह नहीं हुआ। देशकाल का भी ध्यान उन्होंने कहीं-कहीं नहीं रखा। कुछ उपन्यासों में समाज की कुरीतियों पर प्रहार करने का यत्न किया गया और यत्र-तत्र राष्ट्र-प्रेम की भावना भी है। परन्तु गोस्वामी जी के अधिकांश उपन्यास उत्तेजक श्रृंगार से युक्त हल्के मनोरंजन के साधन हैं। गोस्वामी जी ने लगभग पैंसठ उपन्यास लिखे हैं। उनमें कुछ उपन्यासों के नाम हैं 'कुसुमकुमारी', 'हृदयहारिणी', 'लबंगलता', 'रजिया बेगम', 'तारा', 'कनक कुसुम', 'मल्लिका देवी', 'राजकुमारी', लखनऊ की कब्र', 'चपला', 'प्रेममयी'। जैसा कि नामों में प्रकट है। ये उपन्यास नारी-प्रधान और श्रृंगारिक हैं। वास्तव में उनमें समाज और इतिहास के संदर्भ में कामुकता तथा विलासिता का अंकन हुआ है। उन्होंने 'उपन्यास' नामक पत्रिका भी निकाली थी जिसमें उनके पैंसठ छोटे-बड़े उपन्यास प्रकाशित हुए थे। आचार्य शुक्ल ने गोस्वामी जी के संबंध में लिखा है कि 'इस द्वितीय उत्थानकाल के भीतर उपन्यासकार इन्हीं को कह सकते हैं, परन्तु वस्तुतः उपन्यासकार की सच्ची प्रतिभा इनमें भी नहीं है।'

गोपालराम गहमरी 'जासूस' नामक पत्रिका प्रकाशित करते थे, जिसमें उनके साठ के लगभग उपन्यास छपे। अंग्रेजी के जासूसी उपन्यासों के अनुकरण पर उन्होंने 'जासूस की भूल', 'घर का भेदी', 'अद्‌भुत खून', 'भोजपुर की ठगी', आदि रहस्यपूर्ण, साहसिक और डकैती तथा ठगी की कथाएं निर्मित की। वैसे उन्होंने जासूसी उपन्यासों के क्षेत्र में भी आदर्श के निर्वाह और लोकोपकार की

भावना के समावेश का यत्न किया और आदर्श जासूसों की सृष्टि की। गहमरी जी ने बंगला से गृहस्थ जीवन-संबंधी कुछ उपन्यासों का अनुवाद भी किया था। दूसरी ओर द्विवेदी युग में कुछ ऐसे उपन्यासकार भी हुए, जिन्होंने अपनी रचनाओं में नैतिकता का ध्यान रखते हुए स्वच्छ-स्वस्थ सामग्री प्रस्तुत की। इस तरह के उपन्यासकारों में उल्लेखनीय हैं : हरिऔध, लज्जाराम मेहता और ब्रजनन्दन सहाय। हरिऔध जी ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' लिखकर इनमें मुहावरेदार ठेठ भाषा का नमूना भी पेश किया। मेहता जी ने सुधारवादी दृष्टिकोण से 'आदर्श हिन्दू', 'आदर्शदम्पति' और 'हिन्दू गृहस्थ आदि उपन्यास लिखे। ब्रजनन्दन सहाय के 'सौन्दर्योपासक' में काव्य का आनन्द मिलता है। स्पष्ट है कि गोस्वामी जी, गहमरी जी और खत्री जी के उपन्यासों में जहाँ स्थूल सौन्दर्य और उत्तेजक शृंगारिकता प्रस्तुत है वहाँ इन उपन्यासकारों के ग्रन्थ 'उपदेशात्मक भावना की छटा दिखाने वाले या काव्यात्मक हैं। मानव चरित्र और मानव जीवन के सच्चे चित्रण और उपन्यास-काल की पूर्णता की ओर इस समय तक किसी का भी यथोचित ध्यान नहीं गया था। इस काल में किशोरीलाल गोस्वामी के अतिरिक्त कुछ और लेखकों ने भी ऐतिहासिक उपन्यास लिखें। इनमें उल्लेखनीय हैं: गंगाप्रसाद गुप्त का 'वीर पत्नी' और 'मिश्रबंधुओं के विक्रमादित्य', चन्द्रगुप्त मौर्य' तथा 'पुष्य मित्र'।

द्विवेदी युग में भी अधिकतर साधारण जनता के मनोरंजन और मनोविनोद के लिए घटना प्रधान उपन्यास ही लिखे गये। उनमें कथा का रस तो है, किन्तु चरित्र-चित्रण का सौन्दर्य, समाज का सही अंकन और उपन्यास का परिपक्व शिल्प नहीं। इस समय के उपन्यासकारों को न तो मानव-जीवन का और न मानव-स्वभाव का सूक्ष्म एवं व्यापक ज्ञान था और न उपन्यास की कला से ही उनका अच्छा परिचय था। इस काल में अधिकतर प्रेमप्रधान, साहसिक तथा विस्मयकारक (तिलस्मी-जासूसी) उपन्यास ही लिखे गये। ऐतिहासिक, शिक्षात्मक और काव्यात्मक उपन्यास भी लिखे गये, परन्तु कम। पात्र अधिकतर सौंदर्य के प्रति आकर्षित होने वाले विलासी प्रेमी-प्रेमिका और राजकुमार-राजकुमारी हैं या फिर ऐयार तथा जासूस। इस काल के उपन्यास भारतेन्दु काल के उपन्यासों की अपेक्षा रोचक और मनोरंजक अधिक हैं। शिक्षा देने की प्रवृत्ति भी कम है। प्रतापनारायण मिश्र, गोपालराम गहमरी, ईश्वरीप्रसाद शर्मा, हरिऔध, कार्तिकप्रसाद खत्री, रूपनारायण पाण्डेय, रामकृष्ण वर्मा आदि साहित्यकारों ने बंगला, अंग्रेजी और उर्दू आदि भाषाओं के उपन्यासों का अनुवाद किया। आचार्य शुक्ल का कथन

है कि हिन्दी के मौलिक उपन्यास-सृजन पर इन अनुवाद कार्यों का अच्छा प्रभाव पड़ा और इसके कारण हिन्दी उपन्यास का आदर्श काफी ऊँचा हुआ।

प्रेमचन्द युग

द्विवेदी युग के अन्त तक (1917 ई. तक) हिन्दी के मौलिक और अनूदित दोनों प्रकार के उपन्यास काफी संख्या में लिखे जा चुके थे। मौलिक उपन्यास अनेक प्रकार के और अनेक विषयों पर थे। उपन्यास क्रमशः जीवन और समाज के निकट आ रहा था, परन्तु अब भी उसमें बहुत-सी, त्रुटियाँ थी। प्रेमचन्द के समय से विशेष कर उनके 'सेवासदन' के प्रकाशन काल (सन् 1918 ई.) से हिन्दी-कथा साहित्य में एक नये युग का आरम्भ होता है। प्रेमचंद ने ही उपन्यास में मानव मन का स्वाभाविक एवं सजीव अंकन आरम्भ किया। उन्होंने ही पहली बार हिन्दी उपन्यास में घटना और चरित्र का संतुलन स्थापित कर मनोविज्ञान का उचित समावेश किया। उन्होंने ही समाज की समस्याओं को सर्वप्रथम कथा-साहित्य में स्थापित किया। उन्होंने जीवन और जगत के विविध क्षेत्रों का, समाज के विभिन्न वर्गों का ग्रामीण तथा नागरिक क्षेत्रों की बहुत-सी दशाओं तथा परिस्थितियों का सूक्ष्म निरीक्षण कर व्यापक अनुभव प्राप्त किया था। मनोविज्ञान के वे पंडित थे। मानव-स्वभाव के विविध पक्षों से भली-भांति परिचित थे। उपन्यास-कला का भी उन्हें बहुत अच्छा ज्ञान था। पश्चिम के ताल्सताय, दोस्तोवस्की, तुर्गनेव, गोर्की, अनातोले फ्रांस आदि महान् उपन्यासकारों की रचनाओं का भी उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था।

प्रारम्भ में प्रेमचन्द उर्दू के लेखक थे और कहानियाँ लिखते थे। उर्दू में उनके कुछ उपन्यास भी प्रकाशित हुए थे। बाद में उन्होंने हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया। उनके महत्त्वपूर्ण उपन्यास हैं : सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, निर्मला, गबन, कर्मभूमि, गोदान और मंगलसूत्र (अपूर्ण)। प्रेमचन्द उपन्यास को मनोरंजन की वस्तु नहीं मानते थे। वे अपने उपन्यासों द्वारा भारतीय जनता के जागरण और सुधार तथा निर्माण की भावना का प्रसार करना चाहते थे। प्रेमचन्द मानवतावादी सहृदय व्यक्ति थे। वे गरीबी में पले थे, गरीबों के दुःख-दर्द को समझते थे। समाज के निम्न वर्ग से उन्हें सहानुभूति थी। जीवन के अन्तिम समय में, जैसा कि उनके अन्तिम उपन्यासों ('गोदान' और 'मंगलसूत्र') से प्रकट है, उनका झुकाव साम्यवाद की ओर हो गया था और वे सच्चे अर्थ में यथार्थवादी और प्रगतिशील हो गये थे। अपनी पुस्तकों में प्रेमचन्द ने किसानों की आर्थिक

दशा, जमींदारों और पुलिस के अत्याचारों, ग्रामीण जीवन की कमजोरियों, समाज की कुरीतियों, शहरी समाज की कमियों, विधवाओं और वेश्याओं की समस्याओं, नारी की आभूषणप्रियता, मध्यवर्ग की झूठी शान और दिखावे की प्रवृत्ति, सम्मिलित हिन्दू-परिवार में नारी की दयनीय स्थिति आदि प्रश्नों और पक्षों पर प्रकाश डाला। उन्होंने अपने कई उपन्यासों में गाँव और शहर की कहानी, ग्रामीण और नागरिक जीवन की झांकी साथ-साथ प्रस्तुत की है। उनके उपन्यासों में कथानक सुगठित है चरित्र-चित्रण प्रायः मनोविज्ञान के अनुकूल सजीव और स्वाभाविक है। संवाद पात्रों और परिस्थितियों के अनुसार हैं और भाषा सरल एवं व्यवहारिक है।

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला की प्रमुख विशेषताएँ हैं : व्यापक सहानुभूति-विशेषकर शोषित किसान, मजदूर और नारी का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण, यथार्थवाद अर्थात् उपन्यास में जीवन का यथार्थ चित्रण, मानव-जीवन और मानव-स्वभाव की अच्छी जानकारी होने से सजीव पात्रों और सजीव वातावरण का निर्माण, चरित्र-चित्रण में नाट्कीय कथोपकथनात्मक तथा घटनापरक पद्धतियों का उपयोग, समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि पात्रों की सृष्टि, अपने व्यक्तित्त्व को पात्रों से पृथक रखकर उन्हें प्रायः अपनी सहज-स्वच्छन्द गति से चलने देना, अनेकानेक सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं का चित्रण, समाज के साथ पारिवारिक जीवन की सुन्दर अभिव्यक्ति, मानव-कल्याण की ओर संकेत करने वाले नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा और सरल व्यावहारिक भाषा का संग्रह। प्रेमचन्द युग के अन्य उल्लेखनीय उपन्यासकार हैं– विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, प्रसाद, निराला, सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावन लाल वर्मा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, सियारामशरण गुप्त, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', भगवती प्रसाद वाजपेयी, गोविन्दवल्लभ पंत, राहुल सांकृत्यायन और जैनेन्द्र। कौशिक जी के उपन्यास 'माँ' और भिखारिणी नारी-हृदय का मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत करते हैं। आचार्य चतुरसेन ने नारी की समस्या पर 'हृदय की परख', 'हृदय की प्यास', 'अमर अभिलाषा' आदि उपन्यास प्रारम्भ में लिखे थे। बाद में उनके बहुत से सामाजिक, ऐतिहासिक और वैज्ञानिक उपन्यास प्रकाशित हुए। उनके कुछ उल्लेखनीय उपन्यास हैं : 'गोली', 'वैशाली की नगर वधू' 'वयं' रक्षामः' 'सोमनाथ' 'महालय', 'सोना और खून' तथा 'खग्रास'। वृन्दावनलाल वर्मा ने इतिहास के तथ्यों की पूर्णतः रक्षा करते हुए कई महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की है। उन्होंने

'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी', 'कचनार', 'मृगनयनी', 'माधवजी सिंधिया' आदि उच्चकोटि के ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। हिन्दी के कुछ अन्य उल्लेखनीय ऐतिहासिक उपन्यास हैं। जयशंकर प्रसाद का 'इरावती' (अधूरा), हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारु चन्द्रलेख', चतुरसेन का 'वैशाली की नगरवधू', 'राजसिंह', 'सोमनाथ', 'सह्याद्रि की चट्टानें', सेठ गोविन्ददास का 'इन्दुमती', राहुल सांकृत्यायन के 'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय', सत्यकेतु दिद्यालंकार का 'आचार्य चाणक्य', रांगेय राघव का 'अंधा रास्ता', उमाशंकर का 'नाना फड़नवीस' तथा 'पेशवा की कंचना'।

प्रसाद जी ने 'इरावती' के पहले 'कंकाल' और 'तितली' नामक दो उपन्यास और लिखे थे, 'कंकाल' में हिन्दू नारी की असहाय स्थिति और धार्मिक पाखंड पर प्रकाश डाला गया है। 'तितली' में नारी-हृदय की महत्ता के उद्घाटन के साथ-साथ ग्राम-सुधार और यथास्थिति के विरुद्ध आन्दोलन की भावना है। प्रसाद जी मूलत: कवि हैं। उनके उपन्यासों में भी प्राय: जीवन की काव्यात्मक और भावपूर्ण व्याख्या मिलती है। निराला जी ने भी 'अप्सरा' 'अल्का', 'निरूपमा' आदि उपन्यास लिखे। इनके उपन्यासों में भी प्रसाद जी की भांति रोमांटिक वातावरण है। नारी को निराला जी ने महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव के प्रारम्भिक उपन्यासों में 'विदा', 'विसर्जन' और 'विजय' उल्लेखनीय हैं।

सियारामशरण गुप्त के 'गोद', 'अन्तिम आकांक्षा' और 'नारी' उपन्यासों में नारी-जीवन और उसकी सामाजिक स्थिति का मार्मिक अंकन हुआ है। साधारण मनुष्य में भी उच्च गुण दिखाने में गुप्त जी निपुण है। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के प्रारम्भिक उपन्यासों में पत्रात्मक शैली में लिखे 'चन्द हसीनों के खतूत' का विशिष्ट स्थान है। इसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रश्न उपस्थित करते हुए प्रेम का महत्त्व दिखाया गया है। उनके 'दिल्ली का दलाल', 'बुधुआ की बेटी', 'जीजी जी' आदि उपन्यासों में दुष्टों द्वारा भोली युवतियों को फंसाएँ जाने की कथाएं हैं। सभ्य समाज की भीतरी दुर्बलताओं और दुष्प्रवृत्तियों का उन्होंने अच्छा उद्घाटन किया है। भगवती प्रसाद वाजपेयी के 'प्रेममयी', 'अनाथ स्त्री', 'त्यागमयी', 'पतिता की साधना' आदि शुरू के उपन्यासों में स्त्री-पुरुष के रूपाकर्षण और प्रेम के चित्र हैं। उनके 'गुप्त धन', 'चलते-चलते', 'पतवार', 'उनसे न कहना', 'रात और प्रभाव', 'टूटते बन्धन' आदि कई उपन्यास प्रकाशित

हो चुके हैं। गोविन्दवल्लभ पंतके 'सूर्यास्त', 'प्रतिमा', आदि उपन्यास काफी पहले प्रकाशित हुए थे। बाद में भी उनके 'जल समाधि', 'नारी के सपने', 'मैत्रोय' आदि उपन्यास निकले हैं।

जैनेन्द्र के परख (सन् 1929 ई.) से हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में एक नई प्रवृत्ति का आरम्भ होता है। वस्तुतः यह उपन्यास एक लम्बी कहानी है, जिसमें कट्टो नाम की देहातिन बालविधवा के भावुकतापूर्ण आत्मसमर्पण का चित्रण किया गया है। जैनेन्द्र ने आगे चलकर कई महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक उपन्यास 'सुनीता', 'सुखदा', 'त्यागपत्र', विवर्त्त' आदि लिखे, जिनमें प्रायः स्त्री का पर-पुरुष की ओर झुकाव दिखाकर आधुनिक नारी के कुण्ठाग्रस्त मन पर प्रकाश डाला है। मनोविश्लेषण की इस प्रवृत्ति का विकास किया इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय ने। प्रेमचन्द युग के उत्तरार्ध में इस क्षेत्र में आने वाले अन्य प्रतिभाशाली उपन्यासकार हैं। ऋषभचरण जैन (कैंदी गदर, भाई भाग्य, रहस्यमयी, तपोभूमि, बादशाह की बेटी, सत्याग्रह, दिल्ली का व्यभिचार आदि), भगवतीचरण वर्मा (पतन, तीन वर्ष, चित्रलेखा, टेढ़े-मेढ़े रास्ते, सबहि नचावत राम गुसाईं) राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह (राम-रहीम, पुरुष और नारी, टूटा तारा, सूरदास, संस्कार आदि)

इस काल में जो उपन्यास लिखे गए, उन्हें चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है– यथार्थवादी सामाजिक उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास, स्वच्छन्दतापरक उपन्यास और मनोवैज्ञानिक उपन्यास। उपन्यास-लेखन की बहुत-सी शैलियों (ऐतिहासिक, आत्मकथात्मक, पत्रात्मक आदि) का प्रयोग हुआ है। इस काल में यूरोप की अनेक समृद्ध भाषाओं (रूसी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी आदि) से उपन्यासों का अनुवाद भी हुआ।

प्रेमचन्द (सन् 1880-1936 ई.) के हिन्दी कथा साहित्य में पदार्पण से पूर्व तक हिंदी उपन्यास मानो अविकसित कलिका के समान चुप, निस्पंद एवं चेतना-विहीन सा हो रहा था। सूर्य की प्रथम रश्मियों की तरह प्रेमचन्द की पावन कला का पुनीत स्पर्श प्राप्त करते ही वह कली पुष्पित होकर, खिल उठी, जगमगा कर खिलखिलाने लगी। राजा-रानी, सेठ-सेठानियों की उच्च अट्टालिकाओं की चार दीवारी में कैद उपन्यास कथानक जनसाधारण की लोकभूमि में उन्मुक्त सांस लेता हुआ अबाध विचरण करने लगा। लौह मूर्तियों के समान स्थिर रहने वाले या कठपुतलियों की तरह लेखन की उंगलियों के मौन संकेतों पर अस्वाभाविक गीत से नाचने वाले, दौड़ने-फुदकने वाले पात्र मांसल सजीव रूप

धारण कर व्यक्तित्त्व सम्पन्न सामान्य मानव की भांति आत्म प्रेरणा से परिचालित होते प्रतीत होने लगे, जिसके परिणामस्वरूप उपन्यास के अन्य तत्त्वों-कथोपकथन, देश काल एवं वातावरण, भाषा शैली, उद्देश्य एवं रस आदि का विकास सर्वप्रथम प्रेम चन्द के उपन्यासों में हुआ। उन्होंने मात्र सस्ते मनोरंजन को ही उपन्यासों का विषय न बनाकर जीवन की ज्वलंत समस्याओं को अपने उपन्यासों का लक्ष्य बनाया जिसके परिणामस्वरूप उनके प्रत्येक उपन्यासों में किसी न किसी सामयिक समस्या का चित्रण मार्मिक स्वरूप में उपलब्ध है। यथा - 'सेवा सदन' (1918) 'वेश्या', 'रंगभूमि' (1928) - 'शासक अत्याचार', 'प्रेमाश्रम' (1921) - 'कृषक,' 'कर्मभूमि' (1932) - हरिजन, 'निर्मला' (1922) - 'दहेज एवं वृद्ध विवाह', 'गबन' (1931) मध्यवर्गीय आर्थिक विषमता('गोदान' (1936) कृषक श्रमिक शोषण।

प्रेमचंद के प्रारंभिक उपन्यासों में आदर्शवादिता की अधिकता होने की वजह से उनमें कहीं-कहीं काल्पनिकता एवं अस्वाभाविकता अधिक आ गई है, किन्तु आगे चलकर प्रेमचन्द का स्वरूप आदर्शवादी के स्थान पर यथार्थवादी बन गया है, जहां प्रारंभिक उपन्यासों में समस्याओं को सुलझाने हेतु गांधीवादी विचारधारा को अपनाया है वहां उन्होंने अन्तिम उपन्यास 'गोदान' में केवल समस्याओं के प्रस्तुतीकरण के द्वारा ही आत्मतुष्टि कर ली है।

'गोदान' की प्रमुख ही नहीं अंगी समस्या विवाह है। प्रेमचंद ने 'गोदान' में - बाल विवाह, वृद्ध विवाह, अनमेल विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, प्रेम-विवाह, गांधर्व विवाह, परंपरित-विवाह, भगाकर ले जाना, रखैल रखना, वैसे ही संबंध स्थापित कर लेना, विवाहित से प्रेम, अविवाहिता से प्रेम करना आदि जितने भी प्रकार या स्वरूप संभव हैं सभी गोदान में देखने को मिलते हैं। इनमें आदर्श विवाह क्या हो सकता है? उसका समाधान प्रेमचंद ने नहीं प्रस्तुत किया है। मेहता और मालती को अविवाहित ही क्यों छोड़ दिया है, जो पति-पत्नी के रूप में आजीवन रहते हैं। समाज के लिए यह हितकारी नहीं है। इसलिए यह माना जा सकता है कि विवाह समस्या का यह समाधान नहीं है। शुक्ल ने जैसे अपने निबंधों का निर्णय अपने पाठकों पर चिन्तामणि के प्रथम भाग की भूमिका दो शब्द में यह कह कर कि "मेरे निबंध विषय प्रधान हैं या विषयी प्रधान इसका निर्णय विज्ञ पाठकों पर छोड़ देता हूँ।" उसी प्रकार प्रेमचन्द ने समस्या को सुलझाने का कार्य पाठकों पर छोड़ दिया है। श्रेष्ठ साहित्यकार समस्या का समाधान नहीं प्रस्तुत करता है।

प्रेमचन्द युग में प्रेमचंद के अतिरिक्त अन्य अनेक उच्च कोटि के उपन्यासकारों का आगमन हुआ, जिन्होंने विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न विषयों को अपने उपन्यासों का विषय बनाया। इन उपन्यासकारों को उनकी विशेषताओं के आधार पर कई वर्गों में बाँटा जा सकता है–

(i) **सामाजिक समस्या**– इस वर्ग में ऐसे उपन्यास आते हैं, जिन्होंने सामाजिक समस्याओं को चित्रित करते हुए प्रेमचन्द की परंपराओं को आगे बढ़ाने का कार्य किया। इस वर्ग के उपन्यासकारों में जयशंकर प्रसाद, विश्वंभर नाथ शर्मा 'कौशिक', पांडेय बेचन शर्मा उग्र, चतुरसेन शास्त्री तथा उपेन्द्र नाथ अश्क आदि उल्लेखनीय हैं।

जयशंकर प्रसाद– जयशंकर प्रसाद ने 'कंकाल' में भारतीय नारी जीवन की दुर्दशा का चित्रण किया है। उनके अन्य उपन्यास 'तितली' में नारी की सामाजिक स्थिति का चित्रण करते हुए उसके विभिन्न रूपों पर प्रकाश डाला है। अन्य उपन्यास 'इरावती' है।

विश्वंभर नाथ शर्मा कौशिक– कौशिक ने 'माँ' और 'भिखारिणी' में भी नारी की सामाजिक स्थिति का चित्रण करते हुए उसके विभिन्न रूपों पर चर्चा की है।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'– उग्र लेखक के रूप में काफी उल्लेखनीय कार्य किया है। उन्होंने 'दिल्ली का दलाल', 'बुधुआ की बेटी', में सभ्य समाज की आंतरिक दुर्बलताओं, अनीतियों एवं घृणित प्रवृत्तियों का उद्घाटन आवेगपूर्ण एवं धड़ल्लेदार शैली में किया है।

चतुरसेन शास्त्री– चतुरसेन शास्त्री ने विधवाश्रमों की आड़ में हृदय की प्यास को बुझाने वालों की अच्छी खबर ली है। 'गोली' इस दृष्टि से उनका प्रमुख उपन्यास है, जिसमें देशी रियासतों के शासकों की घृणित प्रवृत्तियों एवं विलासिता का नग्न रूप पेश किया है। शास्त्री ने कुछ ऐतिहासिक उपन्यासों की भी रचना की है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'– अश्क के उपन्यासों में मुख्य रूप से 'गिरती दीवारों' में मध्यमवर्गीय समाज की बाह्य एवं आंतरिक परिस्थितियों का उद्घाटन यथार्थवादी शैली में हुआ है। विवाह संबंधी सामाजिक रूढ़ियों की वजह से होने वाली आधुनिक युवक-युवतियों की असफल परिणति पर उन्होंने 'चेतन' के माध्यम से प्रकाश डाला है। सामाजिक समस्याओं को उपन्यास का विषय बनाने

वाले उपन्यासकारों ने सभी उपन्यासकारों की शैली में सरलता एवं स्वाभाविकता का आग्रह विशेष रूप से किया है।

(ii) **चरित्र प्रधान**– इस वर्ग के उपन्यासों में चरित्र की प्रमुखता अधिक है। ऐसे उपन्यासकारों में जैनेंद्र, इलाचन्द्र जोशी, भगवती चरण वर्मा एवं सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय आदि प्रमुख हैं।

जैनेंद्र– जैनेंद्र के उपन्यासों में 'सुनीता', 'परख', 'सुखदा' 'त्यागपत्र' तथा 'विवर्त्त' आदि प्रमुख उपन्यास हैं। इनके अधिकांश उपन्यासों में पति–पत्नी एवं अन्य पुरुष के पारस्परिक संबंधों को चित्रित किया गया है। सबमें प्रायः एक समान ही चित्रण मिलता है। नायिका प्रायः विवाहिता होती है। अपनी वैयक्तिक कुंठाओं से अति दुखी होती है। जिसके परिणामस्वरूप सदैव सुख की तलाश में रहती है। पर पुरुष के संपर्क में आते ही उसे प्रभावशाली व्यक्तित्त्व समझकर उसकी तरफ आकर्षित हो जाती है। नायिका का पति इस स्थित से पूर्ण अवगत होते हुए भी चुपचाप रहता है। सब कुछ धैर्य से सहन करते हुए समय की प्रतीक्षा करता रहता है। प्रारंभ में ऐसा आभास होने लगता है कि नायिका अपने पति को छोड़कर अपने प्रेमी के साथ पलायन कर जायेगी किंतु अंत तक जाते जाते जैनेंद्र परिस्थिति को संभाल लेते हैं तथा यह निष्कर्ष निकालना चाहते हैं कि पति–पत्नी को अन्य व्यक्तियों से संपर्क करने का जितना मौका प्राप्त होता है, जितनी अधिक स्वतंत्रता मिलती है उतनी चारित्रिक दृढ़ता एवं सबलता में वृद्धि होती है। वास्तव में जैनेंद्र के उपन्यासों में एक ओर रसिकता एवं सरसता विद्यमान है तो दूसरी तरफ शुष्कता तथा भावुकता के साथ–साथ बौद्धिकता आवश्यकता से अधिक आ गई है।

इलाचंद्र जोशी–इलाचंद्र जोशी ने 'संन्यासी' 'परदे की रानी', 'प्रेत' और 'छाया', 'सुबह के भूले' तथा 'मुक्ति पथ' आदि उपन्यासों में चारित्रिक प्रवृत्तियों एवं वैयक्तिक परिस्थितियों का सूक्ष्म चित्रण किया है, किंतु जैनेन्द्र की तरह शुष्क कथानक नहीं हैं उनके पास प्रत्येक उपन्यास में प्रयोग करने के लिए नए–नए अनेक कथानक हैं, नई–नई अनेक समस्याएँ हैं, अतः उन्हें समस्याओं परिस्थितियों एवं कथानकों आदि के पुनर्प्रयोग की जरूरत नहीं होती है। एक ओर उसके पास कल्पना का वैभव है तो दूसरी ओर अनुभूतियों का संचित कोष – जिसकी वजह से वे अपने उपन्यासों को सौंदर्यमयी एवं रसमयी बनाने में पूर्ण सक्षम एवं समर्थ हैं। जैनेन्द्र के उपन्यास यदि पेंसिल निर्मित रफ स्केच के समान हैं तो जोशी के उपन्यास सतरंगी सूक्ष्म रेखाओं से सुसज्जित दिव्य चित्र हैं। जटिल दार्शनिकता पर जैनेन्द्र को

अत्यधिक गर्व है, जोशी के उपन्यास दार्शनिक जटिलता शून्य है, किन्तु जोशी का सारल्य, भाषा प्रवाह तथा शैली की प्रौढ़ता आज किसी भी उपन्यासकार में नहीं देखने को मिलता है। किसी-किसी स्थान पर जोशी भी दार्शनिकता प्रिय आलोचकों की प्रशंसा प्राप्त करने की प्रबल आकांक्षा में अथवा विद्यार्थियों के काम की वस्तु बनाने के लालच का संवरण न कर सकने के परिणामस्वरूप दार्शनिक नीरस सिद्धान्त निरूपण के जाल में फंस गए हैं। यह उनकी औपन्यासिकता के ह्रास का चित्रण करता है। 'सुबह के भूले' तथा 'मुक्ति पथ' उपन्यासों की औपन्यासिकता का पतन हुआ है।

भगवती चरण वर्मा- भगवती चरण वर्मा ने 'तीन वर्ष', 'आखिरी दांव' तथा 'टेढ़े-मेढ़े' रास्ते में सामाजिक एवं राजनीतिक परिवेशों पर नजर रखते हुए मनोविश्लेषण को महत्त्व दिया है।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय- अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' (दो भाग) तथा 'नदी के द्वीप' दोनों उपन्यासों में यौन प्रवृत्तियों का ऐसा भयंकर चित्रण सूक्ष्म, जटिल एवं गंभीर शैली में प्रस्तुत किया है कि सामान्य पाठक के हृदय को शांति प्रदान करने के स्थान पर उसके मस्तिष्क को कुरेदने एवं कचोटने में आग में घी का काम देता है। अज्ञेय ने विभिन्न मनोवैज्ञानिकों, एवं मनोविश्लेषणकर्ताओं द्वारा प्रतिपादिन यौन सिद्धान्तों के अनुकूल अपने उपन्यास के पात्र-पात्राओं के चरित्र को अति सूक्ष्मता से चित्रित किया है। चरित्र-चित्रण को इनमें इतने अधिक महत्त्व दिया गया है कि उसके समक्ष उपन्यास के अन्य तत्त्व गौण हो गए हैं। ऐसी स्थिति में इनमें सामाजिक परिस्थितियों के स्थान पर व्यक्ति की मानसिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण को विस्तृत करना स्वाभाविक हो गया है।

(iii) **साम्यवादी**- इस वर्ग में साम्यवादी दृष्टिकोण से रचित उपन्यास आते हैं, जिनमें राहुल सांकृत्यायन तथा यशपाल आदि प्रमुख हैं–

राहुल सांकृत्यायन- राहुत सांकृत्यायन के साम्यवादी उपन्यास 'सिंह सेनापति' तथा 'वोल्गा से गंगा' आदि प्रमुख उपन्यास हैं। दोनों उपन्यासों में रूसी साम्यवादी विचारधारा का प्रतिपादन किया गया है।

यशपाल- यशपाल के उपन्यास 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'मनुष्य के रूप' आदि में वर्ग संघर्ष, वर्ग वैषम्य का चित्रण करते हुए सामाजिक क्रांति की चर्चा की है।

(iv) **ऐतिहासिक**– ऐतिहासिक उपन्यासों को देशकाल प्रधान उपन्यास के श्रेणी में रखा जाता है। इस वर्ग में देशकाल प्रधान या ऐतिहासिक उपन्यास आते हैं। ऐतिहासिक कथानकों की ओर हिंदी उपन्यासकारों का ध्यान बहुत पहले चला गया था।

ऐतिहासिक उपन्यास वालों में किशोरी लाल गोस्वामी, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, यशपाल, वृंदावन लाल वर्मा तथा रांगेय राघव का नाम विशेष रूप उल्लेखनीय हैं–

किशोरी लाल गोस्वामी– किशोरी लाल गोस्वामी ने कुछ ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जिनमें ऐतिहासिकता का निर्वाह नहीं किया गया है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री– आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने कई ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की जिनमें उनका सर्वोत्कृष्ट ऐतिहासिक उपन्यास 'वैशाली की नगर वधू' है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी– आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एवं 'चारुचन्द्र' को दो प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास की श्रेणी में शामिल कर सकते हैं।

यशपाल– यशपाल का ऐतिहासिक उपन्यास 'दिव्या' को माना जाता है, जिसमें तत्कालीन युग के संपूर्ण परिवेश को प्रस्तुत करने का पूर्व प्रयास किया गया है। अन्य उपन्यास 'अमिता' है।

वृंदावन लाल वर्मा– ऐतिहासिक उपन्यासों की परंपरा को चरम विकास तक पहुंचा देने का एक मात्र श्रेय वृंदावन लाल वर्मा को दिया जाता है। 'गढ़ कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी', 'झांसी की रानी लक्ष्मी बाई', तथा 'मृगनयनी' आदि उपन्यास ऐतिहासिक हैं, जिनमें इतिहास के अनेक विस्मृत प्रसंगों को नवजीवन प्राप्त हुआ है। मृगनयनी में ऐतिहासिकता – कल्पना, तथ्य – अवास्तविकता तथा मानव और प्रकृति का सुंदर सामंजस्य एवं समन्वय हुआ है।

डॉ. रांगेय राघव– नवीनतम ऐतिहासिक उपन्यासकारों में डॉ. रांगेय राघव तथा उनके उपन्यासों 'अंधा रास्ता', 'सुनामी' एवं 'भगवान एक लिंग' आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

(v) **आँचलिक**– किसी अंचल या प्रदेश विशेष के वातावरण का सजीव चित्रण प्रस्तुत करने को आँचलिकता कहा जाता है। जिन उपन्यासों में यह प्रस्तुतीकरण होता है। उन्हें आँचलिक उपन्यास कहा जाता है। हिन्दी उपन्यास के तत्त्वों पर आधारित नहीं अपितु स्वतंत्र सर्वथा नवीन वर्ग है। वर्तमान काल में ऐसे

उपन्यासों का विकास हो रहा है। ऐसे उपन्यासकारों में फणीश्वर नाथ रेणु, उदयशंकर भट्ट, बलभद्र ठाकुर, नागार्जुन तथा तरन तारन के आदि प्रमुख हैं। हिंदी आँचलिक उपन्यासों पर बंगला प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उपन्यास की इस परंपरा का श्रीगणेश स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् अर्थात् सन् 1950 ई. के लगभग हुआ।

नागार्जुन– नागार्जुन हिंदी के पहले आँचलिक उपन्यासकार माने जाते हैं। नागार्जुन ने अनेक उपन्यास लिखे जिनमें 'बलचनमा', 'बाबा बटेसर नाथ', 'रतिनाथ की चाची', 'ईमरतिया', 'पारों', 'जमनिया का बाबा' तथा 'दुखमोच' आदि प्रमुख हैं। आँचलिक उपन्यास कला की दृष्टि से बाबा बटेसर नाथ अधिक मंजी हुई सशक्त रचना मानी जाती है। इसमें कथ्य का संतुलित निरूपण, सजीव चरित्र चित्रण तथा प्रसंगों का नवीन प्रणाली से संयोजन सहृदय को अपनी तरफ खींचता है। बरगद वृक्ष का मानवीकरण करके सर्वथा नवीन प्रयोग किया गया है। बरगद मानवीय संवेदनाओं से युक्त है।

फणीश्वर नाथ रेणु– 'मैला आँचल' की रचना कर फणीश्वर नाथ रेणु ने आँचलिक उपन्यास के क्षेत्र में तहलका मचा दिया है। इस उपन्यास के प्रकाशन ने रेणु को रातों-रात प्रसिद्धि प्रदान की थी। इतनी ख्याति किसी भी साहित्यकार को एकलौती रचना पर नहीं मिली है। इसमें बिहार प्रांत के पूर्णिया जनपद के मेरी गंज अंचल के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं धार्मिक आदि सभी परिवेशों का यथार्थ चित्रण पेश किया है। पूर्णिया जिले की स्थानीय बोली का प्रयोग आँचलिकता की मांग है, पर कुछ स्थानिक शब्दों के प्रयोग भावबोध कराने में कठिनता एवं जटिलता उत्पन्न करते हैं, जो कथा रस में अवरोध उत्पन्न करते हैं भले ही आँचलिकता प्रदर्शन में सफल हुए हों। 'परती परिकथा' अन्य उपन्यास है।

रांगेय राघव– आँचलिक उपन्यास के क्षेत्र में रांगेय राघव की भूमिका काफी अहम मानी जाती है। 'कब तक पुकारूँ' उनका चर्चित आँचलिक उपन्यास है, जिसमें जरामयपेशा आपराधिक कृति वाले नटों के जीवन का व्यापक एवं यथार्थ चित्रण किया गया है। इन नटों की वैवाहिक एवं यौन संबंधी मान्यताएँ सामान्य मानव से बिल्कुल अलग है। इनमें सांप्रदायिक मान्यताएँ नहीं हैं, क्योंकि बहुत कम समय के लिए अपने मूल निवास पर आते हैं। ये मुख्य रूप से मायावरी जीवन व्यतीत करते हैं।

उदय शंकर भट्ट - उदय शंकर भट्ट द्वारा रचित लोक-परलोक आँचलिक उपन्यास है, जिसमें एक लोक तथा स्वर्ग का काल्पनिक चित्रण किया गया है।

बलभद्र ठाकुर- बलभद्र ठाकुर के उपन्यासों में 'आदित्य नाथ', 'मुक्तावली', 'नेपाल की वो बेटी' प्रमुख हैं।

प्रेमचन्दोत्तर युग

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी उपन्यास कई मोड़ों से गुजरता हुआ दिखाई पड़ता है। सन् '40 से' 50 तक की कालावधि के उपन्यास मुख्यत: फ्रॉयड और मार्क्स की विचारधारा से, सन् '50 से' 60 तक के उपन्यास प्रयोगात्मक विशेषताओं से और सन् '60 से अब तक के उपन्यास आधुनिकतावादी विचारधारा से प्रभावित हैं। प्रेमचन्द समाज की स्वीकृत मान्यताओं के भीतर संघर्ष करते रहे। किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद पश्चिम के पुराने मूल्यों का तेजी के साथ विघटन हुआ। फ्रॉयड ने काम-संबंधी मान्यताओं को नैतिकता-अनैतिकता से परे बताकर सामाजिक नैतिकता के आगे प्रश्नचिऋ लगा दिया। पूंजीवादी समाज में व्यक्ति-चेतना उभर कर सामने आई। मार्क्स ने समष्टि चेतना पर विशेष बल दिया। हिन्दी उपन्यास इन विचारधाराओं से प्रभावित हुए बिना न रहा। फलस्वरूप सन् '50 के बाद उपन्यासकारों का ध्यान व्यक्ति और समाज की मुक्ति की ओर गया। किन्तु स्वतंत्रता के बीस वर्षों बाद भी मानव जीवन में एक विशेष प्रकार की कुण्ठा, निराशा, त्रस, अर्थहीनता आदि की अनुभूति होने के कारण सन् '60 के बाद के उपन्यासों में इन्हीं मनोदशाओं का चित्रण किया गया। प्रेमचन्द-युग में ही जैनेन्द्र ने फ्रॉयड से प्रभावित होकर मानव-चरित्र के स्थान पर व्यक्ति-चरित्र की सृष्टि की थी। किन्तु सन् '51 में अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' के प्रकाशन के साथ ही हम उपन्यास की दिशा में एक नया मोड़ पाते हैं। अज्ञेय के तीन उपन्यास प्रकाशित हुए हैं-'शेखर : एक जीवनी' (दो भाग), 'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी'। पहले दो उपन्यासों में व्यक्तिपात्रों के मनो विश्लेषण की प्रवृत्ति है। तीसरी रचना में कोई सम्बद्ध कथानक नहीं है। अज्ञेय ने उपन्यास को पात्र-प्रधान बनाया और सामाजिक मानव के स्थान पर व्यक्ति-मानव के अन्तर्मन का विश्लेषण करने का यत्न किया।

इलाचन्द्र जोशी को उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठा 'संन्यासी' (1914) उपन्यास-प्रकाशन के द्वारा मिली। इस उपन्यासो में ही पहली बार मनोविश्लेषणात्मक

पद्धति की विकृति देखी जा सकती है। 'संन्यासी' के अतिरिक्त 'पर्दे की रानी' (1941), 'प्रेत और छाया' 'निर्वासित', 'मुक्तिपथ' (1950) 'सुबहके भूले' (1957), 'जिप्सी', 'जहाज का पंछी' (1955) और 'ऋतुचक्र' उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। उनके उपन्यासों की विकास-यात्रा में 'मुक्तिपथ' एक नए मोड़ की सूचना देता है। 'मुक्तिपथ' के पूर्ववती उपन्यास ग्रन्थियों के विश्लेषण पर आधारित है। उनकी भाव-भूमियाँ एकांगी, संकुचित और छोटी हैं। 'मुक्तिपथ' तथा उसके बाद जो उपन्यास लिखे गये, उनमें परिदृष्य का विस्तार और सामाजिकता का समावेश दिखाई पड़ता है।

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों में अपनी विशिष्ट विचारधारा, ईमानदारी और सर्जनात्मक शक्ति के कारण यशपाल ने स्वतंत्र व्यक्तित्त्व बना लिया। ऐतिहासिक दृष्टि से यशपाल को प्रेमचन्द उपन्यास-परम्परा की अगली कड़ी के रूप में माना जा सकता है। यशपाल का प्रारम्भिक जीवन क्रांतिकारी दल से सम्बद्ध था। वे इसके सक्रिय सदस्य थे, इसके लिए उन्हें चौदह वर्ष का कारावास भी मिला। कारावास काल में उनका सारा समय अध्ययन-मनन में व्यतीत हुआ। इसी समय मार्क्सवादी विचारधारा का इन पर गहरा प्रभाव पड़ा। साहित्य के क्षेत्र में उतरने पर उन्होंने इसी विचारधारा को आगे बढ़ाया। उनके उपन्यास हैं : 'अमिता', 'दिव्या', 'दादा कामरेड' (1941), 'देशद्रोही' (1943), 'पार्टी कामरेड' (1946), 'मनुष्य के रूप में' (1949), 'झूठा सच' : प्रथम भाग, 'वतन और देश' (1958), दूसरा भाग 'देश का भविष्य' (1960)।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' यशपाल की परम्परा में आते हैं। चढ़ती धूप, नई इमारत, उल्का और मरुप्रदीप उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं, पर इनमें द्वन्द्वात्मक चेतना पूरे तौर पर नहीं उभरती। भगवतीचरण वर्मा प्रेमचन्दीय परम्परा के उपन्यासकार हैं। सन् '50 तक यह परम्परा चलती रही। प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में समसामयिक समस्याओं को चित्रित किया और वर्मा जी परिवर्तमान ऐतिहासिक धारा को मध्यमवर्ग के माध्यम से अंकित करते रहे हैं : मुख्यतः '40 के बाद लिखे गये उपन्यासों में। इनमें टेढ़े-मेढ़े रास्ते', 'आखिरी दाव' 'भूले-बिसरे-चित्र', 'सामर्थ्य और सीमा', 'सबहिं नचावत राम गुसाईं', मुख्य हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क को प्रेमचन्द-परम्परा का उपन्यासकार कहा जाता है, पर वे समग्र रूप से प्रेमचन्दीय परम्परा से नहीं जुड़ पाते। जहाँ तक मध्यवर्गीय परिवारों और व्यक्तियों की परिस्थितियों, समस्याओं और परिवेश का संबंध है, वहाँ तक वे प्रेमचन्दीय परम्परा के उपन्यासकार हैं। प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी, इसलिए

प्रामाणिक भी। प्रेमचन्द के वैविध्य और जीवन-चेतना का इनमें अभाव है। 'सितारों के खेल' के बाद इनके कई उपन्यास प्रकाशित हुए हैं : गिरती दीवारें, 'गर्म राख' 'बड़ी-बड़ी आँखें', पत्थर अल पत्थर', 'शहर में घूमता आइना' और 'एक नन्हीं किन्दील'। 'गिरती दीवारें' इनका सर्वोत्तम उपन्यास है। गर्म राख, बड़ी-बड़ी आँखें, पत्थर अल पत्थर सुगठित उपन्यासों की श्रेणी में रखे जायेंगे। अन्तिम दोनों उपन्यास 'गिरती दीवारें' का विस्तार हैं।

यद्यपि इसमें आँचलिकता का कम रंग नहीं है। नागार्जुन के उपन्यासों में दरभंगा-पूर्णिया जिले का राजनीतिक-सांस्कृतिक साक्षात्कार होता है। इनका मार्क्सवादी दृष्टिकोण गाँव की कहानी पर आरोपित प्रतीत होता है। कथानक स्वयं विकसित न होकर पूर्वनिर्धारित योजना के अनुसार चलता है। इसके फलस्वरूप उपन्यासों की सर्जनात्मकता शिथिल और अवरुद्ध हो जाती है। 'बलचनमा', 'रतिनाथ की चाची', 'नई पौध', 'बाबा बटेसरनाथ', 'दुखमोचन', 'वरुण के बेटे' आदि उनके प्रकाशित उपन्यास हैं।

फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों को ही सर्वप्रथम आँचलिक उपन्यास की संज्ञा दी गई, क्योंकि स्वयं रेणु ने ही 'मैला आँचल' को आँचलिक उपन्यास कहा। 'मैला आँचल' के प्रकाशन के बाद 'परती परिकथा' प्रकाशित हुआ।

उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरे और मनुष्य' (1955) में बम्बई के पश्चिमी तट पर बसे हुए बरसोवा गांव के मछुओं की जीवन-गाथा वर्णित है। रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ' में जरायम पेशा नटों की जिन्दगी को उजागर किया गया है। नट-जीवन और आधुनिक जीवन की असंगतियों को चित्रित करते हुए लेखक ने उज्ज्वल भविष्य का संकेत किया है कि शोषण की घुटन सदैव नहीं रहेगी। भैरव प्रसाद गुप्त का 'सत्ती मैया का चौरा' मार्क्सवादी दृष्टिकोण से लिखा गया ग्रामांचल का ही उपन्यास है।

सातवें दशक में भी ग्रामांचल को आधार बना कर राही मासूम रजा, शिवप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र आदि ने उपन्यास लिखे। राही का 'आधा गांव' शिया मुसलमानों की जिन्दगी पर लिखा गया है और शिवप्रसाद सिंह की 'अलग-अलग वैतरणी' में आधुनिकता-बोध को सन्निविष्ट करने का प्रयास किया गया है, किन्तु इनके मूल स्वर त्रसद (ट्रेजिक) हैं। रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ' तथा 'सूखता हुआ तालाब' और देवेन्द्र सत्यार्थी का 'रथ के पहिये' ग्रामांचलीय उपन्यास हैं। श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' पारंपरिक अर्थ में उपन्यास नहीं हैं। यद्यपि इसकी कथा ग्रामांचल से सम्बद्ध है। फिर भी यह

आँचलिक नहीं है। रिपोर्ताज शैली में लिखे गये इस उपन्यास में स्वतंत्र देश की नवीन व्यवस्थाओं का मखौल उड़ाया गया है।

भले ही उपन्यास, नाटक की अपेक्षा इसका तेवर कविता और कहानी में ही अधिक तेजस्वितापूर्ण दिखाई देता है। इस प्रकार के उपन्यासों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है :

(1) यौन विकृतियों में पनाह खोजने वाले उपन्यास : मोहन राकेश के 'अन्धेरे बन्द कमरे', 'न आने वाला कल' और 'अन्तराल', निर्मल वर्मा का 'वे दिन', महेन्द्र भल्ला का 'एक पति के नोट्स' राजकमल चौधरी के 'मछली मरी हुई' और 'शहर था शहर नहीं था', श्री कान्त वर्मा का 'दूसरी बार', ममता कालिया का 'बेघर', गिरिराज किशोर का 'यात्राएं' मणिमधुकर का 'सफेद मेमने', कृष्णा सोबती का' सूरजमुखी अंधेरे के' आदि उपन्यास इसी कोटि के हैं। इन उपन्यासों के प्राय: सभी नायक मानसिक दृष्टि से अनिर्णयात्मक, आत्म-निर्वासित और नपुंसक हैं। वे मुक्त होने की प्रक्रिया में ऐसी उलझन में फंस जाते हैं, जहाँ से उन्हें निष्कृति नहीं मिलती। इन उपन्यासों से आधुनिकता का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसमें स्त्री-शरीर 'नशे' या 'ड्रग' का काम करता है। राकेश को छोड़कर शेष उपन्यासों में प्रामाणिकता की भी कमी है।

(2) दी हुई मानवीय स्थितियों में बेमेल व्यक्तियों को चित्रित करने वाले उपन्यास : इस श्रेणी में उषा प्रियंवदा का 'रुकोगी नहीं राधिका' और मन्नू भंडारी के 'आय बंटी'की गणना की जाएगी। इन उपन्यासों की आधार भूमियां ठोस और प्रामाणिक हैं।

(3) व्यवस्था की घुटन को अपनी नियति मानने या उसके विरुद्ध युद्ध करने वाले उपन्यास : नरेश मेहता का 'वह पथ बन्धु था', गोविन्द मिश्र का वह 'अपना चेहरा', बदीउज्जमा का 'एक चूहे की मौत', काशीनाथ सिंह का 'अपना मोर्चा, नरेन्द्र कोहली का 'आश्रितों का विद्रोह' आदि उपन्यास इस कोटि के अन्तर्गत आते हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने भी कई प्रयोगशील और प्रतिबद्ध उपन्यास लिखे हैं।

इनके अतिरिक्त गिरिराज किशोर का 'जुगलबन्दी' और 'ढाई आखर', लेख बख्शी का 'वैशाखियों वाली इमारत', देवराज उपाध्याय का 'दूसरा सूत्र' और 'अजय की डायरी' कमलेश्वर का 'डाक बंगाला' और 'काली आंधी' और मन्नू भंडारी का 'महाभोज' श्री लाल शुक्ल का 'मकान' शिवप्रसाद सिंह का 'नीला चाँद' आदि उपन्यास उल्लेखनीय हैं। रमेश चौधरी आरिगमूडि, ओंकार शरद,

मार्कण्डेय, मुद्राराक्षस, आनन्द प्रकाश चौबे, श्रीलाल शुक्ल, मोहन सिंह सेंगर, सत्येन्द्र गुप्त, राजेन्द्र अवस्थी, हंसराज रहबर, रामदरश मिश्र, मनहर चौहान, शिवप्रसाद सिंह, राही मासूम रजा, शिवानी आदि उपन्यास के क्षेत्र में अच्छा कार्य कर रहे हैं। यूरोप के पुराने और नये उपन्यासों के अनुवाद का कार्य भी हो रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास का युग प्रयोग का युग रहा। जीवन-मरण संबंधी पुराने सभी मत मतान्तरों को चुनौती दी गई है। महानगरीय अकेलापन, अत्यधिक निकटता में अजनबीपन, विसंगति, संत्रास यांत्रिक तटस्थता आदि का चित्रण किया गया है। बाह्य यथार्थ की अपेक्षा आन्तरिक यथार्थ को अधिक महत्ता दी गई है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'सोया हुआ लाल', लक्ष्मी नारायण लाल का 'हरा समन्दर गोपी चन्दर' जैसे आधुनिक उपन्यासों में कथा का ह्रास हुआ है कथानक का नहीं। उपन्यासों में पीढ़ियों का वैचारिक मतभेद, पति-पत्नी, भाई-बहन, माँ-बाप के संबंध में दोहरा व्यक्तित्त्व, अन्तःबाह्य संघर्ष, मिल मालिक और मजदूरों का संघर्ष, कृषकों का जागरूक होना पुलिस की धांधलियाँ, महाजनों के धन शोषण के तरीके महानगर, कस्बे और गावों के परिवर्तन को समग्रता में रेखांकित किया गया है। उपन्यासों में पूर्वदीप्ति शैली, आत्म कथात्मक शैली, संकेत शैली, प्रतीक शैली द्वारा मानवीय संवेदना को उभारा गया है। विषय और शैली दोनों दृष्टियों से आज के उपन्यास समृद्ध दिखाई देते हैं।

उपन्यास के तत्त्व

संपूर्ण उपन्यास की कहानी जिन उपकरणों से मिलकर बनती है वे कथावस्तु कहलाते हैं। यह उपन्यास की आधारभूत सामग्री है, जो लेखक अपनी आवश्यकतानुसार विस्तृत जीवन क्षेत्र से चुनता है। इसके चुनाव में लेखक के लिए पहली आवश्यकता यही होती है कि वे जीवन के ऐसे मार्मिक एवं रोचक प्रसंगों, घटनाओं और परिस्थितियों का चयन करे जो रुचिकर और प्रेरणाप्रद हो। यथार्थ जीवन से कथावस्तु को चुने जाने के कारण उपन्यासकार को यह ध्यान रखना चाहिए कि वह कपोलकल्पित न लगे तथा उसमें विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता की पुष्टि हो। कथानक ही उपन्यास की वह पूरी प्रक्रिया है, जिस पर उपन्यास की विशेषता निर्भर करती है।

कथानक चाहे जहाँ से भी ग्रहण किया जा सकता है–इतिहास, पुराण, जीवनी, अनुश्रुति, विज्ञान, राजनीति इत्यादि, लेकिन उपन्यासकार का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह अपनी कथावस्तु का निरुपण करते समय जीवन के प्रति सच्चा और ईमानदार हो अर्थात उसकी कृति में मानव-जीवन और मानव स्वभाव का सच्चा चित्र प्रस्तुत किया जाना चाहिए। सार्वभौमता उसका अनिवार्य गुण है। जब तक वह मानव-जीवन के संघर्षों, उसकी कामनाओं और आकांक्षाओं, उसके राग-द्वेषों, अभावों आदि का चित्रण नहीं करेगा, तब तक उसकी कृति का महत्त्व नहीं होगा। आभिजात्य कुलों और संपन्न परिवारों का जीवन ही सघन, घटना-संकुल, संघर्षशील और नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं होता, गरीब, साधारण व्यक्तियों के जीवन में भी ये सब बातें पायी जाती हैं, अत: उपन्यास का विषय साधारण व्यक्ति और उनका जीवन भी हो सकता है, उपन्यासकार के लिए कथावस्तु चुनने की एकमात्र कसौटी यह है कि वह जीवन को समग्र और स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करे।

कथा-प्रसंग चयन के बाद लेखक को चाहिए कि वह अपनी कथा-सामग्री को क्रमबद्ध, सुसंबद्ध रूप में सुनियोजित करे। कथा-नियोजन इस प्रकार होनी चाहिए कि पाठक की उत्सुकता और जिज्ञासा आरम्भ से लेकर अंत तक बनी रहे। कथा सूत्रबद्ध होनी चाहिए तथा सभी प्रासंगिक और अवांतर कथाएँ मुख्य कथा से जुड़ी होनी चाहिए। कथानक में तीन गुणों का होना आवश्यक है–रोचकता, संभाव्यता और मौलिकता। इस तरह कहा जा सकता है कि कथानक रोचक, सुसंबद्ध, गतिशील, उत्साहवर्धक, मौलिक तथा स्वाभाविक जीवन वृत्तियों से पूर्ण होना चाहिए।

पात्र अथवा चरित्र-चित्रण

उपन्यास में पात्र वह मूलशक्ति है, जिसके सहारे जीवन यथार्थ या परिस्थितियों का ब्यौरा दिया जाता है। अर्थात उपन्यास के भीतर परिस्थितियों को धारण करने वाला पात्र कहलाता है। पात्र जितने सजीव और यथार्थ जीवन से सम्बद्ध होंगे, उपन्यास उतना ही आकर्षक होगा। अत: जहाँ तक संभव हो सके सभी पात्रों का सजीव चरित्र-चित्रण होना चाहिए। पात्रों के कार्यों और विचारों का पाठक के मानस पटल पर दीर्घकालिक प्रभाव पड़ना चाहिए। उपन्यासकार की महानता इसी बात पर निर्भर करती है कि उसके पात्र कितने समय तक पाठक के स्मृति पटल पर अंकित रहते हैं, तथा उसकी भावना को किस हद तक प्रभावित करते हैं। वे

पात्र जो देशकाल की सीमा पार कर पाठकों के चित्त में स्थायी रूप से बस जाते हैं, अमर पत्र कहलाते हैं, जैसे–हैमलेट, सूरदास, होरी आदि। उपन्यासकार की महानता की एक कसौटी यह भी है कि वह अपनी कृतियों में चरित्र को कितनी विविधता दे सका है, उसके चरित्र-चित्रण की सीमाएँ क्या हैं? उसके पात्रों में कितना विस्तार और कितनी गहराई है? इस प्रकार उपन्यासकार की पात्र सृष्टि स्वाभाविक, यथार्थ, सजीव और मनोवैज्ञानिक होनी चाहिए।

चरित्र-चित्रण में उपन्यासकार उस प्रभाव को ही अंकित नहीं करता, जो बाह्य परिस्थितियों के द्वारा पात्रों पर पड़ता है, प्रत्युत वह पात्रों के अर्न्तद्वन्द का भी चित्रण करता है। आजकल उपन्यास में इस प्रकार के अर्न्तद्वन्द को ही महत्त्व दिया जाता है। उपन्यास में चरित्रों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जाता है–

वर्गगत और व्यक्तिगत पात्र–उदाहरण के लिए गोदान में रायसाहब और अज्ञेय का शेखर वर्गगत एवं व्यक्तिगत पत्र है।

आदर्श और यथार्थ चरित्र–आदर्श पात्र में गुणों की प्रधानता होती है, जबकि यथार्थ पात्रों में अच्छाई-बुराई दोनों का समन्वय होता है।

स्थिर और गतिशील चरित्र - क्रमशः गोदान का होरी तथा सेवासदन का विनय गतिशील एवं स्थिर पात्र है।

किसी भी उपन्यास में सफल चरित्र-चित्रण के लिए मानव-स्वभाव का सामान्य ज्ञान, मनुष्य के अंतर्मन का परिचय, उसके भावों, विचारों, रागद्वेशों, अन्तः संघर्षों की जानकारी के अतिरिक्त सहानुभूति, कल्पना-शक्ति तथा वर्ग-विशेष की जानकारी अपेक्षित है। घटनाओं और पात्रों के बीच तारतम्यता का होना भी आवश्यक है। घटनाएँ ऊपर से थोपी या आकस्मिक प्रतीत न हों, पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं से उद्‌भूत होती प्रतीत हों और पात्र लेखक की कठपुतली-मात्र न होकर स्वतंत्र अस्तित्त्व वाले हों। परिस्थितियाँ पात्रों को एक विशिष्ट दिशा में उन्मुख होने की प्रेरणा दें, तो पात्र परिस्थितियों को बदलने में, घटनाओं को नया मोड़ देने में समर्थ होंय न तो घटनाएँ और कार्य पात्र की प्रकृति और परिस्थिति के प्रतिकूल हों और न पात्र परिस्थितियों से अलिप्त तथा असामान्य प्रतीत हों।

कथोपकथन

उपन्यास में कथोपकथन से तात्पर्य है दो या दो से अधिक पात्रों का परस्पर वार्तालाप। कथोपकथन के प्रमुख उद्देश्य हैं- पात्रों का चरित्र-चित्रण, कथानक के प्रवाह में सहायता प्रदान करना तथा घटनाओं में तीव्र गति का संचार करना।

कथोपकथन जितने पात्रनुकूल, स्वाभाविक, अभिनयात्मक, संक्षिप्त, सरल एवं प्रभावी होंगे, घटनाओं एवं चरित्रों में उतनी ही सजीवता आएगी। चुस्त, चुटीले एवं प्रसंगानुकूल कथोपकथन से कृति में एक विशेष गरिमा का संचार होता है। लेखक का कौशल अन्य बातों में तो परखा ही जाता है, कथोपकथन में खास रूप से परखा जाता है।

यदि उपन्यास के कथोपकथन रोचक, स्वाभाविक, सहज, पात्र और परिस्थिति के अनुकूल हो तो उनसे उपन्यास में नाटक की सी विशदता, सजीवता और यथार्थता आ जाती है, किन्तु कथोपकथन का अधिकाधिक प्रयोग करने के स्थान पर विवेकपूर्ण एवं सोद्देश्य प्रयोग होना चाहिए। यदि लेखक में कुशल कथोपकथन-योजना की क्षमता है, तो वह विश्लेषण, मत प्रतिपादन तथा अपनी ओर से कार्य-कारण-मीमांसा का काम कथोपकथन से ही ले सकता है। कथोपकथन की भाषा ही पात्रनुकूल नहीं होनी चाहिए वरन उसका विषय भी पात्रों के मानसिक धरातल के अनुरूप होना वांछनीय है। लेखक कभी-कभी निजी सिद्धांतों के उद्‌घाटन और गूढ़ तथा विशेष ज्ञान के प्रदर्शन का मोह संवरण नहीं कर सकते हैं। उन सिद्धांतों के उद्‌घाटन के लिए वैसे ही पात्रों की श्रृष्टि होनी चाहिए।

देशकाल-वातावरण

उपन्यास में देशकाल- वातावरण अथवा युग-धर्म की सजीवता भी आवश्यक है। इसी कारण लेखक अपने उपन्यास में युग विशेष और देश विशेष की सामाजिक स्थिति, रीति-रिवाज, आचार-विचार, संस्कृति, सभ्यता और विचारधारा पर प्रकाश डालता है, जिससे उसका उपन्यास वास्तविक और सजीव बन जाए। पात्रों के कथन, क्रिया-कलाप, वेश-भूषा, खान-पान, आचार-विचार सबमें युगधर्म की स्वाभाविकता झलकनी चाहिए। वृन्दावन लाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास और प्रेमचंद के सामाजिक उपन्यास युगधर्म की सजीव झाँकियाँ प्रस्तुत करते हैं।

वस्तुतः उपन्यास मानव-जीवन का चित्रण है, जिसमें प्रधानतः मनुष्य के चरित्र का सजीव वर्णन रहता है। निश्चय है कि मनुष्य का संबंध अपने युग, समाज, देश और परिस्थितियों से रहता है अथवा मानव के चारित्र्य की पृष्ठभूमि में देश-काल का चित्रण उसका आवश्यक अंग है। जितनी ही वास्तविक पृष्ठभूमि में चरित्रों को प्रकट किया जायेगा, उतनी ही गहरी विश्वसनीयता का

भाव जगाया जा सकता है। इस पृष्ठभूमि के बिना हमारी कल्पना को ठहरने की कोई भूमि नहीं मिलती और न हमारी भावना ही रमती और विश्वास करती है।

परिस्थिति अथवा पृष्ठभूमि का चित्रण दो रूपों में होता है–एक तो समान और अनुकूल रूप में, दूसरे चरित्रों के लिए विषम और प्रतिकूल रूप में। पात्रों और उद्देश्य के अनुरूप उपन्यासकार दोनों ही स्थितियों का चित्रण कर हमारी कल्पना और अनुभूति को सजग करता है। सामाजिक उपन्यासों में तो लेखक प्रायः अपने युग की देखी-सुनी और अनुभूत पृष्ठभूमि देता है और पाठक के समसामयिक होने के कारण उसको जाँचने और विश्वास करने का अवसर रहता है। आगामी युगों के पाठक के लिए तो सामाजिक उपन्यासकार सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास की सामग्री प्रदान करता है। अतः मेरा तो विश्वास यह है कि यदि उपन्यासकार अपने समाज का अत्यंत यथार्थ - यहाँ तक कि ऐतिहासिक यथार्तता को ध्यान में रखकर वास्तविक जीवन का चित्रण करता है, तो वह न केवल साहित्य की सृष्टि करता है, वरन सांस्कृतिक और सामाजिक इतिहास के लिए भी सामग्री तैयार करता है या पृष्ठभूमि बनता है। सामाजिक उपन्यासकार की अपेक्षा अधिक कठिनाई ऐतिहासिक उपन्यासकार की युग की पृष्ठभूमि का चित्रण करने में उपस्थित होती है।

इस तरह कथानक को वास्तविकता का आभास देने के साधनों में वातावरण मुख्य है। उसके लिए स्थानीय ज्ञान अत्यंत आवश्यक होता है। वर्णन में देश विरुद्धता और कल-विरुद्धता के दोष नहीं आने चाहिए। देश-काल-चित्रण का वास्तविक उद्देश्य कथानक और चरित्र का स्पष्टीकरण है। अतः उसे इसका साधन ही होना चाहिए, स्वयं साध्य न बन जाना चाहिए। प्राकृतिक दृश्यों का संयोजन यथार्थता का भी आभास देता है और भावों को उद्दीप्त भी करता है। अतः स्थानिक विशेषताओं का ध्यान रखते हुए प्रकृति की भावानुकूल पृष्ठभूमि देना उपन्यास की रोचकता की वृद्धि में सहायक होता है।

भाषा-शैली

वस्तुतः उपन्यासकार भाषा-शैली के माध्यम से ही अपनी अनुभूतियों को अभिव्यंजित करता है। भाषा में सरलता, स्वाभाविकता, सजीवता, भावानुरुपता, प्रभावोत्पादकता, स्वाभाविक अलंकरण, लाक्षणिक और व्यंजक प्रयोग, मुहावरे, लोकोक्तियाँ आदि कलात्मक प्रयोग व भाषा-शैली, प्रत्यक्ष शैली, पत्र-शैली, पूर्व-दीप्ति शैली में से किसी एक शैली का प्रयोग कर सकता है।

जितनी स्वाभाविक अर्थात पात्रनुकूल और स्थिति के अनुरूप शैली होगी, उतना ही उसका प्रभाव पड़ेगा। उपन्यास की शैली संकेतात्मक न होकर विवृतात्मक होती है, क्योंकि उसे पूर्ण वातावरण और उसमें रस और भावों की सृष्टि करनी होती है। अत: पात्र की शिक्षा, संस्कृति और मानसिक धरातल के अनुरूप ही उसकी भाषा होनी चाहिए। इसके लिए पांडित्यपूर्ण, व्यंग्ययुक्त भाषा से लेकर ठेठ प्रादेशिक और ग्राम्य भाषा तक का प्रयोग यथावश्यक रूप में किया जाता है। शैली के संबंध में सामान्य-रूप से ये बातें ध्यान में रखने पर भी एक उपन्यासकार की शैली दूसरे से भिन्न होती है। प्रत्येक का अपना निजी अनुभव-क्षेत्र, वातावरण, संस्कार एवं शिक्षा होती है, अत: जीवन को देखने और उसको चित्रित करने के अपने निजी ढंग हैं। निजीपन के होते हुए भी, स्वाभाविकता और प्रभाव शैली की विशेषताएँ होनी चाहिए।

उद्देश्य

साहित्य की सभी विधाओं का उद्देश्य आनंद प्रदान करना है। उपन्यास भी उससे वंचित नहीं है। साहित्य आनंद प्रदान करता है, किन्तु वह सस्ते मनोरंजन का साधन नहीं बन सकता। उपन्यासकार को अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति इस प्रकार करनी चाहिए कि वह उपदेशात्मक न दिखे, बल्कि पाठक अपनी बुद्धि एवं विवेक के अनुसार निष्कर्ष निकाले, उपन्यास का गठन इस प्रकार से होना चाहिए। उपन्यास के उद्देश्य के सन्दर्भ में प्रेमचंद ने कहा है कि–

"उपन्यास में युगीन समस्याओं का चित्रण करना ही मूल उद्देश्य होना चाहिए। जिससे मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता दिखाई पड़ता है।" अत: मनुष्य के अनुभव की गहराई और उसे समृद्ध करने का सार्थक प्रयत्न किसी भी उपन्यास का सार्थक उद्देश्य माना गया है।

कहा जा सकता है कि उपर्युक्त सभी तत्त्वों के प्रयोग से ही उपन्यासकार अपने उद्देश्य में सफलता पा सकता है। निर्मल वर्मा के शब्दों में–

"उपन्यास का गठन लेखक तैयार नहीं करता, स्वयं उसकी दृष्टि उसे निर्धारित करती है–जैसे नदी पहले अपना पाठ तैयार करके नहीं बहती, स्वयं बहने के दौरान उसका पाट बनता जाता है।"

चूँकि आधुनिकता बताती है कि अस्तित्त्व हमेशा संघर्ष से बनती है इसीलिए उपन्यासकार यह समझता है कि जीवन की वास्तविकता सनातन और शाश्वत भाव में नहीं अपितु संघर्ष करते हुए मूल्यों की रचना करने में है। अत:

उपन्यास का यथार्थ के साथ अनिवार्य रिश्ता माना गया है। उपन्यास में व्यक्ति और समाज को जितनी सफलतापूर्वक चित्रित किया जाता है उतना किसी भी अन्य साहित्यिक विधा के द्वारा नहीं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी उपन्यास को अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है। यही कारण है कि उपन्यास आधुनिक जीवन का महाकाव्य बन गया है।

पात्र अथवा चरित्र-चित्रण

जब स्वयं पात्रों की बात आती है तब आपको स्मरण रखने की आवश्यकता है, अतीत के विभिन्न युगों के लोगों के जीवन पर परिप्रेक्ष्य भिन्न थे, उनकी प्राथमिकताएँ, सोचने के विविध उपाय भिन्न थे और यह उनकी कार्यवाहियों को निर्धारित करता है। उदाहरण के लिए, दो बहनें बड़ी बहन के वर्तमान प्रेम-प्रसंग की चर्चा कर रही हैं। आज के आधुनिक युग में, यह वार्ता प्रचुर खिलखिलाहटों, परिहास और मुस्कुराहटों से युक्त होगी, परंतु यदि यही वार्तालाप अतीत में होता है, तब इसके साथ फुसफुसाहटें होंगी (क्योंकि इसे गोपन में कहा जाता था) और छोटी बहन इसे कलंकगाथा भी मान सकती है। संभव प्रतिक्रियाओं और सोचने की प्रणालियों में इस अंतर का अर्थ है कि अतीत के विभिन्न युगों में आपकी कहानी विभिन्न उपायों से विकसित होगी और इसका अधिकांश उस युग में रहने वाले व्यक्तियों, उनकी मनोदशा और उनके सोचने के तरीकों पर निर्भर करता है।

उपन्यास में पात्र वह मूलशक्ति है, जिसके सहारे जीवन यथार्थ या परिस्थितियों का ब्यौरा दिया जाता है अर्थात् उपन्यास के भीतर परिस्थितियों को धारण करने वाला पात्र कहलाता है। पात्र जितने सजीव और यथार्थ जीवन से सम्बद्ध होंगे, उपन्यास उतना ही आकर्षक होगा। अतः जहाँ तक संभव हो सके सभी पात्रों का सजीव चरित्र-चित्रण होना चाहिए। पात्रों के कार्यों और विचारों का पाठक के मानस पटल पर दीर्घकालिक प्रभाव पड़ना चाहिए। उपन्यासकार की महानता इसी बात पर निर्भर करती है कि उसके पात्र कितने समय तक पाठक के स्मृति पटल पर अंकित रहते हैं तथा उसकी भावना को किस हद तक प्रभावित करते हैं। वे पात्र जो देश काल की सीमा पार कर पाठकों के चित्त में स्थायी रूप से बस जाते हैं, अमर पत्र कहलाते हैं, जैसे–हैमलेट, सूरदास, होरी आदि। उपन्यासकार की महानता की एक कसौटी यह भी है कि वह अपनी कृतियों में चरित्र को कितनी विविधता दे सका है, उसके चरित्र-चित्रण की

सीमाएं क्या हैं? उसके पात्रों में कितना विस्तार और कितनी गहराई है? इस प्रकार उपन्यासकार की पात्र सृष्टि स्वाभाविक, यथार्थ, सजीव और मनोवैज्ञानिक होनी चाहिए।

चरित्र-चित्रण में उपन्यासकार उस प्रभाव को ही अंकित नहीं करता जो बाह्य परिस्थितियों के द्वारा पात्रों पर पड़ता है, प्रत्युत वह पात्रों के अंतर्द्वन्द्व का भी चित्रण करता है। आजकल उपन्यास में इस प्रकार के अंतर्द्वन्द्व को ही महत्त्व दिया जाता है। उपन्यास में चरित्रों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जाता है–

वर्गगत और व्यक्तिगत पात्र–उदाहरण के लिए गोदान में रायसाहब और अज्ञेय का शेखर वर्गगत एवं व्यक्तिगत पत्र है।

आदर्श और यथार्थ चरित्र–आदर्श पात्र में गुणों की प्रधानता होती है, जबकि यथार्थ पात्रों में अच्छाई-बुराई दोनों का समन्वय होता है।

स्थिर और गतिशील चरित्र–क्रमशः गोदान का होरी तथा सेवासदन का विनय गतिशील एवं स्थिर पात्र है।

किसी भी उपन्यास में सफल चरित्र-चित्रण के लिए मानव-स्वभाव का सामान्य ज्ञान, मनुष्य के अंतर्मन का परिचय, उसके भावों, विचारों, रागद्वेशों, अन्तःसंघर्षों की जानकारी के अतिरिक्त सहानुभूति, कल्पना-शक्ति तथा वर्ग-विशेष की जानकारी अपेक्षित है। घटनाओं और पात्रों के बीच तारतम्यता का होना भी आवश्यक है। घटनाएँ ऊपर से थोपी या आकस्मिक प्रतीत न हों, पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं से उद्‌भूत होती प्रतीत हों और पात्र लेखक की कठपुतली-मात्र न होकर स्वतंत्र अस्तित्त्व वाले हों। परिस्थितियाँ पात्रों को एक विशिष्ट दिशा में उन्मुख होने की प्रेरणा दें, तो पात्र परिस्थितियों को बदलने में, घटनाओं को नया मोड़ देने में समर्थ हों, न तो घटनाएँ और कार्य पात्र की प्रकृति और परिस्थिति के प्रतिकूल हों और न पात्र परिस्थितियों से अलिप्त तथा असामान्य प्रतीत हों।

कथोपकथन

उपन्यास में कथोपकथन से तात्पर्य है दो या दो से अधिक पात्रों का परस्पर वार्तालाप। कथोपकथन के प्रमुख उद्देश्य हैं- पात्रों का चरित्र-चित्रण, कथानक के प्रवाह में सहायता प्रदान करना तथा घटनाओं में तीव्र गति का संचार करना। कथोपकथन जितने पात्रानुकूल, स्वाभाविक, अभिनयात्मक, संक्षिप्त, सरल एवं प्रभावी होंगे, घटनाओं एवं चरित्रों में उतनी ही सजीवता आएगी। चुस्त, चुटीले एवं प्रसंगानुकूल कथोपकथन से कृति में एक विशेष गरिमा का संचार होता है। लेखक

का कौशल अन्य बातों में तो परखा ही जाता है, कथोपकथन में खास रूप से परखा जाता है।

अगर उपन्यास के कथोपकथन रोचक, स्वाभाविक, सहज, पात्र और परिस्थिति के अनुकूल हो तो उनसे उपन्यास में नाटक की सी विशदता, सजीवता और यथार्थता आ जाती है, किन्तु कथोपकथन का अधिकाधिक प्रयोग करने के स्थान पर विवेकपूर्ण एवं सोद्देश्य प्रयोग होना चाहिए। यदि लेखक में कुशल कथोपकथन-योजना की क्षमता है, तो वह विश्लेषण, मत प्रतिपादन तथा अपनी ओर से कार्य-कारण-मीमांसा का काम कथोपकथन से ही ले सकता है। कथोपकथन की भाषा ही पात्रानुकूल नहीं होनी चाहिए वरन उसका विषय भी पात्रों के मानसिक धरातल के अनुरूप होना वांछनीय है। लेखक कभी-कभी निजी सिद्धांतों के उद्घाटन और गूढ़ तथा विशेष ज्ञान के प्रदर्शन का मोह संवरण नहीं कर सकते हैं। उन सिद्धांतों के उद्घाटन के लिए वैसे ही पात्रों की सृष्टि होनी चाहिए।

अतीत में लोग भिन्न तरह से बातें करते थे। यह दिया हुआ है, और लोग कैसे बातें करते थे, यह आपको केवल उन उपन्यासों को पढ़ने पर ज्ञात होगा, जो वास्तव में उस युग में लिखे गए थे। तथापि इसका अर्थ यह नहीं है कि आपके उपन्यास में संवाद उस प्रणाली से पूर्णत: भिन्न होने की आवश्यकता है, जिससे हम आज बातें करते हैं। यदि यह पूर्णत: भिन्न है, विशेष रूप से यदि संवाद उस प्रणाली से पूर्णत: भिन्न है, जिससे अग्रणी सोचता है, तब कई पाठक इसमें भटक जाएँगे और यह महत्त्वपूर्ण है, विशेषत: यदि आप उत्तम पुरुष के दृष्टिकोण से लिख रहे हैं–जिस तरह अग्रणी उच्च स्वर से बोलता है तथा अपने परिवेश का प्रक्रमण करता है उसे उस प्रणाली को प्रतिबिंबित करने की आवश्यकता है। आपको एक उचित संतुलन ढूँढ़ने की आवश्यकता है–आपके पात्रों को इस तरह बोलना चाहिए जो सुनिश्चित करता है के वे दोनों उस समयावधि के लिए प्रामाणिक हैं तथा पाठकों के लिए बोधगम्य हैं।

4

कहानी

कहानी हिन्दी में गद्य लेखन की एक विधा है। उन्नीसवीं सदी में गद्य में एक नई विधा का विकास हुआ, जिसे कहानी के नाम से जाना गया। बंगला में इसे गल्प कहा जाता है। कहानी ने अंग्रेजी से हिंदी तक की यात्र बंगला के माध्यम से की। कहानी गद्य कथा साहित्य का एक अन्यतम भेद तथा उपन्यास से भी अधिक लोकप्रिय साहित्य का रूप है। मनुष्य के जन्म के साथ ही साथ कहानी का भी जन्म हुआ और कहानी कहना तथा सुनना मानव का आदिम स्वभाव बन गया। इसी कारण से प्रत्येक सभ्य तथा असभ्य समाज में कहानियाँ पाई जाती हैं। हमारे देश में कहानियों की बड़ी लंबी और सम्पन्न परंपरा रही है। वेदों, उपनिषदों तथा ब्राह्मणों में वर्णित यम-यमी, रुरवा-उर्वशी, सौपर्णी-काद्रव, सनत्कुमार- नारद, गंगावतरण, श्रृंग, नहुष, ययाति, शकुन्तला, नल-दमयन्ती जैसे आख्यान कहानी के ही प्राचीन रूप हैं।

प्राचीनकाल में सदियों तक प्रचलित वीरों तथा राजाओं के शौर्य, प्रेम, न्याय, ज्ञान, वैराग्य, साहस, समुद्री यात्र, अगम्य पर्वतीय प्रदेशों में प्राणियों का अस्तित्त्व आदि की कथाएँ, जिनकी कथानक घटना प्रधान हुआ करती थीं, भी कहानी के ही रूप हैं। गुणढ्य की 'बृहत्कथा' को, जिसमें उदयन, वासवदत्ता, समुद्री व्यापारियों, राजकुमार तथा राजकुमारियों के पराक्रम की घटना प्रधान कथाओं का बाहुल्य है, प्राचीनतम रचना कहा जा सकता है। बृहत्कथा का प्रभाव दण्डी के 'दशकुमार चरित', 'बाणभट्ट की 'कादम्बरी', 'सुबन्धु की 'वासवदत्ता',

'धनपाल की 'तिलकमंजरी', 'सोमदेव के 'यशस्तिलक' तथा 'मालतीमाधव', 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्', 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय', 'रत्नावली', 'मृच्छकटिकम्' जैसे अन्य काव्यग्रंथों पर साफ-साफ परिलक्षित होता है। इसके पश्चात् छोटे आकार वाली 'पंचतंत्र', 'हितोपदेश', 'बेताल पच्चीसी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'शुक सप्तति', 'कथा सरित्सागर', 'भोजप्रबन्ध' जैसी साहित्यिक एवं कलात्मक कहानियों का युग आया। इन कहानियों से श्रोताओं को मनोरंजन के साथ ही साथ नीति का उपदेश भी प्राप्त होता है। प्रायः कहानियों में असत्य पर सत्य की, अन्याय पर न्याय की और अधर्म पर धर्म की विजय दिखाई गई हैं।

पृष्ठभूमि

हिन्दी में कहानी वस्तुतः द्विवेदी-युग से प्रारम्भ होती है। भारतेन्दु-काल में और उसके पूर्व जो कहानियाँ लिखी गईं, वे पश्चिमी ढंग की आधुनिक कहानी से काफी भिन्न हैं। वैसे तो ब्रज-भाषा की वैष्णव वार्ताओं तथा दृष्टांतों, राजस्थानी बातों 'गिलक्राइस्ट या लल्लूलाल द्वारा सम्पादित 'लतायफ' आदि की लघु कहानियों में कहानी के बहुत से तत्त्व हैं। राजस्थानी बातें तो कहानियाँ ही हैं, परन्तु आधुनिक कहानी से विषयवस्तु और शैली दोनों दृष्टि से पृथक्क है। इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' (1805 ई. के लगभग) भी दास्तान शैली की लम्बी कहानी ही है। वास्तविक मानव-जीवन से दूर, अतिमानव प्रसंगों से युक्त कथाकृति से हिन्दी कहानी-परम्परा का आरम्भ नहीं माना जा सकता। इसकी रचना शुद्ध हिन्दी की छटा दिखाने के लिए की गई थी। 1860 ई. के आस-पास उस समय के शिक्षा-संचालकों की प्रेरणा से 'बुद्धफलोदय, 'सूरजपुर की कहानी', 'धरमसिंह का वृतान्त', 'तीन देवां की कहानी' आदि शिक्षात्मक कहानियाँ लिखी गई थी, जो प्रायः अंगेजी या उर्दू से अनूदित हैं। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की लिखी और लिखवायी हुई 'गुलाब और चमेली का किस्सा', 'वीर सिंह वृतान्त' आदि रचनाएँ भी प्रायः अनूदित या रूपान्तरित हैं। हिन्दी की प्रारम्भिक कहानियाँ आख्यायिका शैली की हैं। उनमें उल्लेखनीय हैं–पं. माधवप्रसाद मिश्र रचित 'मन की चंचलता (1900 ई. के लगभग), किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'इन्दुमती' (1900 ई. के लगभग), 'गुलबहार', मास्टर भगवानदास कृत 'प्लेग की चुड़ैल', आचार्य रामचन्द्र शुक्लप्रणीत 'ग्यारह वर्ष का समय', गिरिजादत्त वाजपेयीकी 'पंडित और पंडितानी' और 'पति का पवित्र प्रेम', बंगमहिला की 'दुलाई वाली' तथा 'कुम्भ में छोटी बहू', पार्वती नन्दन की 'मेरा

पुनर्जन्म' और वृन्दावनलाल वर्मा द्वारा लिखित 'राखीबन्द भाई'। इनमें कई कहानियाँ बंगला और अंग्रेजी की कहानियों के अनुकरण पर लिखी गई हैं। कुछ काफी लम्बी हैं और शुद्ध कहानी की श्रेणी में नहीं आती। इन कहानियों में से प्रथम द्विवेदी-युग के प्रारम्भ में 'सुदर्शन' में तथा शेष कहानियाँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थीं। डॉ. श्रीकृष्णलाल किशोरी लाल गोस्वामीकी 'इन्दुमती' को हिन्दी की प्रथम कहानी मानते हैं। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का कहना है कि शुक्ल जी की 'ग्यारह वर्ष का समय' नामक कहानी ही हिन्दी की पहली कहानी है। लगभग इसी समय (1909 ई. से) प्रसाद जी की प्रेरणा से 'इन्दु' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसमें प्रकाशित प्रसाद जी की 'ग्राम' शीर्षक कहानी हिन्दी जगत में नए युग का प्रारम्भ करती है।

प्रसाद-प्रेमचन्द युग

नयी कहानी का जन्म 1956 से माना जाता है। 1956 में भैरव प्रसाद गुप्त के संपादन में नयी कहानी नाम की पत्रिका का एक विशेषांक निकाला। इसी विशेषांक के आधार पर अगली कड़ी की कहानियों को नयी कहानी के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। सन् 1916 ई. के आस-पास प्रेमचन्द और प्रसाद कहानी के क्षेत्र में आए। इसके बाद हिन्दी कहानी पर अंग्रेजी और बंगला कहानीकारों का प्रभाव कम होने लगा। द्विवेदी-युग की 'सरस्वती', 'सुदर्शन', 'इन्दु', 'हिन्दी गल्प-माला' आदि पत्रिकाओं का हिन्दी-कहानी के प्रारम्भिक विकास में बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन पत्रिकाओं में सैकड़ों मौलिक और अनूदित कहानियाँ प्रकाशित हुई, जिनमें विविध विषय और शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। कहानी का वास्तविक विकास प्रेमचन्द के समय से ही प्रारम्भ होता है। उनके समय से ही आख्यायिका के स्थान पर सच्ची कहानी का प्रारम्भ हुआ। कहानी में घटना की प्रधानता के स्थान पर पात्र और भावना की प्रधानता हुई। वास्तविक मानव-जीवन और मनोविज्ञान से उनका संबंध स्थापित हुआ। प्रसाद जीकहानी क्षेत्र में प्रेमचन्द से कुछ पहले आए थे। वे मूलत: कवि हैं और बाद में नाटककार। उनकी कहानियों में भी काव्यात्मकता और नाटकीयता है। उनकी कहानियों को लक्ष्य में रखते हुए उन्हें यथार्थपरक, आदर्शवादी या रोमांटिक आदर्शवादी कहा जा सकता है। प्रसाद की कहानियों के संग्रह हैं–'प्रतिध्वनि', 'आकाश–दीप', 'आंधी', 'इन्द्रजाल' तथा 'छाया'। प्रसाद ने अधिकतर भावनाप्रधान, कल्पनापरक कहानियाँ लिखी, जो प्राय: सांस्कृतिक पृश्ठभूमि पर आधारित हैं।

उन्होंने चरित्र-प्रधान कहानियाँ भी लिखी हैं। नाटकीयता, अर्थ की गंभीरता, भावुकतापूर्ण वातावरण, काव्यात्मक भाषा और सांकेतिक व्यंजना उनकी कहानियों की अन्य विशेषताएँ हैं। प्रसाद प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रेमी थे।

प्रेमचन्द का आधुनिक काल के यथार्थवादी जीवन पर अधिक आग्रह था। वे यथार्थवादी हैं। प्रेमचन्द ने लगभग तीन सौ कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कहानियाँ 'मानसरोवर' (6 भाग) तथा 'गुप्त धन' (2 भाग) में संगृहीत हैं। 'प्रेम-पचीसी', 'प्रेम-प्रसून', 'प्रतिमा', 'सप्तसुमन' आदि नामों से भी उनकी कहानियों के संग्रह छपे हैं। प्रेमचन्द की प्रारम्भ की कहानियों में घटना की प्रधानता और वर्णन की प्रवृत्ति है। चरित्र-चित्रण और मनोविज्ञान की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया। भाषा अपरिपक्व तथा व्याकरण–संबंधी दोषों से युक्त है। वस्तुतः प्रेमचन्द प्रारम्भ में उर्दू के लेखक थे और वहाँ से हिन्दी में आए थे। उनकी प्रारम्भिक राष्ट्रीय कहानियाँ 'सोजे वतन' संग्रह में प्रकाशित हुई थी। आगे चलकर प्रेमचन्द ने चरित्र-प्रधान, मनोविज्ञान-मूलक, वातावरण-प्रधान, ऐतिहासिक आदि कई प्रकार की कहानियाँ लिखीं और वास्तविक-जीवन तथा मानव-स्वभाव के मार्मिक चित्र प्रस्तुत किए। प्रेमचन्द की भाषा सरल, व्यावहारिक है और उनके संवाद स्वाभाविक तथा सजीव हैं। साधारण घटनाओं और बातों को मार्मिक बनाने में वे कुशल हैं। प्रेमचन्द नवीन जीवन-रुचि रखने वाले मानवतावादी लेखक थे। प्रारम्भ में प्रेमचन्द गांधी और ताल्स्ताय से प्रभावित रहे। बाद में वे मार्क्स और लेनिन की विचारधारा की ओर झुक गए थे। प्रसाद-प्रेमचन्द-युग के प्रारम्भ के कहानीकारों में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और पं. ज्वाला दत्त शर्मा के नाम भी उल्लेखनीय हैं। गुलेरी जी की 'उसने कहा था शीर्षक कहानी हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों में से एक है। इस कहानी में भावुक वीर तथा कर्त्तव्य-परायण लहनासिंह के पवित्र प्रेम और बलिदान का चित्रण है। सुन्दर ढंग से विकसित होने वाला, सुगठित, कुतूहलपरक नाटकीय कथानक, सजीव वातावरण, मार्मिक अन्त, संवादों तथा घटनाओं की योजना द्वारा पात्रों का स्वाभाविक चरित्र-चित्रण, पात्रनुकूल संवाद, मुहावरेदार सरल-जीवन्त भाषा और सांकेतिक अभिव्यक्ति इस कहानी की मुख्य विशेषताएँ हैं। गुलेरी ने केवल तीन कहानियाँ लिखी हैं, परन्तु तीन कहानियों के बल पर वे हिन्दी के इतिहास में अपना एक विशिष्ट स्थान बना गए हैं। सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ 'कौशिक', पांडेय बेचन शर्मा, 'उग्र', 'चतुरसेन शास्त्री', 'रायकृष्णदास', 'चण्डीप्रसाद, 'हृदयेश', 'गोविन्द वल्लभ पंत', 'वृन्दावन लाल वर्मा', 'जनार्दन

प्रसाद झा 'द्विज', 'राधिकारमण प्रसाद सिंह', 'सियारामशरण गुप्त' और भगवतीप्रसाद वाजपेयी, प्रेमचन्द-प्रसाद-काल के अन्य उल्लेखनीय कहानीकार हैं।

और राधिकारमण प्रसाद सिंह, रायकृष्णदास, विनोदशंकर व्यास, द्विजआदि प्रसाद के आदर्शों से। कुछ कहानीकार अपना पृथक्क् व्यक्तित्त्व रखते हैं और उन्हें इन दोनों में से किसी वर्ग में नहीं रखा जा सकता।

वर्तमान युग : तीन पीढ़ियाँ

वर्तमान समय में हिन्दी में कई पीढ़ियाँ एक साथ कहानी लिखने में लगी रही हैं। प्रेमचन्द काल के उत्तरार्ध में इस क्षेत्र में आने वाले कुछ कहानीकार हैं–जैनेन्द्र ('फांसी' 'स्पर्धा', 'वातायन', 'पाजेब', 'जयसंधि', 'एकरात', 'दो चिड़ियां' आदि), यशपाल ('वो दुनिया', 'ज्ञान दान', 'अभिशप्त', 'पिंजड़े की उड़ान', 'तर्क का तूफान', 'चित्र का शीर्षक', 'यशपाल–श्रेष्ठ कहानी') इलाचन्द जोशी ('रोमांटिक छाया', 'आहुति', 'दिवाली और होली', 'कंटीले फूल लजीले कांटे'), अज्ञेय ('त्रिपथगा', 'कोठरी की बात', 'परम्परा', 'जयदोल' आदि) भगवतीचरण वर्मा ('दो बाँके', 'इन्स्टालमेंट आदि), चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ('चन्द्रकला', 'वापसी', 'अमावस', 'तीन दिन')। ये कथाकार जो उस समय नयी पीढ़ी के कहानीकार माने जाते थे अब पुराने हो चुके हैं। इनके बाद कहानीकारों की दो और पीढ़ियाँ विकसित हो चुकी हैं। इन तीनों पीढ़ियों के कहानीकारों ने हिन्दी कहानी का विषय-वस्तु तथा शिल्प दोनों दृष्टियों से पर्याप्त विकास किया है।

जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय ने चरित्रप्रधान मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखी हैं। मार्मिक दृष्यों का चयन, एक ही दृष्य या घटना के सहारे कथानक का निर्माण करके देशकाल के संकलन का निर्वाह, असाधारण परिस्थितियों में पड़े मानवों का सूक्ष्म मनोविश्लेषण, विचारात्मकता और यत्र-तत्र वक्र-अस्पष्ट भाषा जैनेन्द्र की कहानीकला की विशेषताएँ हैं। इलाचन्द्र जोशीकी कहानियों में मनोवैज्ञानिक सत्यों का मार्मिक उद्घाटन है। साधारण-असाधारण दोनों प्रकार के पात्रों का चित्रण उन्होंने किया। जोशी जी का कहना है कि मनोविश्लेषण करते हुए व्यक्ति के अहं पर प्रहार करना ही मेरा लक्ष्य है। अज्ञेय ने मनोवैज्ञानिक तथा सामयिक सत्य की व्यंजना करने वाली कहानियों के साथ समाज के मध्यम-वर्ग के दैनिक जीवन की विशेषताओं और उनकी साधारण तथा कारुणिक स्थितियों

के खण्ड चित्र प्रस्तुत करने वाली कहानियाँ भी लिखी हैं और राजनीतिक विद्रोह से संबंधित कहानियाँ भी। इनकी कई कहानियाँ पात्रों के पिछले जीवन की अस्फुट चित्र–कल्पनाओं के रूप में हैं। कुछ अधूरापन-सा होने पर भी अज्ञेय की कहानियाँ प्रभावपूर्ण होती हैं।

आधुनिक काल की इस पहली पीढ़ी के कुछ बाद और दूसरी पीढ़ी के कुछ पहले आने वाले उल्लेखनीय कथाकार हैं–उपेन्द्रनाथ अश्क, नागार्जुन, उषादेवी मित्र, पहाड़ी, विष्णु प्रभाकर, अमृतराय, रांगेय राघव। दूसरी पीढ़ी के उल्लेख कथाकार हैं–फणीश्वरनाथ रेणु, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, मार्कण्डेय, अमरकांत, मोहन राकेश, नरेश मेहता, शिवप्रसाद सिंह, धर्मवीर भारती, मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोबती, शैलेश मटियानी, मुद्राराक्षस।हिन्दी की बिल्कुल नई पीढ़ी के कहानीकारों में उल्लेखनीय हैं–निर्मल वर्मा, रामकुमार, विजय चौहान, कृष्ण बलदेव वैद। 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' (राजेन्द्र यादव), 'चाँद और टूटे हुए लोग' (धर्मवीर भारती), 'धरती अब भी घूम रही है' (विष्णु प्रभाकर), 'जानवर और जानवर', 'नए बादल' (मोहन राकेश), 'गीली मिट्टी' (अमृतराय), 'कुमारी' (रेणु), 'भूदान' (मार्कण्डेय), 'चाय का रंग' (देवेन्द्र सत्यार्थी), 'जीने की सजा' (आरिगपूडि), 'नरक का न्याय' (मोहरसिंह सेंगर), 'प्यार के बन्धन' (रावी), 'मेरी तेतीस कहानियाँ' (शैलेश मटियानी) आदि संग्रह चर्चा में रहे हैं। हिन्दी की नवीनतम कहानियों में कथा-तत्त्व की न्यूनता, कामकुण्ठाओं का विश्लेषण, व्यक्ति की पीड़ा, विवशता की अभिव्यक्ति, किसी मनः स्थिति का अंकन और आलोचना-प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है। वर्तमान युग में आँचलिक कहानियाँ भी लिखी गई हैं। भावकथाएँ, गाथाएँ और लम्बी कहानियाँ पत्रिकाओं में दिखाई देती हैं।

आज के प्रयोगवादी युग में हिन्दी कहानी सभी रूपों में बढ़ रही है। कुछ कहानीकार कथानक-रहित कहानी लिखने का यत्न कर रहे हैं। कहानी बहुत अमूर्त्त (ऐबस्ट्रैक्ट) होती जा रही है। आज कहानी में प्रायः एक मनःस्थिति, क्षण-विशेष की अनुभूति, व्यंग्यचित्र या चिन्तन की झलक प्रस्तुत की जाती है। कहानी में विषय-वस्तु क्षीण, पात्र बहुत थोड़े (एक दो ही) और अस्पष्ट होते जा रहे हैं और पुराने ढंग की सरलता समाप्त होती जा रही है। नयी कविता की तरह नयी कहानी भी कहानीपन छोड़कर निबन्ध के निकट (कथात्मक निबन्ध के निकट) पहुंच रही है। भारतेन्दुकाल में जो कहानी घटना-प्रधान थी, प्रेमचन्द युग में जो चरित्र-प्रधान तथा मनोवैज्ञानिक हुई, जैनेन्द्र-अज्ञेय के उत्कर्ष-काल

में जो कहानी घटना-प्रधान थी, प्रेमचन्द युग में, जो चरित्र- प्रधान तथा मनोवैज्ञानिक हुई, जैनेन्द्र-अज्ञेय के उत्कर्ष-काल में जो मनोविश्लेषणमय तथा चिन्तनपरक बनी, वही अब कथानकपरक तो है ही नहीं, चरित्र-चित्रणपरक भी नहीं रही। विषय-वस्तु और शिल्प दोनों में वह काफी आगे बढ़ गई है। काशीनाथ सिंह, ज्ञान रंजन, सुरेश सेठ, गोविन्द मिश्र, मृदुला गर्ग, नरेन्द्र मोहन, मृणाल पाण्डेय, उदय प्रकाश, ओम प्रकाश वाल्मीकि, चित्र प्रभा मुदगल, प्रभा खेतान, नासिरा शर्मा आदि अनेक कथाकार हैं, जिन्होंने बदलते मनुष्य, समाज, परिस्थितियों, समस्याओं को अपनी रचनाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की है।

नयी कहानी : प्रवर्तन और प्रकृति

कमलेश्वर ने नयी कहानी के नामकरण का श्रेय दुष्यत कुमार को दिया है। वैसे उनके विचार में कहानी को नया रूप देने की शुरूआत जितेद्र और ओमप्रकाश ने की (नयी कहानी की भूमिका) राजेद्र यादव ने नयी कहानी की बात उठाने का श्रेय दुष्यत कुमार के साथ नामवर सिंह को भी दिया है (कहानी : स्वरूप और संवेदना)। इद्रनाथ मदान विश्वास के साथ नहीं कह पाते हैं कि इसकी शुरूआत नामवर सिंह द्वारा हुई। भैरव प्रसाद गुप्त यह श्रेय स्वयं ओढ़ लेते हैं। डॉ. बच्चन सिंह शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'दादी माँ से नयी कहानी का प्रारम्भ मानते हैं। यह कहानी सन्1950 में छपी थी। सुरेश सिहा, राजेद्र यादव को नयी कहानी की शुरूआत से जोड़ते हैं, जबकि नामवर सिंह निर्मल वर्मा कृत 'परिदे को नयी कहानी की प्रथम कृति मानकर निर्मल वर्मा को भी प्रकारातर से पहले कहानीकारों की पंक्ति में रख देते हैं। डॉ. सूर्यप्रसाद दीक्षित के विचार में ''नि:संग भाव से देखा जाये तो कमलेश्वर, मोहन राकेश और राजेद्र यादव तीनों इस श्रेय के अधिकारी हैं।'

वास्तव में एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों को किसी आदोलन का पूरा श्रेय देना या उहें आरम्भ बिदु के रूप में स्वीकारना संकुचित दृष्टिकोण का परिचायक है। किसी भी सशक्त साहित्यिक आदोलन के पीछे समूह की मानसिकता होती है, जो आदोलन को बल देती है। हाँ यह अवश्य है कि प्रत्येक आदोलन के कुछ विशेष प्रवक्ता और नेता होते हैं। नयी कहानी आदोलन में इन भूमिकाओं को राजेद्र यादव, कमलेश्वर, मोहन राकेश, शिवप्रसाद सिंह आदि कथाकारों और नामवर सिंह, भैरव प्रसाद गुप्त, श्रीपत राय आदि समीक्षकों-सम्पादकों ने निभाया है।

प्रेमचद्र तक आते-आते जहाँ एक ओर हिदी कहानी की मुख्यधारा-सामाजिक यथार्थ की ओर अभिमुख कथाधारा-निश्चित हो चुकी थी, वहीं कहानी का ढर्रा बहुत कुछ रूढ़ भी हो चला था। अपने अतिम दिनों में प्रेमचद्र ने भी अनुभव किया था कि कहानी की एकरसता को तोड़ने की आवश्यकता है। 'कफन, 'पूस की रात आदि कहानियाँ इसी चेतना की उपज हैं। 'कफन में बाद की नयी कहानी की प्राय: सभी विशेषताएँ मौजूद हैं। इस प्रकार नयी कहानी का बीजवपन प्रेमचद्र के द्वारा ही होता है, लेकिन जीवन की सच्चाईयों को कहानी के जरिये समझने का सामूहिक प्रयास स्वतत्रता परवर्ती परिवेश में ही सम्भव हो सका है, जबकि मिलती-जुलती विचारधारा के समानधर्मी युवा कहानीकार एक साथ इस दिशा में सक्रिय हुए। इस बीच यशपाल, रांगेय राघव, भैरव प्रसाद गुप्त आदि ने 'कफन की शुरूआत को जब-तब सामाजिक प्रतिबद्धता की कहानियाँ लिखकर जिदा रखने की कोशिश की। लेकिन उनमें इतना 'प्रकथनात्मक विस्तार था कि सूक्ष्म सौदर्य बोध को उससे सतोष नहीं मिलता था। ''इसके अतिरिक्त जिस जीवन के अतरंग चित्र वे प्रस्तुत कर रहे थे, वह बहुत पहले जिया जा चुका जीवन था-चेतना के वर्तमान क्राइसिस के साथ उनका सम्बंध नहीं के बराबर था। क्योंकि उनकी रचना दृष्टि इस क्राइसिस के पहले प्रौढ़ता प्राप्त कर चुकी थी, इसलिए एक गुजरे हुये समय के घात-प्रतिघातों को चित्रित करने तक इनके कृतित्त्व का सीमित ही रहना अस्वाभाविक नहीं था।' वर्तमान 'क्राइसिस को उस पीढ़ी ने जिया और भोगा, जो स्वतत्रता मिलने के समय वयस्क हो रही थी। इसलिए उनके लेखन में ताजगी थी। उनकी कहानियों का 'कथ्य नया था। यदि उसे 'नयी कहानी कहा गया तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि छठे दशक की कहानी पूर्ववर्ती कहानी से मिजाज और लिबास की दृष्टि से एक नयापन लिए हुए है।

वर्तमान में कहानी अपनी कहानीनुमा तस्वीर को लेकर नये विशेषण के साथ अवतरित हुई है। स्वातंत्र्योत्तर काल में लिखी जाने वाली कहानियों की नवीनता रूप शिल्प और मानवीयता दोनों की है। पत्र-पत्रिकाओं में नई पीढ़ी के कहानीकारों और तरुण आलोचकों ने वर्तमान कहानी को लेकर पर्याप्त विवाद उत्पन किये हैं। फलस्वरूप 'कहानी नयी कहानी की संज्ञा से अभिषिक्त होकर गद्य साहित्य की विधाओं में अग्रिम मोर्चे पर खड़ी है। आजादी ने जो नयी चेतना प्रदान की है, उसमें आस्था व आशा का स्वर प्रमुख रहा है। जैसे-जैसे सामाजिक और राजनीतिक परिदृश्य बदला है वैसे-वैसे ही उसमें साँस लेने वाला व्यक्ति

भी बदल गया है। आजादी के पहले जो प्रश्न-उप प्रश्न और समस्याएँ थी, वे आजादी के बाद एक नये रूप में सामने आई हैं। कारण मानव के अनुभवों की शृंखला में बेहिसाब नये अनुभव आकर जुड़ गये। उसकी समस्याओं की परिधि न केवल चौड़ी हुई है, वरन उसकी बाहरी सीमा कँटीले तारों से घिरी हुई है। ऐसी स्थिति में कहानी का नया हो जाना परिवेश की माँग है। नयी कहानी से तात्पर्य उस कहानी से है, जो सन् 1950 ई. के आस-पास से नये युग-बोध के रंग में रंगी यथार्थ की रेखाओं से लिखी गई है। ''नयी कहानी की शुरूआत किसी एक व्यक्ति से नहीं हुई है। उसकी एक पीढ़ी है और उसी पीढ़ी की प्रगतिशील दृष्टि भी है। इस दृष्टि के वाहकों में कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, मोहन राकेश, अमरकांत, निर्मल वर्मा, मनू भण्डारी और मार्कण्डेय आदि का नाम शीर्ष पर स्थित है। इस पीढ़ी के कहानीकारों ने जीवन की विसंगतियों, विडम्बनाओं और त्रसदियों से सीधा साक्षात्कार करके अपनी प्रामाणिक अनुभूतियों को प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि ये सभी नये कहानीकार परिवेश से प्रतिबद्ध हैं। इसका मानस सजग है, आँखें खुली हैं एवं प्रज्ञा और संवेदना के स्तर सजग हैं। तभी तो ये मानवीय स्थितियों और संबंधों को यथार्थ की कलम से उकेर सके हैं।'1

मात्र समवयस्क या समकालीन होना ही काफी नहीं है। नयी कहानी में जो कथ्य और शिल्प की नवीनता है वह स्वातंत्रयोत्तर भारत की गतिविधियों का परिणाम है। राजेंद्र यादव के अनुसार - ''वस्तुतः स्वतंत्रता के पश्चात के कथाकार का एक संसार वह है, जो उसके आस-पास फैला हुआ है, जिससे उसे घृणा है, लेकिन उसकी मजबूरी यह है कि वह उसमें रहने, टूटने और घुटने व समझौता करने के अलावा कोई दूसरा मार्ग नहीं देख पाता है। दूसरी दुनियाँ वह है, जिसे उसने अपने भीतर से निकाल कर बाहर फेंक दिया है। इसका निर्माण उसने खुद किया है। कथाकार अपने टूटने, घुटने और घिसटने की तस्वीर पूर्ण असामर्थ्य, पराजय और हताशा के साथ व्यक्त करता है। यही उसकी नियति है। उसे खुद नहीं मालूम कि जिस कुरूप, घिनौनी और चिपचिपी सृष्टि का जिम्मेदार उसे ठहराया जाता है, उसमें उसकी जिम्मेदारी कितनी है? जिस रंग-बिरंगे, लकदक सलमे-सितारे मढ़े संसार को उस पर लाद दिया गया है, उसकी कुरूप सिसकती आत्मा को खींचकर बाहर निकाल देना अपराध है या अपनी आंतरिक कुरूपता की कीचड़ को कला के माध्यम से औरों तक फैलाना। कलाकार का अपराध कहाँ है-कला धर्म का निर्वाह या न निर्वाह कर सकने की मजबूरी में।'

नयी कहानी कल्पना लोक से उतरकर समाज के धरातल पर प्रतिष्ठित हुई है उसमें यथार्थ का स्तर न केवल साफ है, अपितु तीखा और तिलमिला देने वाला भी है। मेरी दृष्टि में नयी कहानी वह है, जो आजकल लिखी जा रही है और जिसमें आज की अनुभूति व आज के युग का ज्वलंत बोध है। नयी कहानी पुरानी कहानी से भिन है। इस भिनता को कमलेश्वर ने इन शब्दों में प्रकट किया है : ''पुरानी कहानी में व्यक्ति शारीरिक रूप से आता था और वैचारिक रूप से कथाकार के रूप में। नयी कहानी में यह विचार उसी शरीर में अवस्थित बुद्धि से उपजता है, जिसे प्रस्तुत किया जाता है। तब विचारों को हाड़-माँस प्रदान किया जाता था, अब हाड़-मांस के इंसान के विचारों को प्रस्तुत किया जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि राजेद्र यादव, मोहन राकेश और कमलेश्वर आदि ने कहानी का यही रूप स्वीकार किया है। नयी कहानी का नया बोध मूलत: नैतिक मूल्यों से संबंधित है। नयी कहानी मानवीय मूल्यों से संरक्षण और जीवनी शक्ति के परिप्रेषण की दिशा में यत्नशील है।' स्पष्ट है कि वह तो ध्वंसोमुखी आदर्शों की पुर्नस्थापन हेतु बदलते मूल्यों और टूटती मर्यादाओं के प्रति प्रबुद्ध और भावाकुल दिख रही है। फर्क है तो केवल यही कि वह पारंपरिक आदर्शों व प्रतिमानों के अवमूल्यन या ध्वंस पर झोंका कुल नहीं है। वह तो स्थिति, परिवेश और आस-पास बिखरे जीवन से प्रेरित हो नये प्रतिमानों के प्रस्तुतीकरण के निमित्त व्यग्र व इच्छुक है। नयी कहानी ने स्त्री-पुरुष के सम्बंधों की साहसपूर्ण वास्तविकता, परिवेश और हाड़-मांस का सत्य अंकित किया है। जीवन का घिनौनापन उसका प्रतिपाद्य नहीं है। यही कारण है कि 'नयी कहानी सेक्स की अपेक्षा 'सेक्स साइकोलॉजी को प्रस्तुत कर रही है। उसमें अश्लीलता की अपेक्षा बौद्धिक निर्लिप्तता अधिक है।

स्पष्ट है कि नयी कहानी ने पूर्वाग्रहों से मुक्ति प्राप्त कर ली है। वह इद्रधनुषी रंगों और कल्पना के सतरंगे आग्रहों से मुक्त होकर यथार्थ की ऊबड़-खाबड़, कितु ठोस धरातल पर आ गई है। उसने पुराने व अव्यावहारिक मूल्यों पर प्रश्न चिह्न लगा दिया है तथा असमय वृद्ध सांस्कृतिक मूल्यों का था तो नवीनीकरण किया है या उहें नये मूल्यों के प्रकाश के समक्ष मृत घोषित कर दिया है। आज हम जिस युग में जी रहे हैं, वह वास्तविकताओं की पहचान का युग है। कहानीकार में यह पहचान कविता की अपेक्षा अधिक तेजी से घटित हो रही है, यही कारण है कि कहानी लिखने की प्रेरणायें भी असीमित हो गई हैं। हमारे चारों ओर बिखरे हुये जीवन का हर पल, हर सदर्भ और हर स्थिति कतिपय

प्रभावों से आदोलित हो रही है। सजग कहानीकार के पास इस सबको पहचानने की सहज क्षमता है, गहरी अनुभूति है और अनुभव के उस यथार्थ को व्यक्त करने के लिए सशक्त शिल्प है। ''ऐसी स्थिति में जीवन का हर पल, डर संदर्भ और अपने आस-पास का सब कुछ कहानी बनता जा रहा है। परिणामत: हम जहाँ पर दो पल विराम कर सांस लेते हैं, वहाँ एक आदमी कसमसाने लगता है। जिस राह से गुजरते हैं वहाँ पैरों के बने निशान एक करुण गाथा छोड़ देते हैं। धरती के गर्भ में छिपा बीज जब अंकुरित होकर हवा में लहराता है, तो उसका एक इतिहास लिख जाता है, जिसे कहानी बनते देर नहीं लगती। इतना ही क्यों वर्तमान परिस्थितियों में अनेक संकटों को झेलते मानव के चेहरे के भाव-अभाव, तनाव और सलवटों, सभी में एक-एक कहानी लिखी दिखाई देती है।'

आज का सचेतन कहानीकार जब लगातार रौंदी जाने वाली सड़क के दिल की धड़कन भी सुन लेता है तो फिर मेहनत मजदूरी करने वाले आदमी के पसीने की बूँदों में, बीमारी और दर्द से पीड़ित मरीज की कराह में, अनेक संगतियों के बीच द्वघ्द्व और तनाव झेलते स्त्री-पुरुषों में, निरतर टूटते मानवीय रिश्तों, किसी घायल, गरीब और बेसहारा की विवशता में और किसी प्रेम के मारे असफल और पूरी तरह टूट चुके आदमी में छिपी कहानी क्यों बाहर नहीं आ सकती ? आज की कहानी यही है उसकी संवेदना यही है और उसका परिवेश भी ऐसी ही अनेक स्थितियों से सम्बद्ध है।

यशपाल, जैनेद्र, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी अश्क और प्रेमचद्र ऐसे ही विशिष्ट भावबोध वाले कहानीकार हैं। जैनेद्र और अज्ञेय ने मानवीय आंतरिकता को मनोविश्लेषणात्मक कहानियों के सहारे अभिव्यक्त किया है। 'यशपाल की कहानियों में सामाजिक वर्ग-वैषम्य की भावना और पात्रों की मनोग्रंथियों का विश्लेषण करके मध्य-कालीन बोध को तोड़ने का प्रयत्न दिखाई देता है। अश्क में सामाजिक भावना और वैयक्तिक जीवन-प्रसंगों के आपसी संयोग से एक समीकरणात्मक मानवीय चेतना की अभिव्यंजना दिखाई देती है। सामाजिक बोध की भूमिका पर विकसित चेतना का स्प्फुरण और अभिव्यंजन अश्क, अमृतलाल नागर, चद्र किरण सौनरिक्सा, भैरव प्रसाद गुप्त, भीष्म साहनी और धर्मवीर भारती की कहानियों में उपलब्ध होता है। परिस्थितियों की जटिलता और विषमता ने जीवन बोध और उसके स्तर को भी बदल दिया है। इतना ही नहीं मानवीय सम्बंध, रिश्ते-नाते और पारिवारिक एवं वैयक्तिक सदर्भों ने नई स्थितियाँ पैदा कर दी हैं। फलत: जीवन-निर्वाह का प्रश्न जटिल हो जाता है। उसके लिए न केवल

पति वरन पत्नी भी नौकरी के क्षेत्र में उतर रही है। कहीं-कहीं यह भी हुआ कि पति, पत्नी की कमाई पर पल रहा है। इसके साथ ही कहीं सामाजिक दायित्व के निर्वाह अथवा दबाव के कारण लड़कियाँ नौकरी कर रही हैं। उनकी इच्छाओं का रंग महल परिस्थितियों के दबाव के कारण खण्डहर होता जा रहा है। कभी वे अविवाहित होकर विवाहित का, कभी विवाहित होकर अविवाहित का और कभी प्रेम के नाम पर कलंकिनी बनाकर ठुकराई हुई अपेक्षिताओं का जीवन बिता रही हैं। इतनी पीड़ा को सहने पर भी उहोंने अपने अस्तित्त्व को बनाये रखा है। अनेक रोजगार दफ्तर खुलने के बाद भी नयी पीढ़ी का अधिकांश जीवन निरर्थक और बेरोजगार हो गया है-परिणाम सामने हैं, काफी हाउसों, टी स्टालों और सिनेमाघरों पर भीड़ इकट्ठी होती जा रही है। भीड़ बढ़ रही है, उसका दबाव बढ़ रहा है और व्यक्ति अकेलेपन का बोझ लिए जीवन की रही-सही साँसों को जैसे-तैसे गिन रहा है। सामाजिक और पारिवारिक दायित्वबोध बढ़ने के कारण व्यक्ति की विवशताएँ बढ़ रही हैं। तब भी व्यक्ति के जीवन की गाड़ी चलती रहती है। शिवप्रसाद सिंह लिखते हैं - ''मनुष्य और उसकी जिदगी के प्रति मुझे मोह है, जो अपने अस्तित्त्व को उबारने के लिए विविध क्षेत्रों में विरोधी शक्तियों से जूझ रहा है। अंधविश्वास, उपेक्षा, विवशता, प्रताड़ना, अतृपति, शोषण, राजनीतिक, भ्रष्टाचार और क्षुद्र स्वार्थार्ध्यता के नीचे पिसता हुआ भी जो अपने सामाजिक और मनोवैज्ञानिक हक के लिए लड़ता है, हँसता है, रोता है, बार-बार गिर कर भी जो अपने लक्ष्य से मुँह नहीं मोड़ता है, वह मनुष्य तमाम शारीरिक कमजोरियों और मानसिक दुर्बलताओं के बावजूद महान है।'

शहरीकरण और नगरीकरण की प्रक्रिया तेजी से घटित हुई है और अभी भी हो रही है। कस्बाती जीवन जीने का आदी बुद्धिवादी व्यक्ति रोजगार पाकर भी महानगरीय जीवन की चकाचौंध और तड़क-भड़क में खोता जा रहा है। एक ओर यह नगरीय जीवन है और दूसरी ओर वह अतीत है, जिसकी स्मृतियाँ उसके जगत (मन) में कौंधती हुई उसे इसानी रिश्तें से जोड़ती हैं। इस पीड़ामय द्वन्द्व में वह भटक गया है। व्यक्ति का निजीपन अनजाने महानगरों की भीड़ में आकर छूट गया है उसे केवल ऊब, उदासी और अपरिचय के बीच रहना पड़ रहा है। विवशता की प्रक्रिया यहीं समाप्त नहीं हो रही है, जो व्यक्ति कस्बाती जीवन को छोड़कर यहाँ आया है वह केवल व्यक्ति नहीं है, वह किसी का पिता, किसी का पति और किसी असहाय वृद्धा का बेटा है। ऐसी स्थिति में उसे अपने पीछे छोड़ आये परिवार के लिए रोटी, कपड़ा और मकान की व्यवस्था भी करनी है।

व्यवस्था जुटाने की आशा लेकर आया हुआ यह व्यक्ति महानगरीय जीवन में आकर स्वयं अव्यवस्थित होता जा रहा है। यह वह व्यक्ति है, जो अपने किशोरकाल में भावी जीवन के सपनों का संसार संजोये हुए था। उसकी कल्पना थी कि शिक्षा समाप्त करके वह जीवन को नई दिशा देगा। उसे अच्छी नौकरी मिलेगी, अच्छा जीवन स्तर होगा, किंतु इस 'किंतु ने ही तो उसे प्रश्नों और समस्याओं के जंगल में भटका दिया है। यह तो था उसकी कल्पना का जीवन और जब उसे इसमें उतरने का अवसर मिला तो सारी स्थितियाँ उलट गईं, कल्पनाएँ यथार्थ के ताप से तपकर न केवल झुलस गईं अपितु उनकी स्थिति एक प्रश्न बन गई। स्थिति यह हुई कि उसका विवाह तो हुआ, किंतु नौकरी न मिली और हर साल बाद वह अपने 'फ्रस्ट्रेशन को एक-एक बच्चे के रूप में जम देता रहा। स्वच्छ महान की कल्पना सीलन और बदबूदार 'अँधेरे बद कमरों में बदल गई। उसकी पत्नी का सौंदर्य झुर्रियों में बदल गया और बच्चे सही परिवेश और पोषण न पा सकने के कारण न केवल दुर्बल हो गये वरघ चिड़चिड़े भी हो गये। नौकरी मिली तो है, किंतु सारे दिन दफ्तरी जीवन में सिर खपाते रहने के बाद जब वह घर लौटता है तो उसका दम घुटता है, बच्चों की मांगों और चीख पुकार से कान के पर्दे फटते दिखाई देते हैं। पुरुष-पत्नी की खीज से भीतर ही भीतर घुलता जा रहा है। नतीजा यह कि वह वापस अपने अतीत में लौट जाना चाहता है। वह व्यवस्था में परिवर्तन करना चाहता है कि सारे जीवन-तंत्र को नया रूप देना चाहता है, किंतु हो कुछ नहीं पाता वह विवश भाव से इन सभी स्थितियों को स्वीकार कर लेता है। यह टूटन, यही विवशता और ऊब व निराशा नयी कहानी में प्रतिरूपित हो रही है।

5

निबन्ध

निबन्ध (Essay) गद्य लेखन की एक विधा है। लेकिन इस शब्द का प्रयोग किसी विषय की तार्किक और बौद्धिक विवेचना करने वाले लेखों के लिए भी किया जाता है। निबंध के पर्याय रूप में सन्दर्भ, रचना और प्रस्ताव का भी उल्लेख किया जाता है, लेकिन साहित्यिक आलोचना में सर्वाधिक प्रचलित शब्द निबंध ही है। इसे अंग्रेजी के कम्पोजीशन और एस्से7 के अर्थ में ग्रहण किया जाता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार संस्कृत में भी निबंध का साहित्य है। प्राचीन संस्कृत साहित्य के उन निबंधों में धर्मशास्त्रीय सिद्धांतों की तार्किक व्याख्या की जाती थी। उनमें व्यक्तित्त्व की विशेषता नहीं होती थी। किन्तु वर्तमान काल के निबंध संस्कृत के निबंधों से ठीक उलटे हैं। उनमें व्यक्तित्त्व या वैयक्तिकता का गुण सर्वप्रधान है।

इतिहास-बोध परम्परा की रूढ़ियों से मनुष्य के व्यक्तित्त्व को मुक्त करता है। निबंध की विधा का संबंध इसी इतिहास-बोध से है। यही कारण है कि निबंध की प्रधान विशेषता व्यक्तित्त्व का प्रकाशन है।

निबंध की सबसे अच्छी परिभाषा है-

निबंध, लेखक के व्यक्तित्त्व को प्रकाशित करने वाली ललित गद्य-रचना है। इस परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष है, लेकिन निबंध का रूप साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा इतना स्वतंत्र है कि उसकी सटीक परिभाषा करना अत्यंत कठिन है।

निबंध की विशेषता

सारी दुनिया की भाषाओं में निबंध को साहित्य की सृजनात्मक विधा के रूप में मान्यता आधुनिक युग में ही मिली है। आधुनिक युग में ही मध्ययुगीन धार्मिक, सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति का द्वार दिखाई पड़ा है। इस मुक्ति से निबंध का गहरा संबंध है।

ललित अत्री जी, के अनुसार-

नए युग में जिन नवीन ढंग के निबंधों का प्रचलन हुआ है, वे व्यक्ति की स्वाधीन चिन्ता की उपज है।

इस प्रकार निबंध में निबंधकार की स्वच्छंदता का विशेष महत्त्व है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल च्च ने लिखा है–

निबंध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वंच्छद गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ संबंधी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ-संबंध-सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न-भिन्न लेखकों के दृष्टि-पथ को निर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी संबंध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।

इसका तात्पर्य यह है कि निबंध में किन्हीं ऐसे ठोस रचना-नियमों और तत्त्वों का निर्देश नहीं दिया जा सकता जिनका पालन करना निबंधकार के लिए आवश्यक है। ऐसा कहा जाता है कि निबंध एक ऐसी कलाकृति है, जिसके नियम लेखक द्वारा ही आविष्कृत होते हैं। निबंध में सहज, सरल और आडम्बरहीन ढंग से व्यक्तित्त्व की अभिव्यक्ति होती है।

हिन्दी साहित्य में निबन्ध

हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग में भारतेन्दु और उनके सहयोगियों से निबंध लिखने की परम्परा का आरंभ होता है। निबंध ही नहीं, गद्य की कई विधाओं का प्रचलन भारतेन्दु से होता है। यह इस बात का प्रमाण है कि गद्य और उसकी विधाएँ आधुनिक मनुष्य के स्वाधीन व्यक्तित्त्व के अधिक अनुकूल हैं। मोटे रूप में स्वाधीनता आधुनिक मनुष्य का केन्द्रीय भाव है। इस भाव के कारण परम्परा की रूढ़ियाँ दिखाई पड़ती हैं। सामयिक परिस्थितियों का दबाव अनुभव होता है। भविष्य की संभावनाएँ खुलती जान पड़ती हैं। इसी को इतिहास-बोध

कहा जाता है। भारतेन्दु युग का साहित्य इस इतिहास-बोध के कारण आधुनिक माना जाता है।

भारतेन्दु युग

भारतेन्दु काल के वातावरण और परिस्थितियों से तो आप परिचित ही है। उस युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमधन', बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी जैसे प्रमुख निबन्धकार हुए।

भारतेन्दु जीके निबन्ध भी अनेक विषयों पर हैं। 'कश्मीर कुसुम' 'उदयपुरोदय', 'कालचक्र', 'बादशाह दर्पण'-ऐतिहासिक, 'वैद्यनाथ धाम', 'हरिद्वार', सरयू पार की यात्रा'-विवरणात्मक, 'कंकण स्तोत्र'-व्यंग्यपूर्ण वर्णनात्मक और 'नाटक', 'वैष्णवता और भारतवर्ष' विचारात्मक निबन्ध हैं। भारतेन्दु सबसे अधिक सफल हुए अपने व्यंगात्मक निबन्धों में। 'लेवी प्राणलेवी', 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन', 'पाँचवें पैगम्बर', 'अंग्रेज स्त्रोत', कंकड़ स्रोत' आदि में गजब का हास्य-व्यंग्य है ही 'सरयू पार की यात्रा' में भी भारतेन्दु अपने व्यंग्य का बढ़िया नमूना उपस्थित करते हैं। जैसे-वाह रे बस्ती। झक मारने बसती है। अगर बस्ती इसी को कहते हैं, तो उजाड़ किसे कहेंगे?

इनके निबन्धों की भाषा स्वच्छ और श्लेषपूर्ण है। कहीं-कहीं तो उर्दू की बढ़िया शैली भी आपने उपस्थित की। भाव और विचार की दृष्टि से युग की वे सभी विशेषताएँ इनमें भी हैं, जो भट्ट जी या प्रतापनारायण मिश्र में हैं।

बालकृष्ण भट्ट अपने समय के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार कहला सकते हैं। इन्हें हिन्दी का 'मान्तेन, कहा जाता है। भट्ट जी ने सभी प्रकार के निबन्ध लिखे। 'मेला-ठेला', 'वकील'-वर्णनात्मक, 'आँसू', 'चन्द्रोदय', 'सहानुभूति', 'आशा माधुर्य', 'खटका'-भावात्मक 'आत्म-निर्भरता', 'कल्पना-शक्ति', 'तर्क' और 'विश्वास'-विचारात्मक निबन्ध हैं। 'खटका', 'इंगलिस पढ़े तो बाबू होय', 'रोटी तो कमा खाय किसी भांति', 'मुछन्दर', 'अकल अजीरन राग' आदि निबन्धों में मस्ती, हास-परिहास, विनोद-व्यंग्य सभी कुछ हैं। ऐसे निबन्धों की भाषा चलती और दैनिक व्यवहार की है। भट्ट जी की भाषा विषय के अनुकूल और अपने समय में सबसे अधिक मंजी हुई सबल और प्रभावशाली है। समाज, व्यक्ति, जीवन, धर्म, दर्शन, राष्ट्र, हिन्दी-सभी विषयों पर आपने लिखा। जन-साहित्य को जन-भाषा में लिखने वालों में प्रतापनारायण मिश्रका नाम सर्वप्रथम आएगा। इनके

व्यक्तित्त्व और निबन्धों में निराला आकर्षण है। लापरवाही, चुभता व्यंग्य, गुदगुदीभरा विनोद इनकी रचनाओं की विशेषताएँ हैं। इस युग में इतनी चुलबुली भाषा लिखने वाला और कोई नहीं हुआ। यह 'ब्राह्मण' नामक पत्र निकालते थे, जिसमें इनके निबन्ध छपते थे। छोटे-छोटे विषयों पर इतने बढ़िया, मनोरंजन और उच्च उद्देश्य को लेकर किसी लेखक ने नहीं लिखा। 'नाक', 'भौह', 'वृद्ध', 'दांत', 'पेट', 'मृच्छ' आदि विषयों को लेकर आपने अपने निबन्धों में मनोरंजन का सामान भी जुटाया और देश-प्रेम, समाज-सुधार, हिन्दी के प्रति प्रेम, स्वाभिमान, आत्म-गौरव का सन्देश भी दिया। इनकी शैली में घरेलू बोलचाल की शब्दावली तथा पूर्वी बोलियों की कहावतों और मुहावरों का प्रयोग मिलता है। लापरवाही के कारण भाषा की अशुद्धयाँ रहना साधारण बात है। 'आत्मीयता', 'चिन्ता', 'मनोयोग' इनके विचारात्मक निबन्ध हैं।

द्विवेदी युग

भारतेन्दु-युग के बाद द्विवेदी-युग आता है। भारतेन्दु-युग गद्य-साहित्य के बचपन का समय था। बचपन में लापरवाही, खिलवाड़, विनोद, मनोरंजन, मुग्धता, चंचलता रहती है। किशोर अवस्था में थोड़ी जिम्मेदारी, समझदारी, शिक्षा, नियम-पालन, साज-संवार, स्थिरता आ जाती है। इसी अवस्था में प्रतिस्पर्धा की भावना भी जागती है। अन्य साथियों की शिष्टता, शील, ज्ञान, आत्मसम्मान आदि को देखकर उनके समान ही हम भी गुण विकसित करना चाहते हैं। यही बात भारतेन्दु युग के संदर्भ में समझनी चाहिए। भारतेन्दु-काल में साहित्य तो बहुत लिखा गया था, पर भाषा की भूलें साधारण बात थी। निबन्ध के विषय भी साधारण हुआ करते थे। इस युग में इन अभावों की ओर विशेष ध्यान दिया गया। इस काल के निबन्धों का आरम्भ दो अनुवाद-पुस्तकों से हुआ। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अंग्रेज लेखक बेकन के निबन्धों का अनुवाद 'बेकन-विचार-रत्नावली' के नाम से, गंगा प्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी लेखक चिपलूणकर के निबन्धों का अनुवाद प्रकाशित कराया। लेकिन यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि द्विवेदी-युग का निबन्ध-साहित्य भारतेन्दु-युग के निबन्ध-साहित्य के समान सम्पन्न नहीं है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, अध्यापक पूर्णसिंह और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इस युग के प्रमुख निबन्धकार हैं। गोविन्द नारायण मिश्र, पद्मसिंह शर्मा और श्यामसुन्दरदास का नाम दूसरी श्रेणी में लिया जा सकता है।

अध्यापक पूर्णसिंह इस युग के सबसे प्रमुख, भावुक और विचारक निबन्धकार हैं। इससे अधिक गौरव की बात और क्या होगी कि इन्होंने केवल छः निबन्ध लिखे और फिर भी अपने समय के श्रेष्ठ लेखक माने गए। उनमें से प्रमुख हैं 'मजदूरी और प्रेम', 'आचरण की सभ्यता' और 'सच्ची वीरता'। अध्यापक जी के निबन्धों में प्रेरणा देने वाले नए-नए विचार हैं। इनकी भाषा बड़ी ही शक्तिशाली है। उसमें एक खास बाँकपन है, जिससे भाव का प्रकाशन भी निराले ढंग से होता है। विषय भी ऐसे नए कि अब तक किसी को सूझे ही नहीं। साथ, ही इनमें भावुकता का माधुर्य भरा है। वीरता, आचरण, शारीरिक परिश्रम का जो महत्त्व उन्होंने समझाया, उसको ठीक समझा जाए तो आज धर्म का नया रूप सामने आ जाए। समाज में क्रांति हो जाए, मनुष्य और सारा देश उन्नति के शिखर पर पहुंच जाए। ''जब तक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पंडित और साधु-संन्यासी, हल कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं।" 'मजदूरी और प्रेम' का यह उद्धरण कितना महान् संदेश देता है। भाषा की लाक्षणिकता इनकी विशेषता है।

प्रसाद-युग

प्रसाद युग हिन्दी साहित्य का स्वर्ण काल है। क्या कविता, क्या गद्य दोनों का विकास इस काल में ऊँचे शिखर पर पहुंचा। कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आलोचना सभी का खूब विकास हुआ। वर्णन और विवरण प्रधान निबन्धों की रचना बहुत कम हुई, विचारात्मक और भावात्मक की अधिक। इन दोनों प्रकार के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध इसी युग में लिखे गए। विचारात्मक निबन्धकारों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और भावात्मक निबन्धकारों में डॉ. रघुवीर सिंह, सिरमौर हैं। गुलाबराय, वासुदेवशरण अग्रवाल, शांतिप्रिय द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि और रायकृष्णदास का नाम भी उल्लेखनीय है।

गुलाबराय जी के सामने द्विवेदी-युग का सारा साहित्य-भण्डार था। इनके साहित्य का बहुत कुछ रंग द्विवेदी-युग का रहा। यह निबन्धकार पहले हैं, आलोचक बाद में। 'फिर निराशा क्यों? 'मेरी असफलताएँ', 'अंधेरी कोठरी' इनके निबन्ध संग्रह हैं। 'मेरी असफलताएं' आत्मपरक या वैयक्तिक व्यंग्यात्मक निबन्धों का संग्रह है। शेष दोनों संग्रहों में विचारात्मक निबन्ध हैं। अन्तिम संग्रह मनोवैज्ञानिक निबन्धों का है। आपकी भाषा बड़ी सरल और सुबोध होती है। विचारात्मक और मनोवैज्ञानिक निबन्धों तक में भाषा या भाव की उलझन नहीं मिलेगी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निबन्ध-संग्रह 'चिन्तामणि' भारतीय साहित्य में ही नहीं, विश्व-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। विचारात्मक निबन्धों में शुक्ल जी के निबन्ध सर्वश्रेष्ठ हैं। इनमें विचारों की बारीकी और गंभीरता, भावों की मनोवैज्ञानिकता, भाषा का गठन और उसकी शक्ति आदि आदर्श हैं। 'चिन्तामणि' में 'क्रोध', 'ईर्ष्या', 'लोभ और प्रीति', 'उत्साह', 'श्रद्धाभक्ति', 'भय', 'करुणा', 'घृणा', 'लज्जा' और 'ग्लानि' आदि विषयों पर लिखे निबन्ध मानसिक भावों, वृत्तियों और विचारों से संबंध रखते हैं। 'कविता क्या है?' 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्रय' साहित्यिक व्याख्या और विश्लेषण संबंधी हैं और 'तुलसीदास का भक्ति मार्ग', 'मानस की धर्म-भूमि'आदि साहित्य-समीक्षा-संबंधी। 'मित्रता' और 'प्राचीन भारतीयों का पहरावा' परिचयात्मक वर्णनात्मक निबन्ध हैं।

मनोभावों या चित्तवृत्तियों का विवेचन करते हुए वे राजनीति, समाजनीति, धर्म, पारस्परिक व्यवहार आदि पर भी यह अपने मौलिक विचार प्रकट करते चलते हैं। इन निबन्धों की शैली में लेखक का गहन ज्ञान और गम्भीर व्यक्तित्त्व प्रकट होता है। थोड़े शब्दों में बड़ी से बड़ी बात कहने की शक्ति इनमें है, जो उच्च स्थान इनका आलोचक के रूप में है, वही निबन्धकार के रूप में भी है। लोक मंगल की भावना भी इनके निबन्धों की प्रमुख विशेषता है।

प्रसादोत्तर युग

प्रसादोत्तर या प्रगतियुग में निबन्ध-साहित्य ने सबसे अधिक विकास किया। विषयों की संख्या और विविधता की दृष्टि से तो इस युग का मुकाबला ही नहीं। यह युग उथल-पुथल का युग है। दूसरा विश्वयुद्ध हुआ, समाजवादी विचारों का आगमन हुआ। भारत स्वतंत्र होकर विभाजित हुआ। प्राचीन साहित्य, संस्कृति और कला की ओर हमारा ध्यान गया। अनेक आर्थिक एवं सामाजिक समस्याएँ भी पैदा हुईं। इन सब बातों की छाया निबन्धों में भी मिलती है। इस युगके चार निबन्धकार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र कुमार भवन्त आनन्द कौशल्यायन तथा यशपाल।

कौसल्यायन जी बौद्धभिक्षु थे और समाजवादी विचारों का इन पर बहुत प्रभाव था। निबन्ध तो इन्होंने बहुत नहीं लिखे, पर पृथक् विषय की दृष्टि से इनका महत्त्व है। 'जो न भूल सका' इनके संस्मरणात्मक निबन्धों का संग्रह है, जिनमें सामाजिक विषमता, धार्मिक शोषण, आर्थिक उत्पीड़न के तीखे चित्र हैं।

धर्म को यह शोषण का संगठित साधन बताते हैं और अमीरों के भवनों को गरीबों की हड्डियों की ईंटों और खून के चूने से बना मानते हैं। जनवादी लेखक होने से इनकी भाषा सरल है।

प्रगतिवादी निबन्ध-साहित्य में यशपाल बेजोड़ हैं। इनके ये निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं–'चक्कर क्लब', 'न्याय का संघर्ष, 'गांधीवाद की शव परीक्षा', 'देखा, सोचा, समझा', 'बात में बात', 'राम-राज्य की कथा' इन सभी पुस्तकों के नामों से भी पता चलता है कि ये समाजवाद के समर्थक ही नहीं, प्रचारक भी हैं। पुरानी परम्पराओं, समाज के ढांचे, धर्म की बुनियादों पर उन्होंने बड़े जोश के साथ वार किए हैं। इनका विश्वास है कि पुराने दर्शन और संस्कृति, मानव की उन्नति में रोड़े हैं। इसलिए इनका विरोध यह निडर होकर करते हैं। वर्तमान समाज में धन के गलत बंटवारे के कारण कोई राजा बन गया और कोई गुलाम। वे कहते हैं कि 'मानव की घृणा', मानव से मानव की शत्रुता, मानव द्वारा मानव का शोषण और अपमान तभी दूर हो सकेगा, जब सबको अपने परिश्रम का फल मिले, विकास का अवसर प्राप्त हो।" सभ्यता, संस्कृति, कला, साहित्य, समाज सभी के विषय में इन्होंने अपने मौलिक विचार प्रकट किए। विविधता की दृष्टि से इन्होंने हिन्दी निबन्ध-साहित्य को धनी बताया है।

जैनेन्द्र कुमार शुद्ध रूप से विचारक हैं। धर्म, युद्ध, न्याय, राष्ट्रीयता, दान की बात, दीन की बात, पैसा कमाई और भिखाई, गांधीवाद का भविष्य, रोटी का मोर्चा, संस्कृति की बात, उपवास और लोकतंत्र, दुःख, सत्यं शिवं सुन्दरं, साहित्य की सच्चाई, प्रगतिवाद, जड़चेतन, सम्पादकीय मैटर-इनके इन निबन्धों से विषय की विविधता का तो पता चलता ही है, यह भी पता चलता है कि लेखक समाज, साहित्य, धर्म, राजनीति, जीवन की यथार्थ उलझनों आदि किसी से भी बेखबर नहीं। इनके ये निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं–'जड़ की बात', पूर्वोदय', 'जैनेन्द्र के विचार' 'इतस्ततः'। इनके निबन्धों की विशेषताएँ हैं–गांधीवाद, नैतिकता, संस्कृति-प्रेम, मौलिक विचार, स्वतंत्रता और सबल, संक्षिप्त गठी हुई शैली। व्यक्तित्त्व और शैली को निबन्ध का प्राण मानें, तो जैनेन्द्र जी एक महान लेखक हैं। भाषा सरल, हाट-घाट-बाट की है, लेकिन उसमें अर्थ गजब का मिलेगा। इनकी शैली के लिए कुछ अवतरण देखिए–

व्यवस्था का दल कागजी है।
काम उसके दफ्तरी है।
मत पता लगने दो कि नीचे जान है।
दिलेरी डर से पैदा होती है।

उस नीयत का मुंह बाहर चाहे न दीखता हो, पेट में छिपी उसकी जड़ है जरूर।

निबन्धकारों में राहुल सांकृत्यायन का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। इनके निबन्ध देश-दशा, राजनीति, यात्रा-वृत्तान्त तथा इतिहास को लेकर ही होते हैं। देश-दशा और राजनीति से संबंधित निबन्धों के एक संग्रह का नाम है–'तुम्हारा क्षय'। इस संग्रह के सभी निबन्धों का निष्कर्ष यह है कि जो रूढ़िवादी है, जो रास्ता रोककर खड़े हैं, उनका क्षय हो। इनके कुछ संस्मरणात्मक निबन्धों के संग्रह ये हैं बचपन की स्मृतियाँ, जिनका मैं कृतज्ञ, मेरे असहयोग के साथी, राहुल जी का अपराध आदि। राहुल जी के असली व्यक्तित्त्व और निबन्धकार की आत्मा का यदि दर्शन करना हो तो उनका 'घुमक्कड़ शास्त्र' पढ़ना चाहिए।

हिन्दी निबन्ध का जन्म भारतेन्दु-काल में हुआ। यह नवजागरण का समय था। भारतीयों की दीन-दुखी दशा की ओर लेखकों का बहुत ध्यान था। पुराने गौरव, मान, ज्ञान, बल-वैभव को फिर लाने का प्रयत्न हो रहा था। लेखक अपनी भाषा को भी हर प्रकार से सम्पन्न और उन्नत करने में लग गए थे और सबसे बड़ी बात यह थी कि इस काल के लेखक स्वतंत्र विचारों के थे। उनमें अक्खड़पन और फक्कड़पन भी था। ऐसा युग निबन्ध के बहुत अनुकूल होता है, इसलिए इस युग में जितने अच्छे निबन्ध लिखे गये उतने अच्छे नाटक, आलोचना, कहानी आदि नहीं लिखे गए।

महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा (26 मार्च 1907 - 11 सितंबर 1987) हिन्दी की सर्वाधिक प्रतिभावान कवयित्रियों में से हैं। वे हिन्दी साहित्य में छायावादी युग के चार प्रमुख स्तंभोंख्क, में से एक मानी जाती हैं। आधुनिक हिन्दी की सबसे सशक्त कवयित्रियों में से एक होने के कारण उन्हें आधुनिक मीरा के नाम से भी जाना जाता है। कवि निराला ने उन्हें "हिन्दी के विशाल मन्दिर की सरस्वती" भी कहा है। महादेवी ने स्वतंत्रता के पहले का भारत भी देखा और उसके बाद का भी। वे उन कवियों में से एक हैं, जिन्होंने व्यापक समाज में काम करते हुए भारत के भीतर विद्यमान हाहाकार, रुदन को देखा, परखा और करुण होकर अन्धकार को दूर करने वाली दृष्टि देने की कोशिश की। न केवल उनका काव्य बल्कि उनके सामाज सुधार के कार्य और महिलाओं के प्रति चेतना भावना भी इस दृष्टि से प्रभावित रहे। उन्होंने मन की पीड़ा को इतने स्नेह और श्रृंगार से

सजाया कि दीपशिखा में वह जन-जन की पीड़ा के रूप में स्थापित हुई और उसने केवल पाठकों को ही नहीं समीक्षकों को भी गहराई तक प्रभावित किया।

उन्होंने खड़ी बोली हिन्दी की कविता में उस कोमल शब्दावली का विकास किया, जो अभी तक केवल बृजभाषा में ही संभव मानी जाती थी। इसके लिए उन्होंने अपने समय के अनुकूल संस्कृत और बांग्ला के कोमल शब्दों को चुनकर हिन्दी का जामा पहनाया। संगीत की जानकार होने के कारण उनके गीतों का नाद-सौंदर्य और पैनी उक्तियों की व्यंजना शैली अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने अध्यापन से अपने कार्यजीवन की शुरूआत की और अंतिम समय तक वे प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रधानाचार्या बनी रहीं। उनका बाल-विवाह हुआ, परंतु उन्होंने अविवाहित की भांति जीवन-यापन किया। प्रतिभावान कवयित्री और गद्य लेखिका महादेवी वर्मा साहित्य और संगीत में निपुण होने के साथ-साथ कुशल चित्रकार और सृजनात्मक अनुवादक भी थीं। उन्हें हिन्दी साहित्य के सभी महत्त्वपूर्ण पुरस्कार प्राप्त करने का गौरव प्राप्त है। भारत के साहित्य आकाश में महादेवी वर्मा का नाम ध्रुव तारे की भांति प्रकाशमान है। गत शताब्दी की सर्वाधिक लोकप्रिय महिला साहित्यकार के रूप में वे जीवन भर पूजनीय बनी रहीं। वर्ष 2007 उनकी जन्म शताब्दी के रूप में मनाया गया। 27 अप्रैल 1982 को भारतीय साहित्य में अतुलनीय योगदान के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार से इन्हें सम्मानित किया गया था। गूगल ने इस दिवस की याद में वर्ष 2018 में गूगल डूडल के माध्यम से मनाया। महादेवी वर्मा पर आप महादेवी वर्मा जीवन परिचय लेख भी पढ़ सकते हो।

शिक्षा

महादेवी जी की शिक्षा इंदौर में मिशन स्कूल से प्रारम्भ हुई साथ ही संस्कृत, अंग्रेजी, संगीत तथा चित्रकला की शिक्षा अध्यापकों द्वारा घर पर ही दी जाती रही। बीच में विवाह जैसी बाधा पड़ जाने के कारण कुछ दिन शिक्षा स्थगित रही। विवाहोपरान्त महादेवी जी ने 1919 में क्रास्थवेट कॉलेज इलाहाबाद में प्रवेश लिया और कॉलेज के छात्रवास में रहने लगीं। 1921 में महादेवी जी ने आठवीं कक्षा में प्रान्त भर में प्रथम स्थान प्राप्त किया। यहीं पर उन्होंने अपने काव्य जीवन की शुरुआत की। वे सात वर्ष की अवस्था से ही कविता लिखने लगी थीं और 1925 तक जब उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की, वे एक सफल कवयित्री के रूप में प्रसिद्ध हो चुकी थीं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में

आपकी कविताओं का प्रकाशन होने लगा था। कालेज में सुभद्रा कुमारी चौहान के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता हो गई। सुभद्रा कुमारी चौहान महादेवी जी का हाथ पकड़ कर सखियों के बीच में ले जाती और कहतीं "सुनो, ये कविता भी लिखती हैं"। 1932 में जब उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम. ए. पास किया तब तक उनके दो कविता संग्रह नीहार तथा रश्मि प्रकाशित हो चुके थे।

कार्यक्षेत्र

महादेवी का कार्यक्षेत्र लेखन, संपादन और अध्यापन रहा। उन्होंने इलाहाबाद में प्रयाग महिला विद्यापीठ के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। यह कार्य अपने समय में महिला-शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी कदम था। इसकी वे प्रधानाचार्य एवं कुलपति भी रहीं। 1923 में उन्होंने महिलाओं की प्रमुख पत्रिका 'चाँद' का कार्यभार संभाला। 1930 में नीहार, 1932 में रश्मि, 1934 में नीरजा, तथा 1936 में सांध्यगीत नामक उनके चार कविता संग्रह प्रकाशित हुए। 1939 में इन चारों काव्य संग्रहों को उनकी कलाकृतियों के साथ वृहदाकार में यामा शीर्षक से प्रकाशित किया गया। उन्होंने गद्य, काव्य, शिक्षा और चित्रकला सभी क्षेत्रों में नए आयाम स्थापित किये। इसके अतिरिक्त उनकी 18 काव्य और गद्य कृतियां हैं, जिनमें मेरा परिवार, स्मृति की रेखाएँ, पथ के साथी, शृंखला की कड़ियाँ और अतीत के चलचित्र प्रमुख हैं। सन 1955 में महादेवी जी ने इलाहाबाद में साहित्यकार संसद की स्थापना की और पं इलाचंद्र जोशी के सहयोग से साहित्यकार का संपादन संभाला। यह इस संस्था का मुखपत्र था। उन्होंने भारत में महिला कवि सम्मेलनों की नीव रखी। इस प्रकार का पहला अखिल भारतवर्षीय कवि सम्मेलन 15 अप्रैल 1933 को सुभद्रा कुमारी चौहान की अध्यक्षता में प्रयाग महिला विद्यापीठ में संपन्न हुआ। वे हिंदी साहित्य में रहस्यवाद की प्रवर्तिका भी मानी जाती हैं। महादेवी बौद्ध धर्म से बहुत प्रभावित थीं। महात्मा गांधी के प्रभाव से उन्होंने जनसेवा का व्रत लेकर झूसी में कार्य किया और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में भी हिस्सा लिया। 1936 में नैनीताल से 25 किलोमीटर दूर रामगढ़ कसबे के उमागढ़ नामक गाँव में महादेवी वर्मा ने एक बँगला बनवाया था। जिसका नाम उन्होंने मीरा मंदिर रखा था। जितने दिन वे यहाँ रहीं इस छोटे से गाँव की शिक्षा और विकास के लिए काम करती रहीं। विशेष रूप से महिलाओं की शिक्षा और उनकी आर्थिक आत्मनिर्भरता के लिए उन्होंने

बहुत काम किया। आजकल इस बंगले को महादेवी साहित्य संग्रहालय के नाम से जाना जाता है। शृंखला की कड़ियाँ में स्त्रियों की मुक्ति और विकास के लिए उन्होंने जिस साहस व दृढ़ता से आवाज उठाई हैं और जिस प्रकार सामाजिक रूढ़ियों की निंदा की है उससे उन्हें महिला मुक्तिवादी भी कहा गया। महिलाओं व शिक्षा के विकास के कार्यों और जनसेवा के कारण उन्हें समाज-सुधारक भी कहा गया है। उनके संपूर्ण गद्य साहित्य में पीड़ा या वेदना के कहीं दर्शन नहीं होते बल्कि अदम्य रचनात्मक रोष समाज में बदलाव की अदम्य आकांक्षा और विकास के प्रति सहज लगाव परिलक्षित होता है।

महादेवी वर्मा का योगदान

साहित्य में महादेवी वर्मा का आविर्भाव उस समय हुआ जब खड़ी बोली का आकार परिष्कृत हो रहा था। उन्होंने हिन्दी कविता को बृजभाषा की कोमलता दी, छंदों के नये दौर को गीतों का भंडार दिया और भारतीय दर्शन को वेदना की हार्दिक स्वीकृति दी। इस प्रकार उन्होंने भाषा साहित्य और दर्शन तीनों क्षेत्रों में ऐसा महत्त्वपूर्ण काम किया जिसने आनेवाली एक पूरी पीढ़ी को प्रभावित किया। शचीरानी गुर्टू ने भी उनकी कविता को सुसज्जित भाषा का अनुपम उदाहरण माना है। उन्होंने अपने गीतों की रचना शैली और भाषा में अनोखी लय और सरलता भरी है, साथ ही प्रतीकों और बिंबों का ऐसा सुंदर और स्वाभाविक प्रयोग किया है, जो पाठक के मन में चित्र सा खींच देता है। छायावादी काव्य की समृद्धि में उनका योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। छायावादी काव्य को जहाँ प्रसाद ने प्रकृतितत्त्व दिया, निराला ने उसमें मुक्तछंद की अवतारणा की और पंत ने उसे सुकोमल कला प्रदान की वहाँ छायावाद के कलेवर में प्राण-प्रतिष्ठा करने का गौरव महादेवी जी को ही प्राप्त है। भावात्मकता एवं अनुभूति की गहनता उनके काव्य की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता है। हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव-हिलोरों का ऐसा सजीव और मूर्त अभिव्यंजन ही छायावादी कवियों में उन्हें 'महादेवी' बनाता है। वे हिन्दी बोलने वालों में अपने भाषणों के लिए सम्मान के साथ याद की जाती हैं। उनके भाषण जन सामान्य के प्रति संवेदना और सच्चाई के प्रति दृढ़ता से परिपूर्ण होते थे। वे दिल्ली में 1983 में आयोजित तीसरे विश्व हिन्दी सम्मेलन के समापन समारोह की मुख्य अतिथि थीं। इस अवसर पर दिये गये उनके भाषण में उनके इस गुण को देखा जा सकता है।

यद्यपि महादेवी ने कोई उपन्यास, कहानी या नाटक नहीं लिखा तो भी उनके लेख, निबंध, रेखाचित्र, संस्मरण, भूमिकाओं और ललित निबंधों में जो गद्य लिखा है वह श्रेष्ठतम गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। उसमें जीवन का संपूर्ण वैविध्य समाया है। बिना कल्पना और काव्यरूपों का सहारा लिए कोई रचनाकार गद्य में कितना कुछ अर्जित कर सकता है, यह महादेवी को पढ़कर ही जाना जा सकता है। उनके गद्य में वैचारिक परिपक्वता इतनी है कि वह आज भी प्रासंगिक है। समाज सुधार और नारी स्वतंत्रता से संबंधित उनके विचारों में दृढ़ता और विकास का अनुपम सामंजस्य मिलता है। सामाजिक जीवन की गहरी परतों को छूने वाली इतनी तीव्र दृष्टि, नारी जीवन के वैषम्य और शोषण को तीखेपन से आंकने वाली इतनी जागरूक प्रतिभा और निम्न वर्ग के निरीह, साधनहीन प्राणियों के अनूठे चित्र उन्होंने ही पहली बार हिंदी साहित्य को दिये।

मौलिक रचनाकार के अलावा उनका एक रूप सृजनात्मक अनुवादक का भी है, जिसके दर्शन उनकी अनुवाद-कृत 'सप्तपर्णा' (1960) में होते हैं। अपनी सांस्कृतिक चेतना के सहारे उन्होंने वेद, रामायण, थेरगाथा तथा अश्वघोष, कालिदास, भवभूति एवं जयदेव की कृतियों से तादात्म्य स्थापित करके 39 चयनित महत्त्वपूर्ण अंशों का हिन्दी काव्यानुवाद इस कृति में प्रस्तुत किया है। आरंभ में 61 पृष्ठीय 'अपनी बात' में उन्होंने भारतीय मनीषा और साहित्य की इस अमूल्य धरोहर के सम्बंध में गहन शोधपूर्ण विमर्ष किया है, जो केवल स्त्री-लेखन को ही नहीं हिंदी के समग्र चिंतनपरक और ललित लेखन को समृद्ध करता है।

6

संस्मरण

संस्मरण साहित्य की एक विधा है। स्मृति के आधार पर किसी विषय पर अथवा किसी व्यक्ति पर लिखित आलेख 'संस्मरण' कहलाता है। संस्मरण को साहित्यिक निबन्ध की एक प्रवृत्ति भी माना जा सकता है। ऐसी रचनाओं को संस्मरणात्मक निबंध कहा जा सकता है। जीवन में कुछ घटनाएँ ऐसी घट जाती हैं, जिनके साथ हम जुड से जाते हैं। उन्हें याद करना तथा ऐसे संस्मरण सुनना-सुनाना अपने आप में आंनद का स्रोत है। आत्मकथाएँ संस्मरणों का विस्तृत रूपाकार ही हैं। आत्मकथाओं के जरिये हमें इस संसार के महान्, सफलतम लोगों के जीवन के सकारात्मक-नकारात्मक खास-आम घटनाक्रम के भीतर झांकने का अवसर मिलता है। यात्रा साहित्य भी इसके अन्तर्गत आता है।

संस्मरण और आत्मचरित

व्यापक रूप से संस्मरण आत्मचरित के अन्तर्गत लिया जा सकता है, किन्तु संस्मरण और आत्मचरित के दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर है। आत्मचरित के लेखक का मुख्य उद्देश्य अपनी जीवनकथा का वर्णन करना होता है। इसमें कथा का प्रमुख पात्र स्वयं लेखक होता है। संस्मरण लेखक का दृष्टिकोण भिन्न रहता है। संस्मरण में लेखक जो कुछ स्वयं देखता है और स्वयं अनुभव करता है उसी का चित्रण करता है। लेखक की स्वयं की अनुभूतियाँ तथा संवेदनाएँ संस्मरण

में अन्तर्निहित रहती हैं। इस दृष्टि से संस्मरण का लेखक निबन्धकार के अधिक निकट है। वह अपने चारों ओर के जीवन का वर्णन करता है। इतिहासकार के समान वह केवल यथातथ्य विवरण प्रस्तुत नहीं करता है। पाश्चात्य साहित्य में साहित्यकारों के अतिरिक्त अनेक राजनेताओं तथा सेनानायकों ने भी अपने संस्मरण लिखे हैं, जिनके साहित्यिक महत्त्व को स्वीकारा गया है।

हिन्दी संस्मरण का इतिहास

संस्मरण और रेखाचित्र में बहुत सूक्ष्म अंतर है। कुछ विद्वानों ने तो इन दोनों विधाओं को एक-दूसरे की पूरक विधा भी कहा है। संस्मरण का सामान्य अर्थ होता है सम्यक् स्मरण। सामान्यत: इसमें चारित्रिक गुणों से युक्त किसी महान् व्यक्ति को याद करते हुए उसके परिवेश के साथ उसका प्रभावशाली वर्णन किया जाता है। इसमें लेखक स्वानुभूत विषय का यथावत अंकन न करके उसका पुर्नसृजन करता है। रेखाचित्र की तरह यह वर्ण्य विषय के प्रति तटस्थ नहीं होता। आत्मकथात्मक विधा होते हुए भी संस्मरण आत्मकथा से पर्याप्त भिन्नता रखता है।

आरंभिक युग

बालमुकुंद गुप्त द्वारा सन् 1907 में प्रतापनारायण मिश्र पर लिखे संस्मरण को हिंदी का प्रथम संस्मरण माना जाता है। बाद में इस काल की एकमात्र संस्मरण पुस्तक 'हरिऔध' पर केंद्रित गुप्त जी द्वारा लिखित 'हरिऔध' के संस्मरण' के नाम से प्रकाशित हुई। इसमें हरिऔध को वर्ण्य विषय बनाकर पंद्रह संस्मरणों की रचना की गई है।

द्विवेदी युग

हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं ने गद्य विधाओं के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। 'सरस्वती' में स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कई संस्मरण लिखे। उन्होंने अपने साथी लेखकों को नई गद्य विधाओं के लिए प्रेरित भी किया। इस समय के प्रमुख संस्मरण लेखकों में द्विवेदी जी के अतिरिक्त रामकुमार खेमका, काशीप्रसाद जायसवाल और श्यामसुंदर दास हैं। श्यामसुंदर दास ने लाला भगवानदीन पर रोचक संस्मरण लिखे। अपने समकालीन साहित्यकारों पर उस समय से आरंभ हुई परंपरा आज तक लगातार चल रही है।

छायावादोत्तर युग

रेखाचित्र की तरह ही संस्मरण को गद्य की विशिष्ट विधा के रूप में स्थापित करने की दिशा में भी पद्म सिंह शर्मा (1876-1932) का महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है। इनके संस्मरण 'प्रबंध मंजरी' और 'पद्म पराग' में संकलित हैं। महाकवि अकबर, सत्यनारायण कविरत्न और भीमसेन शर्मा आदि पर लिखे हुए इनके संस्मरणों ने इस विधा को स्थिरता प्रदान करने में मदद की। विनोद की एक हल्की रेखा इनकी पूरी रचनाओं के भीतर देखी जा सकती है।

महादेवी वर्मा ने अपने संस्मरणों में अपने जीवन में आए अनमोल पलों को अपने 'पथ के साथी' में संकलित किया है। अपने समकालीन साहित्यकारों पर इन रेखाचित्रों में अब तक किसी भी लेखक द्वारा लिखी गई सर्वश्रेष्ठ टिप्पणी कहें तो इसमें कोई अतिशयोक्ति की बात न होगी।

निराला के 'बिल्लेसुर बकरिहा' और 'कुल्लीभाट' में संस्मरण और रेखाचित्र का अनुपम संयोग हुआ है। इन्हें किसी एक विधा के अन्तर्गत रखना संभव नहीं है, लेकिन अपनी सजीवता और व्यंग्य के कारण इन्हें अप्रतिम कहा जा सकता है।

प्रकाशचंद गुप्त ने 'पुरानी स्मृतियाँ' नामक संग्रह में अपने संस्मरणों को लिपिबद्ध किया। इलाचंद्र जोशी कृत 'मेरे प्राथमिक जीवन की स्मृतियाँ' और वृंदावनलाल वर्मा कृत 'कुछ संस्मरण' इस काल की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

स्वातंत्रयोत्तर युग

सन् 1950 के आस-पास का समय संस्मरण लेखन की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है। इस समय अनेक लेखक संस्मरणों की रचना कर रहे थे। बनारसीदास चतुर्वेदी को संस्मरण लेखन के क्षेत्र में विशेष सफलता मिली। पेशे से साहित्यिक पत्रकार होने के कारण इनके संस्मरणों के विषय बहुत व्यापक हैं। अपनी कृति 'संस्मरण' में संकलित रचनाओं की शैली पर इनके मानवीय पक्ष की प्रबलता को साफ देखा जा सकता है। इनके संस्मरण रोचकता के लिए विशेष प्रसिद्ध हुए। शैली वर्णनात्मक है और भाषा अत्यंत सरल है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने अपनी कृतियों 'भूले हुए चेहरे' तथा 'दीप जले शंख बजे' के कारण इस समय के एक अन्य महत्त्वपूर्ण संस्मरण लेखक हैं। लगभग इसी समय उपेंद्रनाथ अश्क का 'मंटो मेरा दुश्मन' प्रकाशित हुआ जिसका साहित्यिक और

गैर-साहित्यिक दोनों स्थानों पर भरपूर स्वागत हुआ। जगदीशचंद्र माथुर ने 'दस तस्वीरें' और 'जिन्होंने जीना जाना' के माध्यम से अपने समय की महत्त्वपूर्ण संस्मरणात्मक चित्र प्रस्तुत किए।

संस्मरण और रेखाचित्रों में कोई भी तात्विक भेद नहीं मानने वाले आलोचक डा. नगेन्द्र ने 'चेतना के बिंब' नाम की कृति के माध्यम से इस विधा को समृद्ध किया। प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर, अज्ञेय और कमलेश्वर इस समय के अन्य प्रमुख संस्मरण लेखक रहे हैं।

समकालीन युग

समकालीन लेखन में आत्मकथात्मक विधाओं की भरमार है। संस्मरण आज बहुतायत में लिखे जा रहे हैं। अपने अतीत को बयान करने की ललक हर आदमी के भीतर होती है और उसकी अभिव्यक्ति करना अन्य विधाओं की तुलना में काफी आसान होता है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा नामवर सिंह पर लिखित संस्मरण 'हक अदा न हुआ' ने इस विधा को नई ताजगी से भर दिया है और इससे प्रभावित होकर कई नए और पुराने लेखक इस ओर मुड़े हैं। इनकी सद्य प्रकाशित पुस्तक 'नंगातलाई का गाँव' (2004) को उन्होंने स्मृति आख्यान कहा है। वर्तमान समय के संस्मरण लेखकों में काशीनाथ सिंह, कांतिकुमार जैन, राजेंद्र यादव, रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया अखिलेश का नाम काफी प्रमुखता से ले सकते हैं।

संस्मरण के तत्त्व

अतीत की स्मृति

संस्मरण केवल अतीत की घटनाओं पर आधारित होता है। जब किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना आदि के साथ जुड़ी हुई यादों पर से समय का आवरण हट जाता है और अतीत की घटनाएँ चलचित्र की भांति साकार होकर कलम बद्ध हो जाती है, तो संस्मरण की सृष्टि होती है।

आत्मीय एवं श्रद्धापूर्ण अन्तरंग संबंध

जब तक लेखक आत्मीयता से किसी स्मृति को अंकित नहीं करेगा तब तक संस्मरण प्रभावशाली नहीं हो सकता। इसके साथ ही आवश्यक है कि

किसी श्रद्धेय पुरुष या चरित्र के प्रति श्रद्धा भाव, जो मानव-मात्र को प्रेरणा दे सके।

प्रामाणिकता

इस विधा में कल्पना के लिए कोई खास जगह नहीं होती। उन्हीं घटनाओं का वर्णन होता है, जो जीवन में घट चुकी हैं और प्रामाणिक हैं।

वैयक्तिकता

संस्मरण की महत्त्वपूर्ण विशेषता वैयक्तिकता मानी जाती है। इसका सहारा लिए बिना संस्मरण नहीं लिखा जा सकता। संस्मरण में लेखक के अपने जीवन में किसी न भुला सकने वाली घटना का वर्णन होता है।

जीवन के खंड विशेष का चित्रण

जीवनी में सम्पूर्ण जीवन का चित्रण न करके कुछ घटनाओं का विवेचन होता है। लेखक अपने जीवन की किसी घटना विशेष या संपर्क में आए हुए व्यक्ति विशेष के चरित्र के महत्त्वपूर्ण पक्ष की झांकी पेश कर जीवन के खंडरूप या किसी एक पक्ष का ही चित्रण करता है।

श्रेष्ठ कृतियाँ

हिन्दी के प्रारंभिक संस्मरण लेखकों में बनारसीदास चतुर्वेदी, महादेवी वर्मा तथा रामवृक्ष बेनीपुरी आदि हैं। चतुर्वेदी ने 'संस्मरण' तथा 'हमारे अपराध' शीर्षक कृतियों में अपने विविध संस्मरण आकर्षक शैली में लिखे हैं। हिन्दी के अनेक अन्य लेखकों तथा लेखिकाओं ने भी बहुत अच्छे संस्मरण लिखे हैं। उनमें से कुछ साहित्यकारों का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। श्रीमती महादेवी वर्मा की 'स्मृति की रेखाएँ' तथा 'अतीत के चलचित्र' संस्मरण साहित्य की श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। रामबृक्ष बेनीपुरी की कृति 'माटी की मूरतें' में जीवन में अनायास मिलने वाले सामान्य व्यक्तियों का सजीव एवं संवेदनात्मक कोमल चित्रण किया गया है। इनके अतिरिक्त कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने 'भूले हुए चेहरे' तथा 'दीपजले शंख बजे' में अपने कतिपय अच्छे और आकर्षक संस्मरण संकलित किये। गुलाबराय की कृति 'मेरी असफलताएँ' को संस्मरणात्मक निबन्ध की कोटि में रखा जा सकता है।

7

रेखाचित्र

रेखाचित्र या 'आरेखण' (ड्राइंग) एक दृश्य कला है, जो द्वि-आयामी साधन को चिह्नित करने के लिए किसी भी तरह के रेखाचित्र उपकरणों का उपयोग करता है। आम उपकरणों में शामिल है ग्रेफाइट पेंसिल, कलम और स्याही, स्याहीदार ब्रश, मोम की रंगीन पेंसिल, क्रेयोन, चारकोल, खड़िया, पैस्टल, मार्कर, स्टाइलस, या विभिन्न धातु सिल्वरपॉइंट। एक रेखाचित्र पर काम करने वाले कलाकार को नक्शानवीस या प्रारूपकार के रूप में उद्धृत किया जा सकता है।

सामग्री की अल्प मात्र एक द्वि-आयामी साधन पर डाली जाती है, जो एक गोचर निशान छोड़ती है - यह प्रक्रिया चित्रकारी के समान ही है। रेखाचित्र के लिए सबसे आम सहायक है कागज, हालांकि अन्य सामग्री, जैसे गत्ता, प्लास्टिक, चमड़ा, कैनवास और बोर्ड का भी इस्तेमाल किया जा सकता है। अस्थायी रेखाचित्रों को ब्लैकबोर्ड पर या व्हाईटबोर्ड पर या निःसंदेह लगभग हर चीज पर बनाया जा सकता है। यह माध्यम, स्थायी मार्कर की सुलभता के कारण भित्ति चित्रण के माध्यम से सार्वजनिक अभिव्यक्ति का एक लोकप्रिय साधन भी बन गया है।

पं. पद्म सिंह शर्मा और श्रीराम शर्मा हिंदी के प्रारंभिक रेखाचित्रकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। पं. पद्म शर्मा द्वारा महाकवि अकबर पर लिखा गया रेखाचित्र पहली बार हिंदी पाठकों का ध्यान इस प्रकार की रचना की ओर खींचने में

सफल रहा। यद्यपि रेखाचित्र को एक विधा के रूप में बाद में स्वीकार किया गया, किन्तु इस रचना में रेखाचित्र के विविध गुण विद्यमान थे। इस रचना को प्रारंभ बिंदु के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। 1936 तक अनेक रेखाचित्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहे किन्तु रेखाचित्र से संबंधित कोई संग्रह सामने नहीं आया। 1937 में श्रीराम शर्मा का एक संग्रह 'बोलती प्रतिमा' प्रकाशित हुआ। इसमें संग्रहीत रचनाओं में रेखाचित्र के कतिपय लक्षण पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़े। यद्यपि इसमें संकलित अधिकांश रचनाएँ रेखाचित्र के बजाय कहानियां हैं, फिर भी इनमें से कुछ रचनाओं को रेखाचित्र के काफी निकट माना जा सकता है। 'बोलती प्रतिमा', 'ठाकुर की आन', 'वरदान', 'हरनामदास', 'पीताम्बर', 'अपराधी','रतना की अम्मा', 'इदन्नमम्' आदि इस संग्रह की रचनाओं के आधार पर इस संग्रह को एक सफल रेखाचित्र के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि आगे चलकर रेखाचित्र के शिल्प और स्वरुप में काफी विकास हुआ फिर भी श्री राम शर्मा को ही हिंदी रेखाचित्र के प्रथम लेखक के रूप में स्वीकार करना सही होगा। आगे चलकर 'बोलती प्रतिमा' के चार रेखाचित्रों में सोलह नए रेखाचित्र जोड़कर 'वे जीते कैसे हैं' नाम से एक और संग्रह भी प्रकाशित हुआ।

हिंदी रेखाचित्र के प्रारंभिक काल अथवा प्रादुर्भाव काल के प्रमुख रचनाकारों में श्री राम शर्मा के अतिरिक्त वेंकटेश नारायण तिवारी, वृन्दावनलाल वर्मा, महादेवी वर्मा, सियारामशरण गुप्त, हरिशंकर शर्मा, अन्नपूर्णानंद, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, खानचंद गौतम (लोकमणि), अख्तर हुसैन रायपुरी, मोहनलाल महतो 'वियोगी', रामनाथ सुमन आदि शामिल हैं। सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' के 'कुल्ली भाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' को उपन्यास और रेखाचित्र दोंनों के अंतर्गत मान्यता दी गई है। रेखाचित्र की दो प्रमुख विशेषताओं विषय के प्रति एकाग्रता तथा संक्षिप्तता का अपेक्षित मात्रा में इन रचनाओं में न होना इसके रेखाचित्र होने या मानने की सीमाओं का संकेत करता है। इसलिए इसे कई आलोचक लघु आँचलिक उपन्यास तो कई लघु उपन्यास रेखाचित्र मानते हैं।

राजनाथ शर्मा के अनुसार

"इन रेखाचित्रों की एक विशेषता यह है कि इनके पात्र हमारे सामने अपने चरित्र की सम्पूर्ण सबलताओं और दुर्बलताओं को समेटे हुए अपने पूर्ण स्वाभाविक रूप में उपस्थित होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने इन सारे पात्रों को नजदीक से, उनके साथ पूर्णतः घुल-मिल कर देखा है। इसीलिए वह उनके

चरित्र का अंकन करते समय उनके साथ पूर्ण न्याय करने में समर्थ हो सके हैं। ग्रामीण पात्रों के चरित्र तो बहुत ही यथार्थ और प्रभावशाली बन पड़े हैं।"

महादेवी वर्मा और बेनीपुरी के रेखाचित्रों की विशेषताओं के सन्दर्भ में भी राजनाथ शर्मा जी ने महत्त्वपूर्ण बात कही है। उनके मुताबिक–

"महादेवी वर्मा के रेखाचित्रों की मूल प्रेरक-धारा करुणा ही रही है। और उनकी यह करुणा भावना वैसी ही रही है जैसी करुणा बड़े लोग छोटे लोगों के प्रति दिखाया करते हैं। महादेवी वर्मा सामाजिक विकृतियों के खंड-चित्र अंकित करने में ही व्यस्त रही हैं। इसके विपरीत बेनीपुरी जी के रेखाचित्रों में हमें विषय-क्षेत्र और भावना के अनेक-अनेक प्रकार के भिन्न रूप मिलते हैं। उनमें राष्ट्रीयता, देशप्रेम, क्रांति, स्नेह, संवेदन एवं करुणा की धाराएँ कहीं एक साथ और कहीं अलग-अलग प्रवाहित होती हुई दिखाई पड़ती है, जो अपनी गहरी रेखाओं द्वारा हमारे मानस-पटल पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ जाती हैं। बेनीपुरी जी के अधिकांश रेखाचित्र प्रतीकात्मक हैं।"

प्रकाशचंद्र गुप्त के रेखाचित्र भी इस कड़ी में महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। उनके संग्रह 'पुरानी स्मृतियाँ और नए स्केच' संग्रह में इनके कई रेखाचित्र मिलते हैं। इधर इनके और रेखाचित्रों को भी एक ही पुस्तक में शामिल संकलित कर दिया गया है और उसका नाम भी प्रथम रेखाचित्रों के संग्रह के समान ही 'रेखाचित्र' ही रखा गया। उनके रेखाचित्रों में हिंदी में सर्वप्रथम मानव के अतिरिक्त सड़क, नगर, मुहल्ला, वृक्ष, खँडहर, ताल, लैटर बक्स, पेट्रोल पंप आदि को विषय बनाया गया है। जिन वस्तुओं, स्थानों या दृश्यों ने लेखक को प्रभावित किया है, अपने ऊपर पड़े उन प्रभावों को उसने बड़े कलात्मक ढंग से पूर्ण आत्मीयता के साथ चित्रित कर दिया है। लेखक के इस नवीन प्रयास को रेखाचित्र के क्षेत्र में एक सर्वथा मौलिक एवं स्तुत्य प्रयास माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त उनकी कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं, जिन्हें रेखाचित्र निबंध माना जा सकता है। वस्तुतः ये रिपोर्ताज के अधिक निकट हैं, जैसे-'बंगाल का काल', 'सीमान्त पूर्व', 'अमलतास' आदि। कुल मिलाकर इन संपूर्ण रेखाचित्रों में लेखक की राजनीतिक चेतना, समाजवादी दृष्टिकोण, स्नेह, सहानुभूति, करुणा आदि का प्राधान्य रहा है, परन्तु इनमें स्वानुभूति की वह गहराई नहीं मिलती जो महादेवी वर्मा एवं बेनीपुरी की विशेषता है।

इसी प्रकार बनारसीदास चतुर्वेदी के रेखाचित्रों की चर्चा करना भी जरुरी है। वैसे तो चतुर्वेदी जी मुख्यतः संस्मरणकार के रूप में ही अधिक प्रसिद्ध हैं,

किन्तु उन्होंने कुछ रेखाचित्र भी लिखे हैं। उनके लिखे संस्मरण और रेखाचित्र 'रेखाचित्र' संग्रह में एक साथ प्रकाशित हुए हैं। इसमें कुछ महत्त्वपूर्ण संस्मरणों के साथ ही समाज के निम्न-दलित वर्ग के कुछ विशिष्ट सदस्यों के रेखाचित्र शामिल हैं। इसी प्रकार भावात्मक शैली के रेखाचित्रकार देवेन्द्र सत्यार्थी का नाम भी उल्लेखनीय है। उनके रेखाचित्र 'रेखाएं बोल उठीं' संग्रह में संग्रहीत हैं। इस संग्रह के रेखाचित्रों में भावात्मकता का आधिक्य है। कई बार लेखक का हृदय इतना भाव-शंकुल हो उठा है कि भावों के क्रम का निर्वाह नहीं हो पाया है।

इन रेखाचित्रकारों के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य अनेक लेखकों ने रेखाचित्रों की रचनाएँ की हैं। इनमें कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', डॉ. विनयमोहन शर्मा, विष्णु प्रभाकर, डॉ. नगेन्द्र, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, विद्यानिवास मिश्र, गुलाब राय, शांतिप्रिय द्विवेदी, प्रेमनारायण टंडन सत्यवती मल्लिक, रघुवीर सहाय, अविनाश, विद्या माथुर, डॉ. मक्खनलाल शर्मा आदि अनेक लेखकों के नाम शामिल हैं। कुल मिलाकर इतने सारे लेखकों की रचनाओं के बावजूद हिन्दी के रेखाचित्र साहित्य को अत्यधिक समृद्ध नहीं कहा जा सकता है, अन्य विधाओं की तुलना में यह अब भी काफी पीछे है। फिर भी इस विधा के अंतर्गत महादेवी, बेनीपुरी आदि अन्य दूसरे रेखाचित्रकारों की कुछ ऐसी प्रभावी और महत्त्वपूर्ण रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिन्हें हम गर्व के साथ अन्य भाषा-भाषियों के सम्मुख प्रस्तुत कर सकते हैं।

आरंभिक युग

रेखाचित्र को स्वतंत्र विधा के रूप में स्थापित करने का श्रेय पद्म सिंह शर्मा कृत 'पद्म पराग' को दिया जा सकता है। 'पद्म पराग' में संस्मरणात्मक निबंधों और रेखाचित्रों का संकलन है। इन रेखाचित्रों में समकालीन महत्त्वपूर्ण लोगों को विषय बनाया गया है। पद्म सिंह शर्मा से प्रभावित होकर श्रीराम शर्मा, हरिशंकर शर्मा और बनारसीदास चतुर्वेदी आदि ने रेखाचित्र लिखने आरंभ किए। श्रीराम शर्मा के रेखाचित्रों का प्रथम संग्रह 'बोलती प्रतिमा' शीर्षक से सन् 1937 में प्रकाशित हुआ। इसकी विशेषता यह है कि इसमें समाज के निम्नवर्ग के पात्रों का सजीव चित्रण हुआ है।

बनारसीदास चतुर्वेदी के रेखाचित्रों की शैली सरस और व्यंग्यपूर्ण है। रेखाचित्र के स्वरूप के बारे में इन्होंने सैद्धांतिक विवेचन भी किया है। इनका कथन है कि, ''जिस प्रकार एक अच्छा चित्र खींचने के लिए कैमरे का लैंस बढ़िया होना चाहिए और फिल्म भी काफी कोमल या सैंसिटिव, उसी प्रकार

साफ चित्रण के लिए रेखाचित्रकार में विश्लेषणात्मक बुद्ध तथा भावुकतापूर्ण हृदय दोनों का सामंजस्य होना चाहिए; पर-दु:खकातरता, संवेदनशीलता, विवेक और संतुलन इन सब गुणों की आवश्यकता है।" नि:संदेह बनारसीदास चतुर्वेदी के लेखन में उपर्युक्त सभी विशेषताएँ हम देख सकते हैं। राष्ट्रीयता की भावना के साथ-साथ वसुधैव कुटुम्बकम की भावना को इनके रेखाचित्रों में देखा जा सकता है। इनके रेखाचित्र 'हमारे साथी' और 'प्रकृति के प्रागंण' नामक ग्रंथों में संकलित हैं।

उत्कर्ष युग

रामवृक्ष बेनीपुरी निर्विवाद रूप से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ रेखाचित्रकार माने जाते हैं। इनके रेखाचित्रों में हम सरल भाषा शैली में सिद्धहस्त कलाकारी को देख सकते हैं। परिमाण की दृष्टि से इन्होंने अनेक रेखाचित्रों की रचना की है। 'माटी की मूरतें' (सन् 1946) संग्रह से इन्हें विशेष ख्याति मिली। इस संग्रह में इन्होंने समाज के उपेक्षित पात्रों को गढ़कर नायक का दर्जा दे दिया। उदाहरणस्वरूप 'रजिया' नामक रेखाचित्र के माध्यम से निम्नवर्ग की एक बालिका को जीवंत कर दिया गया है। इस संग्रह के अन्य रेखाचित्रों में बलदेव सिंह, मंगर, बालगोबिन भगत, बुधिया, सरजू भैया प्रमुख हैं। इन रेखाचित्रों की श्रेष्ठता का अनुमान मैथिलीशरण गुप्त के इस कथन से लगाया जा सकता है, ''लोग माटी की मूरतें बनाकर सोने के भाव बेचते हैं पर बेनीपुरी सोने की मूरतें बनाकर माटी के मोल बेच रहे हैं।" सन् 1950 में रामवृक्ष बेनीपुरी का दूसरा रेखाचित्रसंग्रह 'गेहूँ और गुलाब' प्रकाशित हुआ। इसमें इनके 25 रेखाचित्र संकलित हैं। कलेवर की दृष्टि से लेखक ने इन्हें अपने पुराने रेखाचित्रों की अपेक्षा छोटा रखा है। रामवृक्ष बेनीपुरी के रेखाचित्रों की भाषा भावना प्रधान है। कुछ आलोचक तो उनकी भाषा को गद्य काव्य की संज्ञा भी दे चुके हैं। बेनीपुरी के रेखाचित्रों के बारे में संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इन्हें जीवन में जो भी पात्र मिले इन्होंने अपनी कुशल लेखनी से उन्हें जीवंत कर दिया। विषय की विविधता और शैली की सरसता का इनके यहाँ अपूर्व संयोजन मिलता है।

महादेवी वर्मा के रेखाचित्रों ने विधा के रूप में संस्मरण और रेखाचित्र की सीमाओं का उल्लंघन किया। उनके लेखन को संस्मरणात्मक रेखाचित्रों की श्रेणी में रखा जा सकता है। 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ', 'पथ के साथी' और 'शृंखला की कड़ियाँ' इनके संग्रह हैं। 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' में

समाज के षोषित वर्ग और नारी के प्रति इनकी सहानुभूति प्रकट हुई है। 'पथ के साथी' में इन्होंने अपने साथी साहित्यकारों के चित्रों को लिपिबद्ध किया है।

कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर को शैली की दृष्टि से रामवृक्ष बेनीपुरी के समान ही सम्मान प्राप्त है। इनके बहुविध विषयों में जीवन की प्रेरणा देने वाले रेखाचित्रों की भरमार है। 'भूले हुए चेहरे', 'बाजे पायलिया के घुंघरू', 'जिन्दगी मुस्काई', 'दीप जले शंख बजे', 'क्षण बोले कण मुस्काए', 'महके आँगन चहके द्वार' और 'माटी हो गई सोना' इनके रेखाचित्रों के संग्रह हैं।

प्रकाशचंद्र गुप्त ने इस विधा को स्थापित करने के लिए 'रेखाचित्र' नाम से ही संकलन प्रकाशित कराया। इनके रेखाचित्रों की विशेषता यह है कि इन्होंने अपने विषयों को मनुष्य की परिधि से बाहर ले जाते हुए पेड़-पौधों तथा पशु-पक्षियों तक को अपने रेखाचित्रों में स्थान दिया है।

विष्णु प्रभाकर के रेखाचित्र 'जाने-अनजाने', 'कुछ शब्द कुछ रेखाएँ' और 'हँसते निर्झर दहकती भट्टी' में संकलित हैं। इनके रेखाचित्रों में विशाल कैनवस पर सामाजिक सजगता के साथ मानवीय चित्र उकेरे गए हैं। इनके अन्य समकालीन रेखाचित्रकारों में देवेंद्र सत्यार्थी, डॉ. नगेन्द्र, विनयमोहन शर्मा, जगदीशचंद्र माथुर आदि का नाम लिया जा सकता है। समकालीन हिंदी साहित्य में रचनाकारों ने विधा के बंधनों को थोड़ा शिथिल किया है। आज हम परंपरागत मानदंडों पर कसकर कई विधाओं को नहीं देख सकते। रेखाचित्र विधा का भी रूप बदला है। उसको हम कहीं कहानी के भीतर तो कहीं संस्मरण अथवा आत्मकथा के भीतर अर्न्तभुक्त पाते हैं और कहीं स्वतंत्र विधा के रूप में भी देख सकते हैं। हिंदी रेखाचित्र ने अपनी सीमाओं का लगातार अतिक्रमण किया है। यह इस विधा के भविष्य के लिए शुभ संकेत है।

सामग्रियाँ

विभिन्न आकारों के और गुणवत्ता वाले कागज पाए जाते हैं, जो समाचार पत्र के स्तर से लेकर उच्च गुणवत्ता तक और अपेक्षाकृत महंगे कागज जिसे एकल शीट के रूप में बेचा जाता है। कागज, गीले होने की स्थिति में बनावट, रंग, अम्लता और शक्ति के मामले में भिन्न हो सकते हैं। चिकना कागज सूक्ष्म विवरणों के प्रतिपादन के लिए अच्छा है, लेकिन एक अधिक 'खुरदरा' कागज रेखाचित्र की सामग्री को बेहतर तरीके से ग्रहण करेगा. इस प्रकार एक दानेदार सामग्री एक गहरे वैषम्य को उत्पन्न करने के लिए उपयोगी है।

अखबारी कागज और टाइपिंग कागज, अभ्यास और कच्चे स्केच के लिए उपयोगी हो सकते हैं। अनुरेखण कागज का उपयोग अर्ध-पूर्ण रेखाचित्र पर प्रयोग करने के लिए और एक शीट से दूसरी शीट पर डिजाइन अंतरण के लिए किया जाता है। कार्ट्रिज कागज, रेखाचित्र कागज का बुनियादी प्रकार है, जिसे पैड में बेचा जाता है। ब्रिस्टल बोर्ड और यहां तक कि अक्सर चिकनी बनावट वाले भारी एसिड-मुक्त बोर्डों का इस्तेमाल सूक्ष्म विवरण बनाने के लिए किया जाता है और जब उन पर गीले माध्यम (स्याही, जलरंग) का प्रयोग किया जाता है तो वे विकृत नहीं होते। चर्मपत्र बेहद चिकने होते हैं और ये अत्यंत सूक्ष्म विवरणों के लिए उपयुक्त है। कोल्डप्रेस्ड जलरंग कागज को इसकी बनावट की वजह से स्याही रेखाचित्र के लिए चुना जा सकता है।

लेआउट

चित्रकारी में अवरुद्ध करते हुए एक विषय के आयाम को मापना, विषय के एक यथार्थवादी प्रस्तुतीकरण के लिए महत्त्वपूर्ण कदम है। कम्पास जैसे उपकरण का प्रयोग विभिन्न पक्षों के कोण को मापने के लिए किया जा सकता है। इन कोणों को रेखाचित्र सतह पर पुनः प्रस्तुत किया जा सकता है और फिर यह सुनिश्चित करने के लिए फिर से जांचा जा सकता है कि वे सटीक हैं। मापन का एक अन्य रूप है विषय के विभिन्न हिस्सों के सापेक्ष आकार की एक दूसरे की तुलना में तुलना करना। रेखाचित्र उपकरण के पास एक बिंदु पर उंगली रख कर छवि के उस आयाम की तुलना अन्य भागों के साथ की जा सकती है। एक रेखनी का इस्तेमाल एक सीधी-किनारी और अनुपात की गणना करने की एक युक्ति, दोनों के रूप में किया जा सकता है।

एक जटिल आकार के निर्माण के समय जैसे एक मानव आकृति, यह सुविधाजनक होता है कि शुरुआत में स्वरूप को आरंभिक आकारों के एक सेट से दर्शाया जाए। लगभग किसी भी रूप को घन, क्षेत्र, बेलन और शंकु के कुछ संयोजन के द्वारा दर्शाया जा सकता है। एक बार ये बुनियादी आकार जब एक स्वरूप में इकट्ठे कर दिए जाते हैं, तो आरेखण को एक अधिक सटीक और साफ रूप में परिष्कृत किया जा सकता है। आरंभिक आकृतियों की रेखाओं को अंतिम आकार द्वारा हटा और प्रतिस्थापित कर दिया जाता है। अंतर्निहित निर्माण का आरेखण, प्रतिनिधित्ववादी कला के लिए एक बुनियादी कौशल है और यह कई किताबों और स्कूलों में पढ़ाया जाता है, क्योंकि इसका सही आवेदन

अधिकांश छोटे विवरणों की अनिश्चितताओं का समाधान कर देगा और अंतिम छवि को आत्म-स्थिर बना देगा।

आकृति चित्रंकन की एक अधिक परिष्कृत कला, कलाकार के मानव अनुपात और शारीरिक रचना की गहरी समझ पर निर्भर करती है। एक प्रशिक्षित कलाकार कंकाल संरचना, जोड़ अवस्थिति, मांसपेशिय स्थान, पुट्ठे की हरकत से परिचित होता है और यह जानता है कि हरकत के दौरान शरीर के विभिन्न हिस्से किस प्रकार से क्रिया करते हैं। इससे कलाकार को अधिक प्राकृतिक भंगिमाओं को पेश करने की अनुमति मिलती है, जो कृत्रिम रूप से कड़ी नहीं दिखाई देती. कलाकार इस बात से भी परिचित होता है कि विषय की उम्र के आधार पर कैसे अनुपात बदलता है, खासकर एक रेखाचित्र के निर्माण के समय।

परिप्रेक्ष्य

रैखिक परिप्रेक्ष्य, एक सपाट सतह पर वस्तुओं के चित्रण की एक ऐसी विधि है, जिसमें दूरी के साथ आयाम सिकुड़ते जाते हैं। किसी भी वस्तु के समानांतर, सीधे किनारे, चाहे एक इमारत हो या एक मेज, उन रेखाओं का अनुगमन करेंगे जो अंतत: अनन्तता में अभिसरण करेंगे. आम तौर पर अभिसारिता का यह बिंदु क्षितिज के लगे होता है, चूंकि इमारतों को सपाट सतह के स्तर के साथ निर्मित किया जाता है। जब कई संरचनाएँ एक दूसरे के साथ मिली होती हैं जैसे एक सड़क के किनारे बनी इमारतें, तब संरचनाओं का अनुप्रस्थ शीर्ष और तल आम तौर पर एक लोपी बिंदु पर मिलते हैं।

दो-सूत्रीय परिप्रेक्ष्य रेखाचित्र

जब इमारत के सामने और बगल के हिस्से को बनाया जाता है तब एक पक्ष का निर्माण करने वाली समानांतर रेखाएँ क्षितिज के लगे हुए एक दूसरे बिंदु पर मिलती हैं (जो रेखाचित्र के कागज से बाहर हो सकता है।) यह एक 'दो सूत्रीय परिप्रेक्ष्य' है। आकाश में एक बिंदु पर यह खड़ी रेखाओं का अभिसरण करता है और फिर एक 'तीन-सूत्री परिप्रेक्ष्य' उत्पन्न करता है।

गहराई को भी उपरोक्त परिप्रेक्ष्य दृष्टिकोण के अलावा कई अन्य तकनीकों द्वारा दर्शाया जा सकता है। समान आकार की वस्तुएँ दर्शक से जितनी दूर होंगी उतनी ही छोटी प्रतीत होंगी। इस तरह एक गाड़ी का पिछला पहिया सामने वाले पहिया से छोटा दिखाई देगा। गहराई को बनावट के उपयोग के माध्यम से दर्शाया

जा सकता है। जैसे-जैसे एक वस्तु की बनावट दूर होती जाती है यह और अधिक संकुचित और घनी हो जाती है और एक पूरी तरह से अलग स्वरूप लेती है उस तुलना में जब यदि यह पास होती. गहराई को, अधिक दूर की वस्तुओं की वैषम्यता की मात्र को कम करने के द्वारा चित्रित किया जा सकता है और रंग को अधिक फीका करने के द्वारा भी। इससे वायुमंडलीय धुंध के प्रभाव को पुनरुत्पादित किया जा सकता है और आँखों को उन वस्तुओं पर ध्यान केंद्रित करने को प्रेरित करता है, जिन्हें अग्रभूमि में बनाया गया है।

कलात्मकता

एक कलात्मक उच्चता की दिलचस्प कृति के निर्माण के लिए तस्वीर की संरचना एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। कलाकार, दर्शकों के साथ विचारों और भावनाओं को संप्रेषित करने के लिए कला में तत्त्वों की अवस्थिति की योजना बनाता है। संरचना, कला के केंद्र को निर्धारित कर सकती है और एक सामंजस्यपूर्ण समग्रता को फलित करती है, जो सौंदर्यबोध की दृष्टि से अपील और उत्तेजित करता है।

एक कलात्मक कृति बनाने में विषय की सजावट भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और प्रकाश और छाया की परस्पर क्रिया कलाकार के पिटारे में एक मूल्यवान तरीका है। प्रकाश स्रोतों की अवस्थिति प्रस्तुत किये जा रहे संदेश की प्रकृति में काफी फर्क कर सकती है। उदाहरण के लिए, बहु-प्रकाश स्रोत किसी व्यक्ति के चेहरे पर झुर्रियों को खत्म कर सकते हैं और एक अधिक युवा रूप को प्रदान कर सकते हैं। इसके विपरीत, एक एकल प्रकाश स्रोत, जैसे दिन का तेज प्रकाश, किसी भी बनावट या दिलचस्प लक्षणों को उजागर करने का काम कर सकता है।

एक वस्तु या आकृति बनाते समय, एक कुशल कलाकार छायाचित्र के भीतर और जो बहार है, दोनों क्षेत्र की ओर ध्यान देता है। बाहरी क्षेत्र को नकारात्मक स्थान कहा जाता है और प्रस्तुतीकरण में यह उतना ही महत्त्वपूर्ण हो सकता है, जितनी की आकृति. आकृति की पृष्ठभूमि में रखी गई वस्तु उचित रूप से रखी हुई दिखनी चाहिए जहां उसे देखा जा सकता है।

एक अध्ययन एक ड्राफ्ट ड्रॉइंग है, जिसे एक योजनाबद्ध अंतिम तस्वीर के लिए तैयार किया जाता है। अध्ययन का उपयोग, पूरी हो चुकी तस्वीर के विशिष्ट भागों के रूप को निर्धारित करने के लिए किया जा सकता है या अंतिम लक्ष्य को पूरा करने हेतु सबसे अच्छे दृष्टिकोण के साथ प्रयोग करने के लिए किया

जा सकता है। हालांकि एक अच्छी तरह से तैयार अध्ययन अपने आप में कला की एक कृति हो सकती है और एक अध्ययन को पूरा करने में कई घंटे की सतर्क क्रिया लग सकती है।

डिजिटल चित्र

कंप्यूटर कला, कलाकार के सीधे प्रभाव में छवि उत्पन्न करने के लिए डिजिटल उपकरणों का प्रयोग है, आमतौर पर किसी इंगित उपकरण के माध्यम से जैसे एक टैबलेट या एक माउस. इसे कंप्यूटर-जनित कला से अलग पहचाना जाता है, जिसे कलाकार द्वारा निर्मित गणितीय मॉडल के प्रयोग से कंप्यूटर द्वारा उत्पन्न किया जाता है।

8

जीवनी

जीवनी जीवन का वृत्तांत होता है। यह साहित्य की एक पुरानी विधा भी है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ और जीवनी-लेखक टामस कारलाइल ने अत्यंत सीधी सादी और संक्षिप्त परिभाषा में इसे 'एक व्यक्ति का जीवन' कहा है। इस तरह किसी व्यक्ति के जीवन वृत्तांतों को सचेत और कलात्मक ढंग से लिख डालना जीवनचरित कहा जा सकता है।

यद्यपि इतिहास कुछ हद तक, कुछ लोगों की राय में, महापुरुषों का जीवनवृत्त है तथापि जीवनचरित उससे एक अर्थ में भिन्न हो जाता है। जीवन चरित में किसी एक व्यक्ति के यथार्थ जीवन के इतिहास का आलेखन होता है, अनेक व्यक्तियों के जीवन का नहीं। फिर भी जीवनचरित का लेखक इतिहासकार और कलाकार के कर्त्तव्य के कुछ समीप आए बिना नहीं रह सकता। जीवन चरितकार एक ओर तो व्यक्ति के जीवन की घटनाओं की यथार्थता इतिहासकार की भाँति स्थापित करता है, दूसरी ओर वह साहित्यकार की प्रतिभा और रागात्मकता का तथ्य निरूपण में उपयोग करता है। उसकी यह स्थिति संभवत: उसे उपन्यासकार के निकट भी ला देती है।

जीवनचरित की सीमा का यदि विस्तार किया जाय तो उसके अंतर्गत आत्मकथा भी आ जायगी। यद्यपि दोनों के लेखक पारस्परिक रुचि और संबद्ध विषय की भिन्नता के कारण घटनाओं के यथार्थ आलेखन में सत्य का निर्वाह

समान रूप से नहीं कर पाते। आत्मकथा के लेखक में सतर्कता के बावजूद वह आलोचनात्मक तर्कना चरित्र विश्लेषण और स्पष्टचारिता नहीं आ पाती जो जीवनचरित के लेखक विशिष्टता होती है। इस भिन्नता के लिए किसी को दोषी नहीं माना जा सकता। ऐसा होना पूर्णत: स्वाभाविक है।

जीवनचरित की सीमा का यदि विस्तार किया जाय तो उसके अंतर्गत आत्मकथा भी आ जायगी। यद्यपि दोनों के लेखक पारस्परिक रुचि और संबद्ध विषय की भिन्नता के कारण घटनाओं के यथार्थ आलेखन में सत्य का निर्वाह समान रूप से नहीं कर पाते। आत्मकथा के लेखक में सतर्कता के बावजूद वह आलोचनात्मक तर्कना चरित्र विश्लेषण और स्पष्टचारिता नहीं आ पाती, जो जीवनचरित के लेखक विशिष्टता होती है। इस भिन्नता के लिए किसी को दोषी नहीं माना जा सकता। ऐसा होना पूर्णत: स्वाभाविक है।

इतिहास

जीवनचरित के प्राचीनतम रूपों के उदाहरण किसी भी देश के धार्मिक, पौराणिक आख्यानों और दंतकथाओं में मिल सकते हैं, जिनमें मानवीय चरित्रों, उनके मनोविकारों और मनोभावों का रूपायन हुआ हो। अधिकांशत: दैवी और मानवीय चरित्रों में जीवनचरित्र के कुछेक लक्षण मिल जाते हैं, जिनका निर्माण उस काल से ही होता चला आ रहा है, जब लेखनकला का विकास भी नहीं हुआ था और इस प्रयोजन के निमित्त मिट्टी और श्रीपत्रों का प्रयोग होता था।

मिस्र और पश्चिमी एशिया के देशों में पत्थरों पर, राजाओं की कब्र की रेलिंगों, स्तंभों और दीवारों की चिकनी सतह पर उनके जीवन की विजयादि से संबंधित बातें उत्कीर्ण करने की परंपरा बहुत पहले ही चल पड़ी थी। उनके जीवनकाल में भी प्रशस्तियों के रूप में इस तरह की उत्कीर्णन होते रहते थे। इस तरह की सामग्री को जीवन-चरित का प्राचीन और प्रारंभिक रूप माना जा सकता है। ऐसे जीवनवृत्तांत इतिहास की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं तथापि कभी कभी इतिहासकार को उनका उपयोग बड़ी सतर्कता से करना पड़ता है।

यूनानी जीवनीकारों में प्लूतार्क विशेष महत्त्व का है। उसकी कृति में यूनान, रोम और फारस के 46 विशिष्ट और यशस्वी व्यक्तियों के जीवन वृत्तांतों का वर्णन हुआ है। प्लूतार्क से भी चार शताब्दियों पूर्व एक महत्त्वपूर्ण जीवनी

'अनाबासिस सुकरात' के शिष्य जनोफोन ने लिखी। बाद के प्रसिद्ध यूनानी जीवनीकारों में फ्लावियस फिलोस्त्रातस और दियोजिकी लेइर्तियस के नाम उल्लेखनीय हैं।

भारत में जीवनचरित

भारत में ई पू तीसरी शताब्दी के मौर्य सम्राट् अशोक द्वारा शिलाओं पर उत्कीर्ण अभिलेख आदि भी आत्मकथा के ही रूप हैं। यह परंपरा अशोक के बाद अधिकांश भारतीय नरेशों में चल पड़ी थी। जीवन की अथवा प्रशासन की किसी विशिष्ट घटना को जीवित रखने के लिए वे उसे पत्थर के स्तंभों, मंदिरों और उनकी दीवारों, ताम्रपत्रों आदि पर अंकित करवा देते थे। कुषाण और विशेषत: गुप्त सम्राटों का काल इस तरह के संदर्भों से भरा पड़ा है। इसके साथ ही कभी कभी जीवनी लेखन का स्पष्ट रूप भी दिखाई पड़ जाता है। बाण द्वारा रचित हर्षचरित एक ऐसा ही उदारहण है।

बाद के मुगल बादशाहों में तो आत्मकथा लिखना चाव और रुचि की बात ही हो गई थी। बाबर से लेकर जहाँगीर तक सभी ने आत्मकथाएँ लिखी हैं, जो क्रमश: इस प्रकार है––बाबरनामा, हुमायूनामा, अकबरनामा, जहाँगीरनामा।

भारतीय सम्राटों, मुगल बादशाहों तथा राजपूत राजा और रजवाड़ों में आश्रय पानेवाले कवियों ने भी अपने आश्रयदाताओं के जीवनवृत्तातों का विस्तृत वर्णन अपने काव्य ग्रंथों में किया है। काव्य के नायक के रूप में किसी नरेश, अथवा आश्रयदाता का चयन करने के पश्चात् उनकी जीवनी का रूपायन कविता की पंक्तियों में कर डालना एक सामान्य बात हो गई थी। इस तरह के काव्य को हिन्दी साहित्य के चरितकाव्य की संज्ञा दी गई है। ऐसे काव्यों की रचना हिन्दी साहित्य के वीरगाथा काल और विशेषत: रीतिकाल के बहुलता से हुई है। वीरगाथा काल के रासों काव्यों को इसी श्रेणी में माना जा सकता है। रीतिकाल में इस तरह के चरित काव्यों के अनेक नाम गिनाए जा सकते हैं, जिनकी रचना समय समय पर कवियोंद्वारा होती रही है।

नाभा दास का 'भक्तमाल' तथा उस पर प्रियादास की टीका भक्तों के जीवनचरित के संग्रह ग्रंथ हैं। कई अन्य भक्तकवियों ने भी 'भक्तमाल' नाम से जीवनचरित संग्रह ग्रंथों की रचना की। पुष्टिमार्गीय वैष्णव संतों और कवियों के ब्रजभाषा गद्य में अंकित जीवनचरित के दो संग्रह 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' अपने ढंग से बेजोड़ ग्रंथ हैं।

आधुनिक युग

आधुनिक गद्य काल में तो अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि पश्चिमी भाषाओं के साथ साथ हिंदी, बंगला, मराठी आदि में भी प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवनचरित लिखने की प्रवृत्ति यथेष्ट रूप से बढ़ती जा रही है। आत्मकथाओं में महात्मा गांधी की 'सत्य के प्रयोग' शीर्षक आत्मकथा, देशरत्न स्व. राजेन्द्र प्रसाद की आत्मकथा और जवाहरलाल नेहरू की आत्मकथा, इस प्रसंग में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

9

आत्मकथा

साहित्य में आत्मकथा किसी लेखक द्वारा अपने ही जीवन का वर्णन करने वाली कथा को कहते हैं। यह संस्मरण (memoir) से मिलती-जुलती लेकिन भिन्न है। जहाँ संस्मरण में लेखक अपने आसपास के समाज, परिस्थितियों व अन्य घटनाओं के बारे में लिखता हैं वहाँ आत्मकथा में केन्द्र लेखक स्वयं होता है। आत्मकथा हमेशा व्यक्तिपरक (subjective) होती हैं, यानि वह लेखक के दृष्टिकोण से लिखी जाती हैं। इनमें लेखक अनजाने में या जानबूझ कर अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण तथ्य छुपा सकता है या फिर कुछ मात्र में असत्य वर्णन भी कर सकता है। एक ओर आत्मकथा से व्यक्ति के जीवन और परिस्थितियों के बारे पढ़कर पाठकों को जानकारी व मनोरंजन मिलता है, तो दूसरी ओर इतिहासकार आत्मकथाओं की जानकारी को स्वयं में मान्य नहीं ठहराते और सदैव अन्य स्रोतों से उनमें कही गई बातों की पुष्टी करने का प्रयास करते हैं।

यह कहना पर्याप्त नहीं है कि आत्मकथा की विधा परिचम से भारत में आयी। भारत में वह कब और किस सामाजिक-राजनैतिक जागरण की बदौलत आयीय हमारी अपनी सांस्कृतिक परम्परा में उसका विधान किन कारणों से नहीं रहा और अगर उसके आधुनिक रूप से भिन्न कुछ आत्मकथा-सरीखी साहित्यिक अभिव्यक्तियाँ रहीं भी, तो वे कैसी हैं तथा कितनी महत्त्वपूर्ण हैं? आत्मकथा का सम्यक् आधुनिक रूप कब अपनाया गया तथा इस विधा की महत्त्वपूर्ण कृतियों के जरिए उसका अब तक कितना विकास हुआ है? वर्तमान स्थिति क्या है और

उसमें आत्मकथा की क्या भूमिका होनी चाहिए? किस लिहाज से वह एक बेहद प्रासंगिक और मूल्यवान् विधा है? इन सभी सवालों पर बात करके ही आत्मकथा की विकास-यात्रा की बहस को कोई सम्पूर्णता प्रदान की जा सकती है।

प्राचीन साहित्य में आत्मकथा की परम्परा भले ही नहीं रही हो, लेकिन ऐसा नहीं है कि कथाकारों ने आत्म वचन को नहीं अपनाया हो। एक सूक्ष्म जाँच-पड़ताल के बाद आत्मकथा-सरीखी साहित्यिक अभिव्यक्ति के कुछ टुकड़े जरूर मिलते हैं, हालांकि उनसे कोई संतुष्टि नहीं मिल पाती है। हर्षचरित का वह आरम्भिक हिस्सा है, जिसमें रचयिता बाणभट्ट ने अपमान, वंचना और हताशा में भरे अपने बचपन, विद्यार्थी जीवन और शुरूआती युवावस्था की चर्चा की है। इसी तरह कुछ और नाम भी आते हैं, जिनमें बिलहण (विक्रमांकदेव चरित), दण्डी (दशकुमारचरित) आदि प्रमुख हैं।

प्राप्त सामग्री के आधार पर काल क्रमानुसार इतिहास की दीर्घा में आत्मकथाओं के तीन निश्चित चरण दिखते हैं–

प्रथम चरण (1600-1875)

प्रथम चरण के सुदीर्घ कालखण्ड में तीन महत्त्वपूर्ण आत्मकथाएँ मिलती हैं। हिन्दी में सत्रहवीं शताब्दी में रचित बनारसीदास 'जैन' की 'अर्द्धकथानक' (1641ई.) अपनी बेबाकी में चौंकाने वाली आत्मकथा है। बनारसीदास की अर्द्धकथा के बाद एक लम्बा कालखण्ड अभिव्यक्ति की दृष्टि से मौन मिलता है। इस लम्बे मौन को स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् 1860 में अपने 'आत्मचरित' से तोड़ा है। दयानन्द सरस्वती जी का स्वकथित जीवन वृत्तान्त अत्यन्त संक्षेप में भी अपने वर्तमान तक पहुंचने की कथा का निर्वाह निजी विशिष्ट चेतना के साथ करता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी आत्मकथा में अपने प्रारम्भिक जीवन के चित्रण के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों को दर्शाया है। घर से भागने, वैरागी के हाथ पड़ने, पिता के द्वारा पकड़े जाने, पुनः भागने, तदनन्तर संन्यास लेने और विभिन्न गुरुओं से सम्बद्ध कथायें 'जीवन चरित्र' में आती हैं। अपने द्वारा किए गए शैवमत के खण्डन, भागवत के खण्डन आदि अनेक शास्त्रार्थ की चर्चा, साथ ही आर्यसमाज की उन्नति के लिए समर्पित उनका स्वयं का व्यक्तित्त्व इस संक्षिप्त आत्मकथा को धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाता है। ईश्वर की इस प्रार्थना से लेखक अपनी इस आत्मकथा का

समापन करता है–"ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि सर्वत्र आर्य समाज कायम होकर पूजादि दुराचार दूर हो जावें, वेद शास्त्रों का सच्चा अर्थ सबकी समझ में आवे और उन्हीं के अनुसार लोगों का आचरण होकर देश की उन्नति हो जावे।"

सन् 1909 तथा 1918 ई. में दो खण्डों में सत्यानन्द अग्निहोत्री का आत्मचरित्र 'मुझमें देव-जीवन का विकास' प्रकाशित हुआ। इसमें आत्मकथा कम और उपदेशात्मकता अधिक है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने आर्यसमाज के प्रचार की प्रतिस्पर्द्धा में देव-समाज के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने हेतु इस ग्रन्थ को रचा था। आस्तिकता और वैदिक विचारधारा का खण्डन इस आत्मकथा का प्रमुख हिस्सा है।

सीताराम सूबेदार द्वारा रचित 'सिपाही से सूबेदार तक' जैसी आत्मकथा अपने अंग्रेजी अनुवादों के अनेक संस्करणों में उपलब्ध है। आत्मकथाकार की सैनिक बनने की अपनी महत्त्वाकांक्षा, मामा के द्वारा दिया गया प्रोत्साहन, घर का विरोध और अन्ततः 'खूब जवान' हो जाने पर फौज के लिए प्रस्थान जैसी घटनाएँ आत्मकथा को रुचिकर बनाती है। आत्म-कथाकार अपनी अड़तालीस वर्षों की ब्रितानी फौज की सेवा में पाये जंग के घाव, चोट के निशानों और छह मेडलों के प्रति गर्वोत्तम है। बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है इस आत्मकथा का अपने मौलिक रूप हिन्दी में नहीं उपलब्ध होना।

द्वितीय चरण (1876-1946)

भारतेन्दु हरिश्चंद्र के छोटे आत्मकथात्मक लेख 'एक कहानी: कुछ आप बीती कुछ जग बीती' से प्रारम्भ हुई द्वितीय चरण में आत्मकथाएँ अनेक छोटे-बड़े प्रयोग करती है। इस छोटे-से लेख में भारतेन्दु ने अपने निज एवं अपने परिवेश को अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि के साथ उकेरा है। दो पृष्ठों में लिखा गया यह लेख आत्मकथा की विधा के भविष्य के लिए पुष्ट बीज है। अपना परिचय देने के क्रम में आत्मकथाकार ने अपनी सहृदयता का यथेष्ट प्रमाण दिया है–

"जमीन चमन गुल खिलाती है क्या-क्या?
बदलता है रंग आसमाँ कैसे-कैसे।"

"हम कौन है और किस कुल में उत्पन्न हुए हैं आप लोग पीछे जानेंगे। आप लोगों को क्या, किसी का रोना हो पढ़े चलिए जी बहलाने से काम है। अभी इतना ही कहता हूँ कि मेरा जन्म जिस तिथि को हुआ, यह जैन और वैदिक दोनों में बड़ा पवित्र दिन है।"

इस चरण में कई महत्त्वपूर्ण आत्मकथाएँ प्रकाशित हुईकृ राधाचरण गोस्वामी की 'राधाचरण गोस्वामी का जीवन चरित्र'-इस छोटी सी कृति में वैयक्तिक संदर्भों से ज्यादा तत्कालीन साहित्य और समाज की चर्चा का निर्वाह किया गया है। भाई परमानन्द की 'आप बीती (मेरी राम कहानी)' का प्रकाशन वर्ष 1922 ई. है।

स्पष्टवादिता, सच्चाई के लिए प्रसिद्ध, वैदिक धर्म के सच्चे भक्त परमानन्द की आपबीती का अपनी तत्कालीन राजनीतिक स्थिति में एक विशेष राजनीतिक महत्त्व है। गिरफ्तारी का पहला दिन, हवालात की अंधेरी कोठरी के अन्दर, न्याय की निराशा जैसे शीर्षकों में आपबीती विभक्त है, जो कहीं न कहीं 'डायरी' के समीप लगती है।

जेल की सजाओं, षड्यन्त्रों, अंधेरे में बिताये अकेले घण्टी और वहाँ की गन्दगी के बारे में बताता लेखक जेल के माध्यम से सुधार करने की आशा को एक कल्पित स्थिति घोषित करता है–"यह वह स्थान है, जहाँ मनुष्य समाज के गिरे हुए आदमी इकट्ठे कर दिये जाते हैं, ताकि वे अपने मन के विचारों को एक-दूसरे से बदलते हुए उनके अनुसार अपना काल व्यतीत करें। जब कोई अच्छी प्रकृति का मनुष्य इनमें डाल दिया जाता है, तो कुछ समय तक तो उसे घृणा-सी आती है, परन्तु कुछ समय वहाँ रहने के पश्चात् वह भी वैसा ही हो जाता है, जैसा कि एक मल उठाने वाले भंगी की सन्तान जिनकी नाक में गन्ध सूँघने की शक्ति मर जाती है।"

20वीं शती के चौथे दशक में ही महात्मा गांधी ने 'आत्म-दर्शन' की अपनी जीवनव्यापी कोशिशों को आत्मकथा का रूप दिया, जिसे उन्होंने 'सत्य के प्रयोग' की संज्ञा दी। मूल रूप से यह आत्मकथा गुजराती में थी, जो अनुदित होकर बाद में हिन्दी में भी प्रकाशित होती है। आत्मकथा की प्रस्तावना में अपने उद्देश्यों की घोषणा करते हुए उन्होंने लिखा है–

''मुझे जो करना है, तीस वर्षों से मैं जिसकी आतुर भाव से रट लगाए हुए हूँ, वह तो आत्म-दर्शन है, ईश्वर का साक्षात्कार है, मोक्ष है। मेरे सारे काम इसी दृष्टि से होते हैं। मेरा सब लेखन भी इसी दृष्टि से होता है और राजनीति के क्षेत्र में मेरा पड़ना भी इसी वस्तु के अधीन है।"

गांधी इस बात से सहमत थे कि आत्मकथा लिखने का पश्चिमी ढंग अनिवार्यतः आत्म-केन्द्रित और अहम्मन्यतापूर्ण है, परन्तु गांधी ने अपने व्यक्ति या 'मैं' के बजाय 'आत्मा' को आत्मकथा के केन्द्र में लाकर इन पाश्चात्य विकृतियों

का प्रतिकार किया। सही मायने में गाँधीजी ने आत्मकथा का भारतीयकरण किया है।

इस विशाल और व्यापक आत्मकथा में लेखक की साहित्यिक अभिरुचियों, वैयक्तिक गुण-दोषों, अनुभूतियों, भावनाओं, यात्राओं तथा विशिष्ट उपलब्धियों का विस्तृत वर्णन हुआ है। स्थान-स्थान पर उनकी रचनाधर्मिता, रचना-प्रक्रिया तथा लेखन स्त्रोतों का भी उल्लेख है। डॉ. हरदयाल के शब्दों में "मुहावरेदार भाषा में लिखी गई यह आत्मकथा उनकी यायावरी, विद्याव्यसनी एवं विद्रोही वृत्ति से साकार हो उठी है।"

तृतीय चरण (1947-अब तक)

औपनिवेशिक काल के दौरान विपरीत परिस्थितियों में जन्मी देश की जाग्रत व्यक्तिनिष्ठ एवं सामूहिक चेतना अभिव्यक्ति के इस विशिष्ट क्षेत्र की ओर भी गतिमयता के साथ प्रवाहित हुई। तत्कालीन राष्ट्रीयता का प्रभाव आत्मकथाओं के विस्तार में प्रतिच्छायित है।

1947 में प्रकाशित बाबू राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्मकथा' में जीवन की दीर्घकालीन घटनाओं का अंकन एवं स्वचित्रण बिना किसी लाग-लपेट के तटस्थता के साथ आत्मकथा में सम्पादित है। लेखक के बचपन के तत्कालीन सामाजिक रीति-रिवाजों का, संकुचित प्रथाओं से होने वाली हानियों का, तत्कालीन गँवई जीवन का, धार्मिक व्रतों, उत्सवों और त्यौहारों का, शिक्षा की स्थितियों का हू-ब-हू चित्र राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्मकथा' में अंकित है। तत्कालीन हिन्दू-मुसलमानों के बीच की असाम्प्रदायिक सहज सामान्य सामाजिक समन्वय की भावना का चित्र भी आत्मकथा अनायास ही उकेरती है। सरदार बल्लभभाई पटेल 'आत्मकथा' को मात्र कृति ही नहीं इतिहास मानते हैं–''प्रायः पिछले 25 वर्षों से हमारा देश किस स्थिति को पहुँच गया है इसका सजीव और एक पवित्र देशभक्त के हृदय में रंगा हुआ इतिहास पाठकों को इस आत्मकथा में मिलेगा।"

1951 में प्रकाशित स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की 'स्वतंत्रता की खोज में, अर्थात् मेरी आत्मकथा' हिन्दी की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आत्मकथा है। स्वतंत्रता की खोज में भटकते पथिक की यह कथा मानवता से जुड़ी आत्मा की छटपटाहट एवं तत्कालीन भारतीय राजनीतिक स्थितियों से सम्बद्ध है।

यशपाल की आत्मकथा 'सिंहावलोकन' का प्रकाशन लखनऊ से तीन खण्डों में हुआ है। प्रथम खण्ड में लेखक के बाल्य, शिक्षा तथा क्रान्तिकारी दल के कार्यों का उल्लेख होने से वैयक्तिक जीवन पर प्रचुर प्रकाश पड़ा है। कृति में आन्दोलन की घटनाओं की रहस्यात्मकता और रोमांचता के साथ-साथ अपनी विशिष्ट क्रान्तिकारी विचारधारा के महत्त्व को लेखक ने निरूपित किया है, व्यक्ति, परिवार और राजनीतिक दासता की स्थितियाँ और उनमें पनपती और विकसित होती क्रान्तिकारी चेतना को एकसाथ अंकित करती यह आत्मकथा (सशस्त्र क्रान्ति की कहानी) की शैली विवेचनात्मक है, जो कहीं न कहीं उनके उपन्यासों की भाँति रोचक और मर्मस्पर्शी है।

पिता की पुण्य स्मृति के साथ इस आत्मकथा का प्रारम्भ होता है। यह कृति तत्कालीन हिन्दू और मुसलमानों के आपसी सद्भाव को अंकित करती युगीन प्रवृत्तियों को चित्रित करती है। राजस्थानी शब्दों का अत्यन्त सहजता के साथ हिन्दी में घुलामिला स्वरूप आत्मकथा को असाधारण बनाता है।

हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार और हिन्दी सेवी सेठ गोविंददास की आत्मकथा के तीन भाग 'प्रयत्न, प्रत्याशा और नियतारित' उपशीर्षकों सहित 'आत्म-निरीक्षण' शीर्षक से 1957 ई. में प्रकाशित हुए। तथ्यात्मकता, विश्लेषणात्मकता, निर्भीकता एवं स्पष्टवादिता आदि गुणों के कारण यह आत्मकथा और महत्त्वपूर्ण हो जाती है। लेखक ने अपने किये प्रेम और पिता की वेश्यानुसक्ति तक को नहीं छुपाया है। लेखक का सजग व्यक्तित्त्व उसकी आत्मकथा में सर्वत्र मुखर है। गांधी तथा नेहरू तक की आलोचना करने में उसने झिझक नहीं दिखाई। साहित्यकार सेठ गोविन्दास की आत्मकथा की भाषा शैली की सृजनात्मकता इस विशिष्ट विधा को एक और आयाम देती है।

चतुरसेन शास्त्री की दो आत्मकथाएं– 'यादों की परछाइयां' (1956) तथा 'मेरी आत्म कहानी' (1963) प्राप्त होती है। 'यादों की परछाइयां' में लेखक के निजी जीवन के क्रमिक ब्यौरे का अभाव है, जबकि मरणोपरांत प्रकाशित 'मेरी आत्म कहानी' में पहले दो अध्यायों को छोड़कर शेष भाग अप्रामाणिकता का प्रश्नचिन्ह लगाये हुए हैं। डॉ. हरदयाल के शब्दों में "इसका कारण यह है कि पहले दो अध्याय तो लेखक ने स्वयं लिखे है तथा शेष अंश लेखक द्वारा छोड़े गये नोट्स के आधार पर उसके अनुज चंद्रसेन ने लिखा है। चूंकि इस बात का कहीं कोई संकेत नहीं है कि शेष अंश में से कितना चतुरसेन का है तथा कितना

चंद्रसेन का। फलतः इस कृति को आत्मकथा की परिधि में रखना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता।"

छठे दशक के प्रारम्भ में ही पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की आत्मकथा 'अपनी खबर' प्रकाशित हुई। दूषित एवं गर्हित परिवेश, पितृ-प्रेम का अभाव तथा उन्मत्त एवं क्रोधी भाई साहब का नियन्त्रण, 'उग्र' की नियति थी। 'अपनी खबर' में पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने मुक्तिबोध के से आत्मीय और आकुल आवेग के साथ अपनी 'अजीब जिंदगी में आए कुछ प्रमुख व्यक्तियों के चरित्र की गहरी छानबीन की है।

उग्र के सम्बंध में पंकज चतुर्वेदी का यह कथन सशक्त मालूम होता है, ''जिस समाज के साहित्य में जीवन के गर्हित सच से मुँह चुराने की नैतिक दुर्बलता के कारण न तो आत्मकथाओं की समृद्ध परम्परा बन पायी हो और न सशक्त वर्तमानय उसी हिन्दी समाज में रहते हुए उग्र ने उस दुनिया के वीभत्स अंधेरों को उजागर किया, जिसके वे मूक दर्शक नहीं रह पाए बल्कि विवश हिस्सेदार हुए।"

अस्मितावादी आत्मकथाएँ–(हाशिए से मुख्यधारा की ओर)

वर्तमान आत्मकथा के क्षेत्र में मराठी साहित्यकारों से प्रभावित होकर दलित रचनाकारों द्वारा अपनी स्वानुभूति व्यक्त करना साहित्यिक क्रान्ति कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। सदियों से हमारी पुरुषवादी और सवर्ण-वर्चस्ववादी संस्कृति की सबसे ज्यादा प्रताड़ना स्त्रियाँ और दलित जन सहते आ रहे हैं। आज यही लोग आत्मकथा के जरिए अपने दारूण अनुभवों का मार्मिक संसार उद्घाटित करेंगे, तो हमारा भाव-लोक भी बदलेगा और वस्तु-जगत भी। मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे', ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन', मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुण्डल बसै', तुलसीराम की 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका', श्यौराज सिंह 'बैचेन' की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' आत्मकथाएँ इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण पहल है, जो कहीं-न-कहीं इसके उज्जवल भविष्य की ओर इशारा करती है।

दलित आत्मकथाओं के बारे में ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं, "किसी भी दलित द्वारा लिखी आत्मकथा सिर्फ उसकी जीवनगाथा नहीं होती, बल्कि उसके समाज की जीवनगाथा भी होती है। लेखक की आत्म अभिव्यक्ति होती है। उसके जीवन के दुःख, दर्द, अपमान, उपेक्षा,

आत्मकथा उसकी जाति एवं समाज के दु:ख-दर्द और अपमान-उपेक्षा इत्यादि को भी स्वर देता है।"

हिन्दी की पहली दलित आत्मकथा 1995 में प्रकाशित मोहनदास नैमिशराय कृत 'अपने-अपने पिंजरे' को माना जाता है। भारतीय समाज की वर्ण-व्यवस्था तले हजारों वर्षों से उपेक्षित जीवन जी रहे समाज का चित्रण इस आत्मकथा में मुख्य विषय के रूप में उभर कर आया है। मनुवादी व्यवस्था ने जिनके जीवन को अज्ञान, अंधकार, विषमता तथा गुलामी में ढकेल दिया था और उनका जीवन नरकमय बना दिया। ऐसे समाज में शिक्षा की रोशनी का आगमन हुआ और उस रोशनी को अपनाकर अपने दाहक अनुभवों की अभिव्यक्ति आत्मकथाओं में आने लगी। आत्मकथा का एक अंश, "कुछ दूरी पर दो बैल-गाड़ियां और मिली। गाड़ीवान ने केवल दो सवाल तड़ में कर दिए थे। कहं से आरे हो? हममें से इतने उसका जवाब कोई देता, दूसरा सवाल साथ-साथ कर दिया था—कौन जात हो?

आगे पूरन की गाड़ी खड़ी थी। वह कुछ देर चुप रहा। बा ने झटाक से उत्तर दे दिया था—चमार दरवज्जे से!

बा का जवाब सुनते ही गाड़ीवान ने तिक-तिक-तिक करते हुए गाड़ी आगे बढ़ा ली थी। जैसे उससे हमारी गाड़ी छू न जाए।"

1997 में प्रकाशित हुई ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' सामाजिक सड़ाँध को उजागर करने वाली महत्त्वपूर्ण आत्मकथा है। बकौल लेखक "दलित जीवन की पीड़ाएँ असहनीय अनुभव है। ऐसे अनुभव जो साहित्यिक अभिव्यक्तियों में स्थान नहीं पा सके। एक ऐसी समाज व्यवस्था में हमने साँसें ली हैं, जो बेहद क्रूर और असमानवीय है।" 'जूठन' के माध्यम से लेखक ने भारतीय समाज, संस्कृति, धर्म और इतिहास में पवित्र तथा उत्कृष्ट समझे जाने वाले तीन प्रतीकों क्रमश: शिक्षक संस्थान, गुरु यानि शिक्षक एवं प्रेम पर कड़ा प्रहार किया है तथा यह दिखाने की कोशिश की है कि दलित समाज को अपने व्यक्तित्त्व निर्माण और सामाजिक विकास की प्रक्रिया में इन तीनों प्रतीकों की नकारात्मक भूमिकाओं का सामना करना पड़ता है। आत्मकथा में उल्लेखित एक अंश, "अध्यापकों का आदर्श रूप जो मैंने देखा, वह अभी तक मेरी स्मृति से मिटा नहीं है। जब भी कोई आदर्श गुरु की बात करता है, तो मुझे वे तमाम शिक्षक याद आ जाते हैं, जो माँ-बहन की गालियाँ देते थे।" इस तरह

यह आत्मकथा पददलित, हाशिए पर बैठे लोगों के लिए मुख्यधारा में आने का मार्गदर्शन करती है।

'दोहरा अभिशाप' (1999) कौशल्या वैसन्त्री की यह आत्मकथा हिन्दी दलित साहित्य की पहली आत्मकथा है। एक दलित स्त्री को दोहरे अभिशाप से गुजरना पड़ता है–एक उसका स्त्री होना और दूसरा दलित होना। कौशल्या वैसन्त्री इन दोनों अभिशापों को एक साथ जीती हैं, जो उनके अनुभव जगत् को एक गहनता प्रदान करते हैं। इस आत्मकथा में तीन पीढ़ी की कथा है, जिसमें लेखिका की माँ भागिरथी, नानी, आजी और स्वयं लेखिका के जीवन का मार्मिक एवं विशद चित्रण हुआ है। लेखिका पुस्तक की भूमिका में घोषणा करती है, "पुत्र, भाई, पति सब मुझ पर नाराज हो सकते हैं, परन्तु मुझे भी तो स्वतंत्रता चाहिए कि मैं अपनी बात समाज के सामने रख सकूँ। मेरे जैसे अनुभव और भी महिलाओं के सामने आए होंगे, परन्तु समाज और परिवार के भय से अपने अनुभव समाज के सामने उजागर करने से डरती और जीवन भर घुटन में जीती है। समाज की आँखें खोलने के लिए ऐसे अनुभव सामने आने की जरूरत है।" लेखिका ने दलित समाज की अच्छाई-बुराई सभी का विवरण अपनी आत्मकथा में दिया है। जहाँ सवर्णों में विधवा-विवाह को मान्यता नहीं दी जाती है, वहीं दलित समाज में कोई रोक-टोक नहीं है अगर विधवा दुबारा शादी (पाट) करना चाहे।

'दोहरा अभिशाप' आत्मकथा के माध्यम से 20वीं सदी के आरम्भिक दशक से लेकर अब तक के दलित समाज की यथार्थवादी व बदलती हुई तस्वीर देखी जा सकती है। लेखिका ने आत्मकथा में गरीबी, अभाव, अशिक्षा, अज्ञान, अंधविश्वास, सामाजिक असमानता और जातिगत नफरत के कारण दलित बच्चों, स्त्रियों व पूरे दलित समाज की दुर्दशा का हृदय विदारक चित्रण किया है।

'शिकंजे का दर्द' सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा नारी के शोषण के विरुद्ध संघर्ष की गाथा है। लेखिका ने इस आत्मकथा के माध्यम से यह महत्त्वपूर्ण संदेश दिया है कि समाज के शोषित शिकंजे से मुक्ति पानी है तो सबसे पहले शिक्षित होना ही पड़ेगा। लेखिका के शब्दों में "सच यह था–कब आया यौवन, जान न पाया मन! शिकंजे में जकड़ा जीवन कभी मुक्त भाव का अनुभव ही नहीं कर पाया। जिंदगी एक निश्चित की गई लकीर पर चलती रही वह उमंग कभी मिली ही नहीं जो यौवन का अहसास कराती। उम्र के साथ कटु अनुभूतियों के दंश महसूस होते रहे। पीड़ा से छटपटाता मन मुक्ति का ध्येय लेकर आगे बढ़ता रहा। तब मुक्ति का मार्ग मैंने शिक्षा प्राप्ति को ही माना था।"

हिन्दी में देर से ही सही पर सार्थक और आत्मपरीक्षण के साथ दलितों के संघर्ष का चित्रण होना एक तरह से क्रान्ति की तरह है। तुलसीराम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' पूरे दलित समाज के अदम्य जीवन संदर्भ के साथ आगे बढ़ने का संदेश देती है तथा यह भी बताती है कि जो नारकीय या दासतापूर्ण जीवन दलितों को मिला है उसमें व्यक्ति विशेष का नहीं बल्कि व्यवस्था का अपराध है।

श्यौराज सिंह 'बेचैन' की आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' 2009 में प्रकाशित हुई। लेखक ने दलित जीवन की वास्तविकता को इसमें निष्पक्ष भाव से तो व्यक्त किया ही है, साथ ही दलितों में व्याप्त जातिवाद, दलित पुरुषों द्वारा दलित स्त्रियों के उत्पीड़न के हृदयविदारक दृश्य भी हमें इस आत्मकथा में दिखाई पड़ते हैं। पिता की मौत की त्रासदी से लेकर हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण होने तक की बाल व युवा जिंदगी की जद्दोजहद उनसे अधिक कौन जान सकता है। कमोबेश लेखक ने अपने जीवन के हर पहलू की चर्चा इस पुस्तक में की है, जो अक्सर उन्हें अपने अतीत के सामने खड़ा करता है, चाहे भूख में मरे हुए जानवरों का माँस खाना हो, पढ़ाई के लिए मास्टर की मधुरवाणी में फंस कर बेगारी करना, यहाँ तक कि सुंदरियों का प्रसंग।

10

रिपोर्ताज

रिपोर्ताज फ्राँसीसी भाषा का शब्द है और अंग्रेजी शब्द 'रिपोर्ट' से इसका गहरा संबंध है। रिपोर्ट किसी घटना के यथातथ्य साध्य वर्णन को कहते हैं। रिपोर्ट सामान्यत: समाचार पत्र के लिए लिखी जाती है और उसमें साहित्यिकता नहीं होती। रिपोर्ट के कलात्मक और साहित्यिक रूप को ही 'रिपोर्ताज' कहते हैं। वस्तुगत तथ्य को रेखाचित्र की शैली में प्रभावोत्पादक ढंग से अंकित करने में ही रिपोर्ताज की सफलता है।

अर्थ एवं उद्देश्य

जीवन की सूचनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए रिपोर्ताज का जन्म हुआ। रिपोर्ताज पत्रकारिता के क्षेत्र की विधा है। इस शब्द का उद्‌भव फ्राँसीसी भाषा से माना जाता है। इस विधा को गद्य विधाओं में सबसे नया कह सकते हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय यूरोप के रचनाकारों ने युद्ध के मोर्चे से साहित्यिक रिपोर्ट तैयार की। इन रिपोर्टों को ही बाद में रिपोर्ताज कहा गया। वस्तुत: यथार्थ घटनाओं को संवेदनशील साहित्यिक शैली में प्रस्तुत कर देने को ही रिपोर्ताज कहा जाता है।

घटना प्रधान

आँखों-देखी और कानों-सुनी घटनाओं पर रिपोर्ताज लिखा जा सकता है, कल्पना के आधार पर नहीं, लेकिन तथ्यों के वर्णन मात्र से रिपोर्ताज नहीं बना करता, रिपोर्ट भले ही बन सके। घटना-प्रधान होने के साथ ही रिपोर्ताज को कथातत्त्व से भी युक्त होना चाहिए। रिपोर्ताज लेखक को पत्रकार तथा कलाकार की दोहरी जिम्मेदारी निभानी पड़ती है। साथ ही उसके लिए आवश्यक होता है कि वह जनसाधारण के जीवन की सच्ची और सही जानकारी रखे और उत्सवों, मेलों, बाढ़ों, अकालों, युद्धों और महामारियों जैसे सुख-दुरूख के क्षणों में जनता को निकट से देखे। तभी वह अखबारी रिपोर्टर और साहित्यिक रचनाकार की हैसियत से जन-जीवन का प्रभावोत्पादक ब्योरा लिख सकेगा।

रांगेय राघव का योगदान

रांगेय राघव रिपोर्ताज की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ लेखक कहे जा सकते हैं। सन 1946 में प्रकाशित 'तूफानों के बीच में' नामक रिपोर्ताज में इन्होंने बंगाल के अकाल का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। रांगेय राघव अपने रिपोर्ताजों में वास्तविक घटनाओं के बीच में से सजीव पात्रों की सृष्टि करते हैं। वे गरीबों और शोषितों के लिए प्रतिबद्ध लेखक थे। इस पुस्तक के निर्धन और अकाल पीड़ित निरीह पात्रों में उनकी लेखकीय प्रतिबद्धता को देखा जा सकता है। लेखक विपदाग्रस्त मानवीयता के बीच संबल की तरह खड़ा दिखाई देता है।

रिपोर्ताज की हिन्दी शैली

द्वितीय महायुद्ध में रिपोर्ताज साहित्यिक गद्य रूप पाश्चात्य साहित्य और विशेषत: रूसी साहित्य में बहुत लोकप्रिय और विकसित हुआ। एलिया एरनबर्ग को रिपोर्ताज लेखक के रूप में बड़ी ख्याति मिली। हिन्दी में रिपोर्ताज साहित्य मूलत: विदेशी साहित्य के प्रभाव से आया, पर हिन्दी में रिपोर्ताज की शैली मँज नहीं सकी है। बंगाल के अकाल और जन-आन्दोलन आदि विषयों को लेकर कुछ रिपोर्ताज लिखे अवश्य गये, पर हिन्दी में रिपोर्ताज को एक सुनिश्चित साहित्य रूप की प्रतिष्ठा अभी नहीं मिल सकी है। सर्वश्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे, अमृतराय, रेणु आदि ने हिन्दी में रिपोर्ताज लिखे हैं।

हिन्दी रिपोर्ताज का इतिहास

'रिपोर्ताज' का अर्थ एवं उद्देश्य–जीवन की सूचनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए रिपोर्ताज का जन्म हुआ। रिपोर्ताज पत्रकारिता के क्षेत्र की विधा है। इस शब्द का उद्‌भव फ्रांसीसी भाषा से माना जाता है। इस विधा को हम गद्य विधाओं में सबसे नया कह सकते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय यूरोप के रचनाकारों ने युद्ध के मोर्चे से साहित्यिक रिपोर्ट तैयार की। इन रिपोर्टों को ही बाद में रिपोर्ताज कहा गया। वस्तुत: यथार्थ घटनाओं को संवेदनशील साहित्यिक शैली में प्रस्तुत कर देने को ही रिपोर्ताज कहा जाता है।

आरंभिक युग

हिंदी खड़ी बोली गद्य के आरंभ के साथ ही अनेक नई विधाओं का चलन हुआ। इन विधाओं में कुछ तो सायास थी और कुछ के गुण अनायास ही कुछ गद्यकारों के लेखन में आ गए थे। वास्तविक रूप में तो रिपोर्ताज का जन्म हिंदी में बहुत बाद में हुआ, लेकिन भारतेंदुयुगीन साहित्य में इसकी कुछ विशेषताओं को देखा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, भारतेंदु ने स्वयं जनवरी, 1877 की 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' में दिल्ली दरबार का वर्णन किया है, जिसमें रिपोर्ताज की झलक देखी जा सकती है। रिपोर्ताज लेखन का प्रथम सायास प्रयास शिवदान सिंह चौहान द्वारा लिखित 'लक्ष्मीपुरा' को मान जा सकता है। यह सन् 1938 में 'रूपाभ' पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इसके कुछ समय बाद ही 'हंस' पत्रिका में उनका दूसरा रिपोर्ताज 'मौत के खिलाफ जिन्दगी की लड़ाई' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। हिंदी साहित्य में यह प्रगतिशील साहित्य के आरंभ का काल भी था। कई प्रगतिशील लेखकों ने इस विधा को समृद्ध किया। शिवदान सिंह चौहान के अतिरिक्त अमृतराय और प्रकाशचंद गुप्त ने बड़े जीवंत रिपोर्ताजों की रचना की।

रांगेय राघव रिपोर्ताज की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ लेखक कहे जा सकते हैं। सन् 1946 में प्रकाशित 'तूफानों के बीच में' नामक रिपोर्ताज में इन्होंने बंगाल के अकाल का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। रांगेय राघव अपने रिपोर्ताजों में वास्तविक घटनाओं के बीच में से सजीव पात्रों की सृष्टि करते हैं। वे गरीबों और शोषितों के लिए प्रतिबद्ध लेखक हैं। इस पुस्तक के निर्धन और अकाल पीड़ित निरीह पात्रों में उनकी लेखकीय प्रतिबद्धता को देखा जा सकता है। लेखक विपदाग्रस्त मानवीयता के बीच संबल की तरह खड़ा दिखाई देता है।

स्वातंत्र्योत्तर युग

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के रिपोर्ताज लेखन का हिंदी में चलन बढ़ा। इस समय के लेखकों ने अभिव्यक्ति की विविध शैलियों को आधार बनाकर नए प्रयोग करने आरंभ कर दिए थे। रामनारायण उपाध्याय कृत 'अमीर और गरीब' रिपोर्ताज संग्रह में व्यंग्यात्मक शैली को आधार बनाकर समाज के शाश्वत विभाजन को चित्रित किया गया है। फणीश्वरनाथ रेणु के रिपोर्ताजों ने इस विधा को नई ताजगी दी। 'ऋण जल धन जल' रिपोर्ताज संग्रह में बिहार के अकाल को अभिव्यक्ति मिली है और 'नेपाली क्रांतिकथा' में नेपाल के लोकतांत्रिक आंदोलन को कथ्य बनाया गया है।

अन्य महत्त्वपूर्ण रिपोर्ताजों में भंदत आनंद कौसल्यायन कृत 'देश की मिट्टी बुलाती है', धर्मवीर भारती कृत 'युद्धयात्रा' और शमशेर बहादुर सिंह कृत 'प्लाट का मोर्चा' का नाम लिया जा सकता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अपने समय की समस्याओं से जूझती जनता को हमारे लेखकों ने अपने रिपोर्ताजों में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। लेकिन हिंदी रिपोर्ताज के बारे में यह भी सच है कि इस विधा को वह ऊँचाई नहीं मिल सकी जो कि इसे मिलनी चाहिए थी।

11

यात्रा साहित्य

मनुष्य जातियों का इतिहास उनकी यायावरी प्रवृत्ति से सम्बद्ध है। सम्भवत: यह मानव की एक मूल प्रवृत्ति है। प्रारम्भ में यह उसके लिए आवश्यक भी थी, परंतु उसके सौन्दर्यबोध के विकास के साथ चतुर्दिक फैले हुए जगत् का आकर्षण भी उसके लिए बढ़ता गया है। यहाँ के देशों में विविधता है, ऋतुओं में परिवर्तन होता है और साथ-साथ ही प्रकृति के रूपों में विभिन्नता और सौन्दर्य का वैचित्र्य है। इसके अतिरिक्त सर्जन में स्वत: एक गति है, जिसके साथ ताल मिलाकर चलना स्वत: एक उल्लास है। इस प्रकार सौन्दर्यबोध की दृष्टि से उल्लास की भावना से प्रेरित होकर यात्रा करने वाले यायावर एक प्रकार से साहित्यिक मनोवृत्ति के माने जा सकते हैं और उनकी मुक्त अभिव्यक्ति को यात्रा साहित्य कहा जाता है।

साहित्यिक यायावर को एक अद्‌भुत आकर्षण अपनी और खींचता है। वह मंत्रमुग्ध की भाँति उसकी और खिंच जाता है। संसार के लोग इस पुकार को सुन नहीं पाते या सुनकर भी अनसुना कर देते हैं। वे चलते हैं, यात्रा करते हैं, पर वे तेली के बैल की तरह अपने भार के साथ कोल्हू के चारों ओर घूमने में ही अपने परिश्रम की सार्थकता मान बैठते हैं, पर साहित्यिक यायावर मुक्त मनोवृत्ति के साथ घूमता है, उसकी यात्रा घुमक्कड़ी का अर्थ अपने आप पूर्ण होता है।

संसार के बड़े-बड़े यायावर अपनी मनोवृत्ति में साहित्यिक थे। फाह्यान, ह्वेन त्सांग, इत्सिंग, इब्न बतूता, अलबेरूनी, मार्कोपोलो, बर्नियर और टॅवरनियर

आदि जितने भी प्रसिद्ध घुमक्कड़ हुए हैं अथवा देश-विदेश के साहसी अन्वेषक हुए हैं, सब में 'साहित्यिक यायावर' का रूप रक्षित है। वे नि:संगभाव से घूमते रहे हैं। घूमना ही उनके लिए प्रधान उद्देश्य रहा है। यात्रा करने मात्र से कोई साहित्यिक यायावर की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता और ना ही यात्रा का विवरण प्रस्तुत कर देना मात्र 'यात्रा साहित्य' है।

पिछले युगों के यात्रियों में राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टि को प्रधानता मिली है, परंतु इनके बीच में ऐसे संस्मरणीय अंश भी हैं, जिनसे उनकी आंतरिक प्रेरणा का आभास मिल जाता है। भारत में यात्रियों की कमी नहीं रही है, क्योंकि तिब्बत, चीन, ब्रह्म देश(बर्मा), मलाया और सुदूर पूर्व के द्वीपों में भारतीय धर्म और संस्कृति का सन्देश इन यात्रियों के पीछे गया होगा, पर भारतीय दृष्टि में इतिहास, विवरण, संस्मरण तथा आत्मचरित के प्रति विचित्र अनास्था आरम्भ से रही है। सम्भत: यही प्रधान कारण है कि भारतीय साहित्य में उपर्युक्त अंगों के साथ यात्रा-विवरणों का नितांत अभाव है, परंतु कालिदास के विभिन्न देशों तथा प्राकृतिक रूपों के वर्णनों से उनकी यायावरी मनोवृत्ति का परिचय मिलता है। बाण की घुमक्कड़ प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति उनके 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी' के देश-देश की प्रकृति और नाना प्रकार के लोगों के वर्णनों में हुई है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में यह रूप भी कई अन्य रूपों के साथ पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क में आने के बाद ही विकसित हुआ है।

हिंदी यात्रा साहित्य का विकास

हिंदी यात्रा साहित्य का विकास अधिक नहीं हुआ है। साहित्येतिहास में भी यात्रा-साहित्य पर ज्यादा बातें नहीं लिखी गई हैं। बच्चन सिंह 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' में यात्रा-साहित्य पर केवल यही लिखकर चुप हो जाते हैं कि 'यात्रा-वृतांत लिखने वालों में रामनारायण मिश्र, सत्यदेव परिव्राजक, राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, देवेंद्र सत्यार्थी, अज्ञेय, धर्मवीर भारती प्रमुख हैं, 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' में यात्रा-साहित्य का नामोल्लेख भी नहीं मिलता, ऐसी स्थिति में हिंदी में उपलब्ध यात्रा-साहित्य की गुणवत्ता को परखने के लिए कोई कसौटी ही उपलब्ध नहीं होती। केवल प्रभाकर माचवे ने अपनी कृति 'अज्ञेय' में यात्रा-साहित्य पर थोड़ी-बहुत टिप्पणियाँ दी हैं।

यायावरी जीवन या घुमक्कड़ वृत्ति एक प्रकार का नशा ही है। अपनी जिज्ञासा-वृत्ति को शांत करने की इच्छा किसमें नहीं होती। इसलिए तो राहुल

सांकृत्यायन लिखते हैं–श्जिसने एक बार घुमक्कड़-धर्म अपना लिया, उसे पेंशन कहाँ, उसे विश्राम कहाँ? (किन्नर देश में) अज्ञेय लिखते हैं–श्यायावर को भटकते चालीस बरस हो गए, किंतु इस बीच न तो वह अपने पैरों तले घास जमने दे सका है, न ठाठ जमा सका है, न क्षितिज को कुछ निकट ला सका है।

यात्रा-साहित्य का उद्देश्य–यात्रा करना मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। हम अगर मानव इतिहास पर नजर डालें तो पाएँगे कि मनुष्य के विकास की गाथा में यायावरी का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अपने जीवन काल में हर आदमी कभी-न-कभी कोई-न-कोई यात्रा अवश्य करता है, लेकिन सृजनात्मक प्रतिभा के धनी अपने यात्रा अनुभवों को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर यात्रा-साहित्य की रचना करने में सक्षम हो पाते हैं। यात्रा-साहित्य का उद्देश्य लेखक के यात्रा अनुभवों को पाठकों के साथ बाँटना और पाठकों को भी उन स्थानों की यात्रा के लिए प्रेरित करना है। इन स्थानों की प्राकृतिक विशिष्टता, सामाजिक संरचना, सामाज के विविध वर्गों के सह-संबंध, वहाँ की भाषा, संस्कृति और सोच की जानकारी भी इस साहित्य से प्राप्त होती है।

आरंभिक युग

हिंदी साहित्य में अन्य गद्य विधाओं की भाँति ही भारतेंदु-युग से यात्रा-साहित्य का आरंभ माना जा सकता है। उनके संपादन में निकलने वाली पत्रिकाओं में 'हरिद्वार', 'लखनऊ', 'जबलपुर', 'सरयूपार की यात्रा', 'वैद्यनाथ की यात्रा' और 'जनकपुर की यात्रा' आदि यात्रा-साहित्य प्रकाशित हुआ। इन यात्रा-वृतांतों की भाषा व्यंग्यपूर्ण है और शैली बड़ी रोचक और सजीव है। इस समय के यात्रा-वृतांतों में हम दामोदर शास्त्री कृत 'मेरी पूर्व दिग्यात्रा' (सन् 1885), देवी प्रसाद खत्री कृत 'रामेश्वर यात्रा' (सन् 1893) को महत्त्वपूर्ण मान सकते हैं, किंतु यह यात्रा-साहित्य परिचयात्मक और किंचित स्थूल वर्णनों से युक्त है।

बाबू शिवप्रसाद गुप्त द्वारा लिखे गए यात्रा-वृतांत 'पृथ्वी प्रदक्षिणा' (सन् 1924) को हम आरंभिक यात्रा-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान दे सकते हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता चित्रात्मकता है। इसमें संसार भर के अनेक स्थानों का रोचक वर्णन है। लगभग इसी समय स्वामी सत्यदेव परिव्राजक कृत 'मेरी कैलाश यात्रा' (सन् 1915) तथा 'मेरी जर्मन यात्रा' (सन् 1926) महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने सन् 1936 में 'यात्रा मित्र' नामक पुस्तक लिखी, जो यात्रा-साहित्य के महत्त्व को

स्थापित करने का काम करती है। विदेशी यात्रा-विवरणों में कन्हैयालाल मिश्र कृत 'हमारी जापान यात्रा' (सन् 1931), रामनारायण मिश्र कृत 'यूरोप यात्रा के छः मास' और मौलवी महेशप्रसाद कृत 'मेरी ईरान यात्रा' (सन् 1930) यात्रा-साहित्य के अच्छे उदाहरण हैं।

स्वतंत्रता-पूर्व युग

यात्रा-साहित्य के विकास में राहुल सांकृत्यायान का योगदान अप्रतिम है। इतिवृत्त-प्रधान शैली होने के बावजूद गुणवत्ता और परिमाण की दृष्टि से इनके यात्रा-वृतांतों की तुलना में कोई दूसरा लेखक कहीं नहीं ठहरता है। 'मेरी तिब्बत यात्रा', 'मेरी लद्दाख यात्रा', 'किन्नर देश में', 'रूस में 25 मास', 'तिब्बत में सवा वर्ष', 'मेरी यूरोप यात्रा', 'यात्रा के पन्ने', 'जापान, ईरान, एशिया के दुर्गम खंडों में' आदि इनके कुछ प्रमुख यात्रा-वृतांत हैं। राहुल सांकृत्यायन के यात्रा-साहित्य में दो प्रकार की दृष्टि को साफ देखा जा सकता है। उनके एक प्रकार के लेखन में यात्राओं का केवल सामान्य वर्णन है और दूसरे प्रकार के यात्रा-साहित्य को शुद्ध साहित्यिक कहा जा सकता है। इस दूसरे प्रकार के यात्रा-साहित्य में राहुल सांकृत्यायन ने स्थान के साथ-साथ अपने समय को भी लिपिबद्ध किया है। सन् 1948 में इन्होंने 'घुम्मकड़ शास्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना की जिससे यात्रा करने की कला को सीखा जा सकता है। इनका अधिकांश यात्रा-साहित्य सन् 1926 से 1956 के बीच लिखा गया।

स्वातंत्र्योत्तर युग

राहुल सांकृत्यायन के बाद यात्रा-साहित्य में बहुमुखी प्रतिभा के धनी कवि-कथाकार अज्ञेय का नाम बड़े सम्मान से लिया जाता है। अज्ञेय अपने यात्रा-साहित्य को यात्रा-संस्मरण कहना पसंद करते थे। इससे उनका आशय यात्रा-वृतांतों में संस्मरण का समावेश कर देना था। उनका मानना था कि यात्राएँ न केवल बाहर की जाती हैं, बल्कि वे हमारे अंदर की ओर भी की जाती हैं। 'अरे यायावर रहेगा याद' (सन् 1953) और 'एक बूँद सहसा उछली' (सन् 1960) उनके द्वारा लिखित यात्रा-साहित्य की प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। 'अरे यायावर रहेगा याद' में उनके भारत भ्रमण का वर्णन है और दूसरी पुस्तक 'एक बूँद सहसा उछली में' उनकी विदेशी यात्राओं को शब्दबद्ध किया गया है। अज्ञेय के यात्रा-साहित्य की भाषा गद्य भाषा के नए मुकाम तक ले जाती है।

आजादी के बाद हिंदी साहित्य में बहुतायत से यात्रा-साहित्य का सृजन हुआ। अनेक प्रगतिशील लेखकों ने इस विधा को समृद्धि प्रदान की। रामवृक्ष बेनीपुरी कृत 'पैरों में पंख बाँधकर' (सन् 1952) तथा 'उड़ते चलो उड़ते चलो', यशपाल कृत 'लोहे की दीवार के दोनों ओर' (सन् 1953), भगवतशरण उपाध्याय कृत 'कलकत्ता से पेकिंग तक' (सन् 1953) तथा 'सागर की लहरों पर' (सन् 1959), प्रभाकर माचवे कृत 'गोरी नजरों में हम' (सन् 1964) उल्लेखनीय हैं।

यात्रा साहित्य के प्रकार

देश अथवा विदेश में यात्रा करने वाले जब उस यात्रा से संबंधित घटनाओं तथा अनुभवों को लिखित व साहित्यिक रूप प्रदान करते हैं, तो उसे यात्रा साहित्य की संज्ञा ही जाती है। यात्रा-वर्णन की चार प्रमुख प्रवृत्तियाँ मिल जाती हैं-(क) वर्णनात्मक अथवा परिचयात्मक (ख) देश-विदेश की सामाजिक स्थिति को प्रस्तुत करने वाली (ग) यात्रा से उद्‌भूत वैयक्तिक प्रतिक्रिया को व्यक्त करनेवाली तथा (घ) साहित्यिक। प्रथम पद्धति के अंतर्गत आनेवाले यात्रा साहित्य में यायावर जिस देश की यात्रा करता है, उसका वर्णन या परिचय मात्र प्रस्तुत कर देता है। राहुल सांकृत्यायन के अधिकांश यात्रा साहित्य इसी कोटि के है। दूसरी पद्धति के यात्रा-साहित्य में यायावर जिस देश की यात्रा करता है, उस देश की सामग्रिक परिस्थितियों का विशद अध्ययन कर उसे अपनी लेखनी में स्थान देता है, डॉ. सत्यनारायण सिन्हा का 'आवारे यूरोप की यात्रा' इसी प्रकार का यात्रा-साहित्य है। तीसरी पद्धति वाले यात्रा साहित्य का उदाहरण है। मोहन राकेश का 'आखिरी चट्टान तक', जिसमें राकेश ने दक्षिण भारत की यात्रा से मानस में उत्पन्न अनुभूतिओं को शब्दबद्ध किया है। चौथी तथा अंतिम पद्धति है-साहित्यिक। यात्रा-साहित्य लेखन की सर्वश्रेष्ठ पद्धति साहित्यिक ही है। अज्ञेय का यात्रा-साहित्य साहित्यिक यात्रा साहित्य के अंतर्गत आता है। हाँ, तीसरी पद्धति के यात्रा साहित्य के समान अपनी मानसिक प्रतिक्रिया को व्यक्त करने की प्रवृत्ति भी अज्ञेय में उपलब्ध है।

अज्ञेय का यात्रा साहित्य

अज्ञेय के यात्रा साहित्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-(क) भारत-भ्रमण से संबंधित, जिसमें उन्होंने असम से गुजरात तक तथा

कश्मीर से कुयाटिका तक की गई अपनी यात्राओं को साहित्यिक रूप प्रदान किया है। 'अरे यायावर रहेगा याद?' इसी कोटि का यात्रा-वृत्तांत है। (ख) विदेश भ्रमण से संबंधित जिसमें उन्होंने यूरोप, अमेरिका, जापान आदि देशों की यात्रा से प्राप्त अनुभवों को साहित्यिक रूप प्रदान किया है। 'एक बूँद सहसा उछली' विदेश भ्रमण पर आधारित यात्रा-साहित्य है।

'अरे यायावर रहेगा याद?' सर्वाधिक सफल यात्रा साहित्य है। इस पुस्तक की प्रशंसा करते हुए डॉ. रघुवशं लिखते हैं–'कुछ ऐसे यायावर हैं, जो अपने यात्रा-साहित्य को समग्र जीवन की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण करते हैं–उनके यात्रा-साहित्य में महाकाव्य और उपन्यास का विराट तत्त्व, कहानी का आकर्षण, गीतिकाव्य की मोहक भावशीलता, संस्मरणों की आत्मीयता सब एक साथ मिल जाती है। उत्कृष्ट यात्रा-साहित्य ऐसा ही होता है। अज्ञेय के 'अरे यायावर रहेगा याद?' में ऐसा ही सौंदर्य तथा आकर्षण है'। (हिंदी साहित्य कोश, भाग-2)

डॉ. रघुवंश के इस कथन से 'अरे यायावर रहेगा याद?' की श्रेष्ठता का प्रतिपादन ही नहीं होता, बल्कि श्रेष्ठ यात्रा-साहित्य को परखने के लिए सहायक आवश्यक तत्त्वों का भी खुलासा हो जाता है।

उत्कृष्ठ यात्रा-साहित्य का स्थायी महत्त्व होता है। जिसमें प्रतिभाशाली यायावर अपनी उत्कृष्ट अनुभूति तथा विचारों को कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। उत्कृष्ट यात्रा साहित्य पाठक के मन में अमिट प्रभाव छोड़ता है, जो प्राय: स्थायी होता है।

अरे यायावर रहेगा याद?' के कई लेखों में ललित निबंध सी विशेषताएँ मिल जाती हैं, लेखक पाठक से सीधी बातें करते हैं। ऐसी पंक्तियाँ बड़ी आकर्षक होती हैं। एक उदाहरण देखिए-श्वहाँ जाना नहीं हुआ। अभी तक अमरकंटक नहीं देखा है और इस प्रकार का कांटा अभी तक सालता ही है। पर नक्शे की यात्रा तो कई बार की है और अमरकंटक के बारे में उतना सब जानता हूँ, जो वहाँ जाकर जान पाता, ऐसा ही एक नाम था तरंगंबारी-यों नक्शे में उसका रूप विकृत होकर त्रांकुबार हो गया है। 'तरंगोंवाली बस्ती'-सागर के किनारे के गाँव का यह नाम सुनकर क्या आपके मन में तरंग नहीं उठती कि जाकर देखें। (बहता पानी निर्मला)

उत्कृष्ट यात्रा-साहित्य में जन-जीवन के साथ-साथ वहाँ की सांस्कृतिक झाँकियाँ भी प्रस्तुत की जाती हैं। 'अरे यायावर रहेगा याद?' में संकलित कई लेखों में अज्ञेय ने विराट भरतीय संस्कृति की झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं। एक

उदाहरण देखिए-'मदुरै की मीनाक्षी और तंजाबूर के बृहदीश्वर या कि चिदंवरम के नटराज? सभी के मंदिर अद्वितीय हैं और विराट की ओर उन्मुख एक श्रद्धा को मूर्त करते हैं, जो स्वयं हम में हो न हो अपनी स्वत: प्रमाणता से हमें चौंधिया जाती हैं। (सागर सेवित मेध मेखलित)

अज्ञेय ने यात्रा-साहित्य में अपने विचार और अनुभूति को भी कहीं-कहीं साकार रूप दिया है–विशेषकर ऐतिहासिक घटनाओं पर विचार व्यक्त करते समय। ऐतिहासिक तथ्य के अनुसार औरंगजेब ने भी अन्य शासकों की भाँति अपनी समाधि बनवा ली थी। दूसरी ओर एलोरा की गुफाएँ मिलती हैं, जो भारतीय संस्कृति की धरोहर है। दोनों की तुलना करते हुए अज्ञेय ने लिखा है–'अपनी समाधि पहले बनवा रखने की बात औरों को भी सूझती रही, ठीक है–मृत्युपूजक और भी रहे पर तुमने यह स्थल क्यों चुना?--तुम्हारे मातृघाती, पितृघाती, अपत्यघाती, कुलद्रोही कुनबे की कब्रें आज भी चकचक लिपी पुती हैं, लेकिन एलोरा आज भी एक अचरज है, बल्कि रंग न होने से उसका मूल सौंदर्य और उभर आया है और तुम-तुम्हारी समाधियाँ...,' (एलोरा)

इटली का ही एक नगर है फिरेंजे जिसे अंग्रेजी में फ्लोरेंस कहा गया है। इसी को अज्ञेय ने यूरोप की पुष्पावती कहा है। फिरेंजे के उद्यान, वहाँ के पुल के दोनों ओर स्थित दुकानों की पंक्तियाँ, उन दुकानों में प्राप्त विभिन्न आकर्षक वस्तुएँ, वहाँ से दृश्यमान खूबसूरत बलखाती हुई नदी कवि को मंत्र-मुग्ध बना देती है। लेखक की प्रतिक्रिया देखिए-शहम इतना तो पहचान सकते हैं कि यही कहीं दांते को उस अलौकिक प्रेम की उपलब्धि हुई होगी और मान सकते हैं कि वैसा होना अवश्य संभव रहा होगा।' यही नहीं, अपनी अनुभूति को अज्ञेय ने कविता के माध्यम से भी प्रस्तुत कर दिया है। जरा देखिए-दृश्य के भीतर से सहसा कुछ उमड़ कर बोला सुंदर के सम्मुख यह तुम्हारी जो उदासी है वह क्या केवल रूप, रूप, रूप की प्यासी है, जिसने बस रूप देखा है उसने बस भले ही कितनी भी उत्कट लालसा से केवल कुछ चाहा है, जिसने पर दिया अपना है दान उसने अपने को, अपने साथ सबको अपनी सर्वमयता को निबाहा है–

कवि हृदय अज्ञेय ने यूरोप के जनजीवन की व्यस्तता और उल्लास को ही नहीं देखा, बल्कि मृत्यु और उदासी को भी देखा, मृत्यु-बोध से वे पीड़ित भी हुए। अज्ञेय को यह अनुभव स्वीडन की राजधानी स्टाकहोम से उत्तरी दिशा में काफी दूरी पर स्थित एक जगह आबिस्कों में हुआ। अधिकांश यात्री वहाँ 'मध्यरात्रि का सूर्य' देखने जाते हैं। अत्यधिक ठंड उस वन प्रदेश में अज्ञेय को

झिल्ली और मच्छरों की गुंजार सुनाई देती है। कुछ दिन का मेहमान झिल्ली वहाँ अत्यधिक ठंड के कारण ठिठुरकर मर जाता है। फिर भी उनका उल्लास जारी है। अज्ञेय लिखते हैं–झिल्ली का अविरत उल्लास देता है संकेत कहीं क्या उसे मृत्यु है कितनी पास।'

एक बूँद सहसा उछली' में और भी अनेक ऐसे प्रसंग मिल जाते हैं, जो अज्ञेय के मृत्यु बोध, जिज्ञासा और जीवन-दर्शन को पाठक के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। अंततः कहा जा सकता है कि अज्ञेय का यात्रा-साहित्य हिंदी की श्रेष्ठतम साहित्यिक उपलब्धि है। अज्ञेय के समस्त साहित्य में नए प्रयोग के प्रति एक आग्रह मिलता है और यात्रा-साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है।

12

पत्र पत्रिकाएँ

पत्र-पत्रिकाएँ मानव समाज की दिशा-निर्देशिका मानी जाती हैं। समाज के भीतर घटती घटनाओं से लेकर परिवेश की समझ उत्पन्न करने का कार्य पत्रकारिता का प्रथम व महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है। राजनीतिक-सामाजिक चिंतन की समझ पैदा करने के साथ विचार की सामर्थ्य पत्रकारिता के माध्यम से ही उत्पन्न होती है। पत्रकारिता ने युगों से अपने इस दायित्व का निर्वाह किया तथा दायित्व-निर्वहन की समस्त कसौटियों को पूर्ण करते हुए समय-समय पर अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज की। यह अध्ययन करना अपने-आप में अत्यंत रोचक है कि पत्रकारिता की यह यात्रा कब और कैसे आरंभ हुई और किन पड़ावों से गुजरकर राष्ट्रीयता के मिशन से व्यावसायिकता तक की यात्रा को उसने संपन्न किया।

आशादी से पूर्व का युग राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय चेतना की अनुभूति के विकास का युग था। इस युग का मिशन और जीवनका उद्देश्य एक ही था—स्वाधीनता की चाह और प्राप्ति का प्रयास। इस प्रयास के तहत ही हिंदीपत्र-पत्रिकाओं का आरंभ हुआ। इस संदर्भ में इस तथ्य को भी ध्यान में रखना होगा कि हिंदी क्षेत्रों के बाहर भी विशेषकर हिंदीतर भाषी क्षेत्रों में भाषा को राष्ट्रीय अस्मिता का वाहक मानकर सभी पत्रकारों ने हिंदी को ही अपनी 'भाषा' के रूप में चुना और हिंदी भाषा के पत्र-पत्रिकाओं के संवर्धन में अपना योगदान दिया।

भारतेंदु के आगमन से पूर्व ही पत्रकारिता का आरंभ हो चुका था। हिंदी भाषा का प्रथम समाचार-पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' 30 मई, 1826 को कानपुर निवासी पं. युगल किशोर शुक्ल ने निकाला। सुखद आश्चर्य की बात यह थी कि यह पत्र बंगाल से निकला और बंगाल में ही हिंदी पत्रकारिता के बीज प्रस्पुफटित हुए। 'उदन्त मार्तण्ड' का मुख्य उद्देश्य भारतीयों को जागृत करना तथा भारतीयों के हितों की रक्षा करना था। यह बात इसके मुख पृष्ठ पर छपी पंक्ति से ही ज्ञात होती है–

यह उदन्त मार्तण्ड अब पहले पहल हिंदुस्तानियों के हित के हेतु जो आज तक किसी ने नहीं चलाया।

समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं का मूल उद्देश्य सदैव जनता की जागृति और जनता तक विचारों का सही संप्रेषण करना रहा है। महात्मा गांधी की पंक्तियाँ हैं–समाचार पत्र का पहला उद्देश्य जनता की इच्छाओं, विचारों को समझना और उन्हें व्यक्त करना है। दूसरा उद्देश्य जनता में वांछनीय भावनाओं को जागृत करना है। तीसरा उद्देश्य सार्वजनिक दोषों को निर्भयतापूर्वक प्रकट करना है।

समाचार-पत्र और पत्रिकाओं ने इन उद्देश्यों को अपनाते हुए आरंभ से ही भारतीयों के हित के लिए विचार को जागृत करने का कार्य किया। बंगाल से निकलने वाला 'उदन्त मार्तण्ड' जहाँ हिंदी भाषी शब्दावली का प्रयोग करके भाषा-निर्माण का प्रयास कर रहा था वहीं काशी से निकलने वाला प्रथम साप्ताहिक पत्र 'बनारस अखबार' पूर्णतया उर्दू और फारसीनिष्ठ रहा। भारतेंदु युग से पूर्व ही हिंदी काप्रथम समाचार-पत्र (दैनिक) 'समाचार सुधावर्षण' और आगरा से 'प्रजाहितैषी' का प्रकाशन हो चुका था। अर्जुन तिवारी पत्रकारिता के विकास को निम्नलिखित कालखण्डों में बाँटते हैं–

1. उद्भव काल (उद्बोधन काल)-1826-1884 ई.
2. विकासकाल
   (क) स्वातंत्रय पूर्व काल
   (अ) जागरण काल-1885-1919
   (आ) क्रांति काल-1920-1947
   (ख) स्वातंत्रयोत्तर काल-नवनिर्माण काल-1948-1974
3. वर्तमान काल (बहुउद्देशीय काल) 1975 ...

भारतेंदु ने अपने युग धर्म को पहचाना और युग को दिशा प्रदान की। भारतेंदु ने पत्र-पत्रिकाओं को पूर्णतया जागरण और स्वाधीनता की चेतना से जोड़ते हुए

1867 में 'कवि वचन सुधा' का प्रकाशन किया जिसका मूल वाक्य था–'अपधर्म छूटै, सत्व निज भारत गहै' भारत द्वारा सत्व ग्रहण करने के उद्देश्य को लेकर भारतेंदु ने हिंदी पत्रकारिता का विकास किया और आने वाले पत्रकारों के लिए दिशा-निर्माण किया। भारतेंदु ने कवि वचन सुधा, हरिश्चंद्र मैगशीन, बाला बोधिनी नामक पत्र निकाले। 'कवि वचन सुधा' को 1875 में साप्ताहिक किया गया जबकि अनेकानेक समस्याओं के कारण 1885 ई. में इसे बंद कर दिया गया। 1873 में भारतेंदु ने 'हरिश्चंद्र मैगजीन' का प्रकाशन किया जिसका नाम 1874 में बदलकर 'हरिश्चंद्र चन्द्रिका' कर दिया गया। देश के प्रति सजगता, समाज सुधार, राष्ट्रीय चेतना, मानवीयता, स्वाधीन होने की चाह इनके पत्रों की मूल विषयवस्तु थी। स्त्रियों को गृहस्थ धर्म और जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए भारतेंदु ने 'बाला बोधिनी' पत्रिका निकाली जिसका उद्देश्य महिलाओं के हित की बात करना था।

भारतेंदु से प्रेरणा पाकर भारतेंदु मण्डल के अन्य पत्रकारों ने भी पत्रों का प्रकाशन किया। पं. बालकृष्ण भट्ट का 'हिंदी प्रदीप' इस दिशा में अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रयास था। इस पत्र की शैली व्यंग्य और विनोद का सम्मिश्रण थी और व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग करते हुए जन जागृति का प्रयास करना इनका उद्देश्य था। इस पत्र का उद्घाटन करते हुए भारतेंदु ने लिखा –

सूझे विवेक विचार उन्नति, कुमति सब यामैं जरै।
हिन्दी प्रदीप प्रकाशि मुरखतादि भारत तम हरै।

1857 के संग्राम से प्रेरणा लेकर भारतवासियों की जागृति का यह प्रयास चल ही रहा था कि 14 मार्च 1878 को 'वर्नाकुलर प्रेस एक्ट' लागू कर दिया गया। लार्ड लिटन द्वारा लागू इस कानून का उद्देश्य पत्र-पत्रिकाओं की अभिव्यक्ति को दबाना और उनके स्वातंत्रय का हनन करना था। 'हिंदी प्रदीप' ने इस एक्ट की न केवल भर्त्सना की बल्कि उद्बोधनपरक लेख भी लिखे।

1881 में पं. बद्रीनारायण उपाध्याय ने 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्र निकाला और पं. प्रतापनारायण मिश्र ने कानपुर से 'ब्राह्मण' का प्रकाशन किया। 'आनन्द-कादम्बिनी' ने जहाँ साहित्यिक पत्रकारिता में योगदान दिया वहीं 'ब्राह्मण' ने अत्यंत धनाभाव में भी सर्वसाधारण तक जानकारी पहुँचाने का कार्य पूर्ण किया। 'ब्राह्मण' का योगदान साधारण व सरल गद्य के संदर्भ में भी महत्त्वपूर्ण है।

1890 में 'हिंदी बंगवासी' ने कांग्रेस परव्यंग्य की बौछार की वहीं 1891 में 'बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन' ने 'नागरी नीरद' का प्रकाशन किया। राष्ट्र को चैतन्य करना व अंग्रेशों की काली करतूतों का पर्दाफाश करना इस पत्र का उद्देश्य था। भारतेंदु युग से निकलने वाले पत्रों की मूल विषयवस्तु भारतीयों को जागृत करना तथा सत्य, न्याय और कर्तव्यनिष्ठा का प्रसार करना तथा जनता को एकता की भावना का पाठ पढ़ाना था।

यह युग राष्ट्रीय चेतना के प्रसार का युग था। पत्रकारों का उद्देश्य किसी भी प्रकार की व्यावसायिक पत्रकारिता को प्रश्रय देना नहीं था। वह पत्रकारिता का सही दिशा में सदुपयोग करते हुए आम जन के भीतर वह जोश एवं उमंग भरना चाहते थे जिसके द्वारा वह स्वयं खड़े होने का साहसकर सके। इसी राष्ट्रीयता का विस्तार था-सरकार की नीतियों का पर्दाफाश करना। ब्रिटिश सरकार की अनीतियों पर चढ़े नीतिगत मुलम्में को उतार कर उनके वास्तविक चेहरे का उद्घाटन करना इस काल के पत्रकारों का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य था। बालमुकुन्द गुप्त ने 'शिवशम्भु के चिट्ठे' में ब्राह्मण शिवशम्भु शर्मा के छद्म नाम सेलॉर्ड कर्जन की नीतियों पर व्यंग्य किया।

इस समय की दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ थीं-1. 1878 का वर्नाकुलर प्रेस एक्ट, 2. 1905 का बंग विभाजन। 1878के इस एक्ट द्वारा प्रेस कीआशादी पर पाबंदी लगाने का प्रयास किया गया। ब्रिटिश सरकार अपने खिलाफ स्वतंत्रता के स्वर उठाने वाले पत्रों का दमन करना चाहती थी और इसीलिए उन्होंने 1878 में प्रेस एक्ट लागू किया। 1879 में 'सारसुधानिधि' पत्र निकला। इसने न केवल इस एक्ट का विरोध किया बल्कि अपनी 'भाषा' हिंदी की समृद्धि के लिए व्याख्यान भी लिखे। अपने प्रयोजन की ओर संकेत करते हुए इन्होंने लिखा-... यथार्थ हिंदी भाषा का प्रचार करना और हिंदी लिखने वालों की संख्या में वृद्धि करना सार सुधानिधि का दूसरा प्रयोजन है। राष्ट्रीय चेतना के साथ-साथ भाषा की महत्ता स्थापित करने का प्रयास इस युग के सभी पत्रकारों का उद्देश्य था। यदि कहा जाए कि भाषा का प्रश्न राष्ट्रीयता का ही प्रश्न था; तो गलत नहीं होगा। सर्वसाधारण की जन-भाषा और हृदय को छू लेने वाली हिंदी का प्रयोग करना और करने के लिए तैयार करना इनका प्रमुख उद्देश्य था। सबसे बड़ी बात यह थी कि इन्होंने कहीं भी भाषा को प्रबुद्धजन से ही जोड़ने का आग्रह नहीं दिखाया, सामान्य जन की ही शब्दावली का प्रयोग करते हुए उन्हें सचेतन करने का प्रयास

किया। उदाहरण के लिए सारसुधानिधि में 'हिंदी भाषा' नाम से छपे लेख की भाषा द्रष्टव्य है–

' जब हम सोचते हैं तो पृथम दृष्टी हमारी भाषा पर पड़ती है, क्योंकि जब तक निष्कपट विशुद्ध भाषा की उन्नति नहीं होयगी जब तक निष्कपट सभ्यता और देश की उन्नति भी नहीं होगी।'

इस दिशा में सबसे बड़ा योगदान 'भारतेंदु' का है। भारतेंदु ने 1873 में कहा–'हिंदी नयी चाल में ढली'-यह नयी चाल भाषा की राह को सुगम बनाने का प्रयास थी जिसके लिए भारतेंदु ने सर्वाधिक प्रयास किया।

'माधुरी' का प्रकाशन 1921 से हुआ। यह छायावाद की प्रमुख पत्रिका थी परंतु अनेक अस्थिर नीतियों का इसे भी सामना करना पड़ा तथापि यह छायावाद की सबसे लोकप्रिय पत्रिका रही। श्री विष्णुनारायण भार्गव इस पत्रिका के संस्थापक थे। 'माधुरी' के मुख पृष्ठ पर दुलारे लाल भार्गव का लिखा दोहा प्रकाशित होता था –

सिता, मधुर मधु, सुधा तिय अधर माधुरी धन्य।
पै नव रस साहित्य की यह माधुरी अनन्य।

1922 में रामकृष्ण मिशन से जुड़े स्वामी माधवानन्द के संपादनमें 'समन्वय' का प्रकाशन हुआ। यह मासिक पत्र था। निराला की सूझ-बूझ और उनके पाण्डित्य का उत्कृष्ट उदाहरण यह पत्र है। आचार्य शिवपूजन सहाय और निराला ने विभिन्न उत्कृष्ट सामाजिक धाख्रमक लेखों द्वारा इस पत्र के माध्यम से सर्वसाधारण तक अपना स्थान बनाया।

निराला ने हिंदी भाषा सीखने के लिए 'सरस्वती' पत्रिका को आधार बनाया। वह इस पत्रिका के प्रति अपना धन्यवाद ज्ञापन करते हुए कहते हैं–'जिसकी हिंदी के प्रकाश के परिचय के समक्ष मैं आँख नहीं मिला सका, लजा कर हिंदी शिक्षा के संकल्प से कुछ दिनों बाद देश से विदेश, पिता के पास चला गया था और उस हिंदी हीन प्रांत में बिना शिक्षक के 'सरस्वती' की प्रतियाँ लेकर पदसाधना की और हिंदी सीखी।" 1923 में निकलने वाला 'मतवाला' निराला के गुणों से प्रदीप्त, अपने स्वरूप में भी निराला ही था। यद्यपि इसके संस्थापक महादेव प्रसाद सेठ थे तथापि इस पत्र की पूर्ण जिम्मेदारी शिवपूजन सहाय, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' व पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की ही थी। हास्य, व्यंग्य एवं विनोद का प्रयोग करके नई चेतना जगाने वाले इस पत्र के मुखपृष्ठ पर छपने वाली पंक्तियाँ थी। –

अमिय गरल, शशि सीकर रविकर
राग विराग भरा प्याला
पीते हैं, जो साधक उनका
प्यारा है यह 'मतवाला'।

मतवाले अंदाज के लिए मशहूर पत्र 'निराला' के निराले अंदाज का सूचक था। 'निराला' को यह उपनाम इसी पत्र द्वारा ही प्राप्त हुआ था। 'मतवाला' साहित्यिक योजनाओं को शीर्ष पर पहुँचाने का उत्कृष्ट माध्यम था। अपने युग के प्रति जागरूक रहने के साथ-साथ साहित्य की नवीन शैली का प्रादुर्भाव करने का श्रेय इस पत्र को है।

'सुधा' का संपादन 1927 में श्री दुलारे लाल भार्गव व पं. रूपनारायण पाण्डेय ने किया। इस पत्रिका का मूल उद्देश्य बेहतर साहित्य उत्पन्न करना, नए लेखकों को प्रोत्साहन देना, कृतियों को पुरस्कृत करना व विविध विषयों पर लेख छापना था। 'निराला' के आगमन से 'सुधा' को एक नई दिशा मिली। इस पत्रिका के प्रमुख विषयों में समाज सुधार, विज्ञान से लेकर साहित्य और गृहविज्ञान की सामग्री भी प्रकाशित होती थी।

छायावाद की पत्रकारिता इस दृष्टिकोण से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थी कि भाषा का एक नया संस्कार और भाषा में कोमलता-प्रांजलता लाने का श्रेय इस युग की पत्रिकाओं को था।

एक ओर इन पत्रिकाओं के माध्यम से स्वच्छंदतावाद की स्थापना हुई वहीं सामाजिक, राजनीतिक घटनाओं को स्वर मिला। अनेक सुंदर कविताओं का प्रकाशन इस युग की पत्रिकाओं में हुआ। 'जूही की कली', 'सरोज स्मृति', 'बादल राग' जैसी निराला की उत्कृष्ट कविताएँ 'मतवाला' में प्रकाशित हुई। 'जूही की कली' को मुक्त छंद के प्रवर्तन का श्रेय दिया जाता है।

'चाँद' पत्रिका में ही महादेवी वर्मा का अधिकांश साहित्य छपा। 'छायावाद' के प्रसिद्ध रचनाकारों में से सुमित्रानंदन पंत जी ने 'रूपाभ' का प्रकाशन किया।

प्रेमचंद ने 1932 में 'जागरण' और 1936 में 'हंस' का प्रकाशन किया। 'हंस' का उद्देश्य समाज का आह्वान करना था। 'हंस' साहित्यिक पत्रिका थी जिसमें साहित्य की विविध विधाओं का प्रकाशन किया जाता था। महात्मा गांधी की अहिंसा को साहित्य के माध्यम से स्थापित करने वाले प्रेमचंद ने 'हंस' में भी इसी आदर्श को स्वर दिया। स्वतंत्रता के प्रति महात्मा गांधी के निरंतर प्रयास को

महसूस करते हुए 'हंस' ने लिखा–भारत के कर्णधार महात्मा गांधी ने इस विचार की सृष्टि कर दी। अब वह बढ़ेगा, फूले फलेगा। हमारा यह धर्म है कि उस दिन को जल्द से जल्द लाने के लिए तपस्या करते रहें। यही हंस का ध्येय होगा और इसी ध्येय के अनुवूफल उसकी नीति होगी।

गांधी की नीतियों का समर्थन, स्वराज्य स्थापना के लिए जागरण का प्रयास और साहित्यिक विधाओं का विकास ही 'हंस' का लक्ष्य था। प्रेमचंद के पश्चात् शिवरानी देवी, विष्णुराव पराड़कर, जैनेन्द्र, शिवदान सिंह चौहान, अमृतराय ने इस पत्रिका का संपादन किया। 'हंस' अब एक नए रूप में और नए आदर्श-यथार्थ को समन्वित करके नए ज्वलंत प्रश्नों को उभारते हुए राजेन्द्र यादव द्वारा निकाली जारही है। अब इसका प्रमुख स्वर -किसान और स्त्री एवं दलित पीड़ा का है। इन तीनों वर्गों की सशक्त उपस्थिति इसमें देखी जा सकती है। शोषित वर्ग की आवाश 'हंस' में प्रमुखता से स्थान प्राप्त कर रही है।

स्वतंत्रता से पूर्व अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं ने दोहरे कार्य को लेकर उसे पूर्ण करने का प्रयास किया–

1. राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार
2. साहित्य की विविध विधाओं का विकास।

इसी के साथ भाषा के विविधवर्णी रंगों की खोज और साहित्यके दोनों पक्षों–गद्य एवं पद्य की स्थापना करनाभी इनका लक्ष्य था जिसे कवि-हृदय पत्रकारों ने पूर्ण किया।

1947 में मिली स्वतंत्रता के पश्चात् भारत को लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने और इसकी संप्रभुता की रक्षा करने का संकल्प प्रत्येक भारतवासी ने किया। अपनी भाषा की समृद्धि और उसका विकास करने की चाह सभी के हृदय में विद्यमान थी परंतु धीरे-धीरे राजभाषा विधेयकों के माध्यम सेहिंदी की उपेक्षा करके अंग्रेजी को उसके माथे पर बिठाने की तैयारी की योजनाएँ बनने लगीं। 12 मई, 1963 को 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में बांके बिहारी भटनागर ने हिंदी के समर्थन में लिखा–'भारत के सुदर्शनधारियों आँखें खोलकर देखो, अंग्रेजी का दु:शासन आज राष्ट्रभाषा का चीर हरने की हठधर्मी ठाने खड़ा है। सब भाषाओं को मिलकर राष्ट्रभाषा का चीर बढ़ाना होगा।" स्वतंत्रता के पश्चात् पत्रकारिता के समक्षअनेक आदर्श थे। उन्हें आशादी की सौंधी सुगंध से लेकर आने वाली पंचवर्षीय योजनाओं के स्वरूप से जनता को परिचित कराना था, विकास-काल की स्वर्णिम योजनाओं पर प्रकाश डालना था और

साथ ही युगीन शमीनी सच्चाइयों को भी अनावृत्त करना था। इसी के साथ-साथ पाठक की चेतना में प्रवेश करके उसकी रुचि को संस्कारित करना भी पत्रकारिता का ही दायित्व था।

इसके बावजूद पत्र-पत्रिकाएँ आज भी किसी सीमा तक अपने दायित्व को पूर्ण कर रही हैं। आज मुख्य रूप से पत्र-पत्रिकाएँ तीन कार्यों को निभा रही हैं–

1. साहित्यिक अभिरुचि का विकास
2. राजनीतिक सूचनाओं में अभिवृद्धि
3. सांस्कृतिक एवं मनोरजंक सूचनाएँ।

इसके अतिरिक्त खेल, शिक्षा और कैरियर संबंधी दिशाएँ सुझाने का कार्य भी पत्रों द्वारा किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त पत्रों द्वारा 'अतिरिक्तांक' या 'विशेषांक' भी निकाले जाते हैं, जिनमें–साहित्य, संस्कृति, ज्ञान, विज्ञान, खेल, कृषि, जनसंख्या, समसामयिकी आदि विषयों पर पूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

इसके अतिरिक्त आजकल प्रत्येक दिन पत्र के साथ कोई विशेष अंक भी आता है, जिसमें अलग-अलग दिन अलग-अलग विषयों के लिए निर्धारित रहते हैं। अनेक उत्कृष्ट साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की शुरुआत धर्मयुग, उत्कर्ष, ज्ञानोदय, नये पत्ते, पाटल, प्रतीक, निकष से हुई जो अब तक कादम्बिनी, नया ज्ञानोदय, सरिता, आलोचना, इतिहास बोध, हंस, आजकल तक विकसित हो रही है। यद्यपि अनेक पत्रिकाएँ प्रसिद्ध व स्थापित नामों को महत्त्व देती हैं पर नवीन उभरती पत्रिकाएँ नए नामों और नए विचारों को भी प्रोत्साहन दे रही हैं। कथन, कथादेश, स्त्री मुक्ति, अनभै सांचा आदि अन्य महत्त्वपूर्ण पत्रिकाएँ हैं।

पत्र-पत्रिकाओं में नवीन विचारों और मान्यताओं को प्रश्रय मिलने के कारण भाषा व शिल्प में भी लचीलापन आयाहै। कविताओं में छंदबद्धता के प्रति आग्रह टूटा है। नित नई कहानी व कविता प्रतियोगिता आयोजित की जाती हैं और उनसे जुड़े रचनाकारों को सम्मानित भी किया जाता है।

अनेक पत्रिकाएँ तो किसी विशेष विधा को केंद्र में रखकर ही कार्य कर रही हैं। इससे उस विधा विशेष का तो विकास होता ही है साथ ही पाठकों को भी रुचि के अनुरूप चयन की सुविधा मिल जाती है यथा –

'रंग प्रसंग' (नेशनल स्वूफल ऑफ ड्रामा) राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा निकाली जाती है। इसके प्रत्येक नए अंक में एक नएनाटक को प्रस्तुत किया जाता है। इसके अतिरिक्त नाट्य एवं रंगकर्मियों के अनुभवों से जनता को–ब-रू कराया जाता है। 'नटरंग' भी नाट्य जगत् की सुप्रसिद्ध पत्रिका है, जिसका प्रकाशन अभी

तक नेमिचंद जैन जी द्वारा किया जाता रहा। नाटक के विविध रंगों की छटा उकेरती यह पत्रिका अपने आप में अनुपम है।

'अखण्ड ज्योति' जहाँ धर्म और अध्यात्मको स्थान देती है वहीं 'योजना' में उद्योग जगत की खबरों को प्रमुखता मिलती है। फिल्मी दुनिया, फिल्मी कलियाँ जहाँ मनोरंजन उद्योग की तस्वीर उकेरती हैं वही गृहशोभा, मनोरमा स्त्रियों के निजी संसार में हस्तक्षेप करती है। बच्चों के लिए चन्दामामा, नन्हें सम्राट्, चंपक, नए क्षितिज खोलती हैं वही 'विज्ञान डाइजेस्ट' विज्ञान के नए आविष्कारों से परिचय कराती है। मनोरमा इयर बुक प्रायः सभी विषयों को वर्ष भर के घटनाक्रम से जोड़कर प्रस्तुत करती है। भाषा के स्तर पर भी इन पत्रिकाओं ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। आज समाचार पत्रों में 'हाइब्रिड' या 'संकर' भाषा काप्रयोग अधिक है। यूँ तो छोटे-छोटे और सरल वाक्यों का प्रचलन बढ़ा है। यही कारण है कि अधिकांश पत्र फीचर लेखन को विशेष महत्त्व देते हैं, क्योंकि उनकी भाषा हास्य-व्यंग्य के चुटीले वाक्यों से भरपूर किसी स्थिति को रोचक ढंग से उकेरने में समर्थ होती है। साथ ही पत्र-पत्रिकाओं ने अनेक हिंदी अंग्रेजी शब्दों को जोड़कर नई शब्दावली का भी विकास किया है, जो आम बोलचाल में भी प्रयोग की जाने लगी है।

इसके अतिरिक्त अनेक समस्याओं जैसे –

1. अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं की तुलना में बेहतर प्रदर्शन
2. अधिकांश समाचारों के अनुवाद की समस्या का भी हिंदी पत्रों को सामना करना पड़ता है। इसके बावजूद पत्र-पत्रिकाएँ निरंतर प्रगति कर रही हैं और इसे देखते हुए पत्रकारिता के बेहतर भविष्य की उम्मीद की जा सकती है।

स्वतंत्रता के बाद के पत्र-पत्रिकाओं का विश्लेषण अलग-अलग करना उचित होगा।

आजकल के महत्त्वपूर्ण समाचार पत्रों में 'हिंदुस्तान' का नाम एवं स्थान अग्रणी है। मृणाल पाण्डे के संपादनमें यह पत्र एच.टी. मीडियालिमिटेड के द्वारा कस्तूरबा गांधी मार्ग से प्रकाशित होता है। इस पत्र का प्रकाशन 1936से हो रहा है। इसके प्रथम संपादक सत्यदेव विद्यालंकार थे। इस पत्र में राजनीतिक, सामाजिक, आख्थक सूचनाओं के साथ-साथ साहित्य संबंधी सामग्री, पुस्तक समीक्षा विशेष रूप से प्रकाशित की जाती है।

मृणाल पाण्डे साहित्य क्षेत्र से एक लंबे समय से जुड़ी रही हैं तथा बाल-पत्रिकाओं जैसे 'नंदन' से लेकर साहित्य जगत् की 'कादम्बिनी' का भी वह संपादन करती रही हैं। ऐसे में 'हिंदुस्तान' के संपादक के रूप में उनके आने से इसे एक नया रूप तो मिला ही है साथ ही साहित्य काभी अधिक उत्कृष्ट और नवीन रूप पत्र में दिखाई देने लगा है। भाषा में भी सरलता आई है तथा व्यंग्य और फीचर का मेल अधिक दिखाई दे रहा है।

आज के प्रतियोगी माहौल में विविध अवसरों की खोज और उनके विषय में जानने की इच्छा प्रत्येक युवा में पाई जातीहै। एक ही साथ अनेक अवसरों, अनेक नवीन विषयों, प्रतियोगी परीक्षाओं, परीक्षा की तिथियों की जानकारी के साथ नवीन अवसरों और दिशाओं की जानकारी 'रोजगारसमाचार' के माध्यम सेप्राप्त होती है। यह पत्र कुल 64 पृष्ठों में 'सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय' से प्रकाशित किया जाता है। आजकल इसके संपादक राजेन्द्र चौधरी हैं।

कुछ महत्त्वपूर्ण पत्रिकाएँ इस प्रकार हैं–

'हंस'–प्रेमचंद द्वारा आरंभ एवं स्थापित की गई यह पत्रिका अब राजेन्द्र यादव द्वारा निकाली जा रही है। स्त्री एवं दलित वर्ग की अभिव्यक्ति को आधार देती यह पत्रिका विविध लेखों और कहानियों के साथ अपने विवादास्पद मुद्दों को नए सिरे से उठाती संपादकीय लेखनी के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

हिंदुस्तान टाइम्स समूह द्वारा प्रकाशित एक महत्त्वपूर्ण पत्रिका है–कादम्बिनी। इसका प्रकाशन 1960 से आरंभ हुआ। इसके प्रथम संपादक बालकृष्ण राव थे। आजकल यह पत्रिका मृणाल पाण्डे, राजेन्द्र अवस्थी के संपादन में प्रकाशित होती है। विविध उत्कृष्ट विषयों से युक्त यह पत्रिका प्रत्येक बार किसी विशेष विषय को आधार बनाकर अपना मत प्रकट करती है। कभी तो यह विषय पूर्णतया साहित्यिक होता है जैसे कमलेश्वर विशेषांक तो कभी विज्ञान, आयुर्वेद पर आधारित जैसे वैकल्पिक चिकित्सा। इसके स्थायी स्तंभ हैं–लोकमत, यांत्रिक, दृष्टिकोण, उपभोक्ता सरोकार, ग्रह नक्षत्र, कला दीर्घा, कसौटी, क्लब समाचार, विधि, सांस्कृतिक डायरी, हंसते-हंसाते आदि। इन स्तंभों के नाम से ही ज्ञात हो जाता है कि पत्रिका विविध विषयों को लेकर समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुकी है।

पहले ज्ञानोदय के नाम से निकलने वाली प्रसिद्ध पत्रिका अब 'नया ज्ञानोदय' के नाम से प्रभाकर श्रोत्रिय के संपादन में प्रकाशित होती है। विविध कथाओं के अनुवाद करने और भाषाओं को समानांतर स्तर पर लाने के संदर्भ में इस पत्रिका

का विशिष्ट योगदान है। इसके स्थायी स्तंभों में हस्तक्षेप, कहानी, भाषांतर, कविता, साक्षात्कार, यात्रा वृत्तांत, पुस्तक समीक्षा हैं। नई पुस्तकों से परिचित कराने व भाषाओं को जोड़ने में इनका विशेष योगदान है। भारतीय-अमरीकी मित्रों के सहयोग से आरंभ की गई पत्रिका 'अन्यथा' कृष्ण किशोर के संपादन में संयुक्तराज्य अमरीका से निकाली जाती है। स्त्री की पीड़ा को आधार बनाती यह पत्रिका प्रवासी भारतीयों को जोड़ने का प्रयास है। समाज, संस्कृति, शिक्षा, स्वास्थ्य, सिनेमा, समीक्षा, सामयिकी और परिवेश को आधार बनाती यह पत्रिका भारत और अमरीका में लोकप्रिय हो रही है।

'कसौटी' के कुल 15 अंक ही प्रकाशित हुए। वित्तीय कारणों से इस पत्रिका को बंद करना पड़ा अन्यथा यह भी सत्य है कि नंदकिशोर नवल ने इस पत्रिका के अत्यंत उच्च साहित्यिक स्तर को सदैव बनाए रखा। कविता, उपन्यास, नाटक, इतिहास, आलोचना को बेहतर तरीके से प्रकाशित करते हुए इस पत्रिका ने सभी अंकों को बेहतर रूप से प्रदख़शत किया।

साहित्य के क्षेत्र में अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज कराती पत्रिका 'वागर्थ' आज की समस्याओं–विशेषकर महानगरीय उपभोक्ता संस्कृति को दर्शाती इस पत्रिका ने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया है। बाशारवाद, उपभोक्तावाद और विश्ववाद से लेकर कहानी, यात्रा, संवाद व मीडिया के क्षेत्र में अत्यंत उत्कृष्ट लेख इसमें प्रकाशित हो रहे हैं। इसके प्रकाशक हैं–परमानन्द चूड़ीवाल।

वित्तीय संकटों के बावजूद बेहतर पत्रिका का नमूना प्रस्तुत करती पत्रिका 'इतिहास बोध' लाल बहादुर वर्मा के संपादनमें इलाहाबाद से प्रकाशित की जाती है। साहित्य के साथ-साथ मीडिया, इतिहास, विश्व, संस्कृति और समसामयिकी को केंद्र बनाती यह पत्रिका धीरे-धीरे बाशार में अपना स्थान बना रही है।

दैनिक भास्कर समूह द्वाराप्रकाशित पत्रिका 'अहा! जिन्दगी' साहित्य के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों के विशिष्ट व्यक्तियों के जीवन को जानने का प्रयास करती है। भविष्य की दुनिया के कयास लगाती इस पत्रिका के संपादक यशवंतव्यास हैं। भाषा व विषय के स्तर पर यह पत्रिका अत्यंत सरल पर उत्कृष्ट है।

'भाषा' पत्रिका भारतीय भाषाओं एवं साहित्य की महत्त्वपूर्ण पत्रिका है। केंद्रीय हिंदी निदेशालय, माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित यह पत्रिका डॉ. शशि भारद्वाज के संपादन में प्रकाशित की जाती है। भाषा और अनुवाद, भाषा और

कम्प्यूटरीकरण, भाषा और भाषा प्रौद्योगिकी, सूचना और साहित्य, साहित्य एवं विज्ञान जैसे मुद्दों पर विचार करना इनका महत्त्वपूर्ण कार्य है।

'योजना' विकास योजनाओं को समखपत पत्रिका है। कुल 72 पृष्ठों में सजी इस पत्रिका का प्रकाशन विश्वनाथ त्रिपाठी के संपादन में योजनाभवन, नई दिल्ली से होता है। यह पत्रिका हिंदी के साथ -असमिया, बंगाली, गुजराती, अंग्रेजी, कन्नड़, मलयालम, मराठी, तमिल, उड़िया, पंजाबी, तेलुगू, उर्दू में भी प्रकाशित की जाती है। भारत के एशिया के साथ आकथ संबंध, भूमंडलीकरण के विविध रूप, स्वास्थ्य, चिकित्सा, विकास योजनाएँ इसकी प्रमुख चिंता के विषय हैं।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि हिंदी पत्र-पत्रिकाओं ने अनेक उतार-चढ़ाव का सामना करते हुए भाषा और विषय को परिपक्व किया है व अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज की है।

13

आलोचना

आलोचना

आलोचना या समालोचना किसी वस्तु अथवा विषय की, उसके लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए, उसके गुण-दोषों एवं उपयुक्तता का विवेचन करने वालि साहित्यिक विधा है। हिन्दी आलोचना की शुरुआत 19वीं सदी के उत्तरार्ध में भारतेन्दु युग से ही मानी जाती है।

अर्थ तथा परिभाषा

'आलोचना' शब्द 'लुच' धातु से बना है। 'लुच' का अर्थ है 'देखना'। समीक्षा और समालोचना शब्दों का भी यही अर्थ है। अंग्रेजी के 'क्रिटिसिज्म' शब्द के समानार्थी रूप में 'आलोचना' का व्यवहार होता है। संस्कृत में प्रचलित 'टीका-व्याख्या' और 'काव्य-सिद्धान्त निरूपण' के लिए भी आलोचना शब्द का प्रयोग कर लिया जाता है, किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का स्पष्ट मत है कि आधुनिक आलोचना, संस्कृत के काव्य-सिद्धान्त निरूपण से स्वतंत्र चीज है। आलोचना का कार्य है किसी साहित्यक रचना की अच्छी तरह परीक्षा करके उसके रूप, गुण और अर्थव्यस्था का निर्धारण करना।

डॉक्टर श्यामसुन्दर दास ने आलोचना की परिभाषा इन शब्दों में दी है–

'यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।'

अर्थात् आलोचना का कर्तव्य साहित्यक कृति की विश्लेषणपरक व्याख्या है। साहित्यकार जीवन और अनभुव के जिन तत्त्वों के संश्लेषण से साहित्य रचना करता है, आलोचना उन्हीं तत्त्वों का विश्लेषण करती है। साहित्य में जहाँ रागतत्त्व प्रधान है, वहाँ आलोचना में बुद्धि तत्त्व। आलोचना ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों का भी आकलन करती है और साहित्य पर उनके पड़ने वाले प्रभावों की विवेचना करती है। व्यक्तिगत रुचि के आधार पर किसी कृति की निन्दा या प्रशंसा करना आलोचना का धर्म नहीं है। कृति की व्याख्या और विश्लेषण के लिए आलोचना में पद्धति और प्रणाली का महत्त्व होता है। आलोचना करते समय आलोचक अपने व्यक्तिगत राग-द्वेष, रुचि-अरुचि से तभी बच सकता है, जब पद्धति का अनुसरण करे, वह तभी वस्तुनिष्ठ होकर साहित्य के प्रति न्याय कर सकता है। इस दृष्टि से हिन्दी में रामचन्द्र शुक्ल को सर्वश्रेष्ठ आलोचक माना जाता है।

आलोचना या समालोचना (Criticism) किसी वस्तु/विषय की, उसके लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए, उसके गुण-दोषों एवं उपयुक्ततता का विवेचन करने वालि साहित्यिक विधा है। हिंदी आलोचना की शुरुआत 19वीं सदी के उत्तरार्ध में भारतेन्दु युग से ही मानी जाती है। समालोचना का शाब्दिक अर्थ है - अच्छी तरह देखना।

आलोचना शब्द लुच धातु से बना है। लुच का अर्थ है देखना। समीक्षा और समालोचना शब्दों का भी यही अर्थ है। अंग्रेजी के क्रिटिसिज्म शब्द के समानार्थी रूप में आलोचना का व्यवहार होता है। संस्कृत में प्रचलित टीका-व्याख्या और काव्य-सिद्धान्त निरूपण के लिए भी आलोचना शब्द का प्रयोग कर लिया जाता है, किन्तु आचार्य रामचन्द्रशुक्ल का स्पष्ट मत है कि आधुनिक आलोचना, संस्कृत के काव्य-सिद्धान्तनिरूपण से स्वतंत्र चीज है। आलोचना का कार्य है किसी साहित्यक रचना की अच्छी तरह परीक्षा करके उसके रूप, गणु और अर्थव्यस्था का निर्धारण करना।

डॉ. श्यामसुन्दर दास ने आलोचना की परिभाषा इन शब्दों में दी है–

'यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।'

अर्थात् आलोचना का कर्तव्य किसी साहित्यक कृति की विश्लेषण परक व्याख्या है। साहित्यकार जीवन और अनभुव के जिन तत्त्वों के संश्लेषण से साहित्य रचना करता है, आलोचना उन्हीं तत्त्वों का विश्लेषण करती है। साहित्य में जहाँ रागतत्त्व प्रधान है वहाँ आलोचना में बुद्धि तत्त्व। आलोचना ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों और स्थितियों का भी आकलन करती है और साहित्य पर उनके पड़ने वाले प्रभावों की विवेचना करती है।

व्यक्तिगत रुचि के आधार पर किसी कृति की निन्दा या प्रशंसा करना आलोचना का धर्म नहीं है। कृति की व्याख्या और विश्लेषण के लिए आलोचना में पद्धति और प्रणाली का महत्त्व होता है। आलोचना करते समय आलोचक अपने व्यक्तिगत राग-द्वेष, रुचि-अरुचि से तभी बच सकता है, जब पद्धति का अनुसरण करे, वह तभी वस्तुनिष्ठ होकर साहित्य के प्रति न्याय कर सकता है। इस दृष्टि से हिन्दी में आचार्य रामचन्द्रशुक्ल को सर्वश्रेष्ठ आलोचक माना जाता है।

आलोचना के प्रकार

आलोचना करते समय जिन मान्यताओं और पद्धतियों को स्वीकार किया जाता है, उनके अनुसार आलोचना के प्रकार विकसित हो जाते हैं। सामान्यत: समीक्षा के चार प्रकारों को स्वीकार किया गया है:-

1. सैद्धान्तिक आलोचना
2. निर्णयात्मक आलोचना
3. प्रभावाभिव्यजंक आलोचना
4. व्याख्यात्मक आलोचना।

सैद्धान्तिक आलोचना

सैद्धान्तिक आलोचना में साहित्य के सिद्धान्तों पर विचार होता है। इसमें प्राचीन शास्त्रीय काव्यागों-रस, अलंकार आदि और साहित्य की आधुनिक मान्यताओं तथा नियमों की मुख्य रूप से विवचेना की जाती है। सैद्धान्तिक आलोचना में विचार का बिन्दु यह है कि साहित्य का मानदंड शास्त्रीय है या ऐतिहासिक। मानदंड का शास्त्रीय रूप, स्थिर और अपरिवर्तनशील होता है, किन्तु मानदंडों को ऐतिहासिक श्रेणी मानने पर उनका स्वरूप परिवर्तनशील और विकासात्मक होता है। दोनों प्रकार की सैद्धान्तिक आलोचनाएँ उपलब्ध हैं, किन्तु

अब उसी सैद्धान्तिक आलोचना का महत्त्व अधिक है, जो साहित्य के तत्त्वों और नियमों की ऐतिहासिक प्रक्रिया में विकासमान मानती है।

निर्णयात्मक आलोचना

निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर जब साहित्य के गणु-दोष, श्रेष्ठ-निकृष्ट का निर्णय कर दिया जाता है तब उसे निर्णयात्मक आलोचना कहते हैं। इसे एक प्रकार की नैतिक आलोचना भी माना जाता है। इसका मुख्य स्वभाव न्यायाधीश की तरह साहित्यिक कृतियों पर निर्णय देना है। ऐसी आलोचना प्रायः ही सिद्धान्त का यांत्रिक ढंग से उपयोग करती है। इसलिए निर्णयात्मक आलोचना का महत्त्व कम हो जाता है।

यद्यपि मूल्य या श्रेष्ठ साहित्य और निकृष्ट साहित्य का बोध पैदा करना आलोचना के प्रधान धर्मों में से एक है, लेकिन वह सिद्धान्तों के यांत्रिक उपयोग से नहीं सभंव है। हिन्दी साहित्य कोश में निर्णयात्मक आलोचना के विषय में बताया गया है–

वह कृतियों की श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता के संबंध में निर्णय देती है। इस निर्णय में वह साहित्य तथा कला संबन्धी नियमों से सहायता लेती है, किन्तु ये नियम साहित्य और कला के सहज रूप से संबंध रख बाह्य रूप से आरोपित हैं।

इस प्रकार आलोचना में निर्णय विवाद का बिन्दु उतना नहीं है, जितना निर्णय के लिए अपनाया गया तरीका। जैसे, रामचन्द्रशुक्ल, की आलोचना में मूल्य निर्णय है, लेकिन उसका तरीका सृजनात्मक है, यांत्रिक नहीं। निर्णयात्मक आलोचना में मूल्य और तरीका, दोनों में लचीलापन नहीं होता।

प्रभावाभिव्यजंक आलोचना

इस आलोचना में काव्य का जो प्रभाव आलोचक केमन पर पड़ता है उसे वह सजीले पद-विन्यास में व्यस्त कर देता है। इसमें वयैक्तिक रुचि ही मुख्य है। प्रभावा भिव्यजंक समालोचना कोई ठक-ठकाने की वस्तु नहीं है। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका मूल्य है न भाव के क्षेत्र में।

अच्छे आलोचक के गुण

एक अच्छे आलोचक में इन गुणों का होना आवश्यक है- निष्पक्षता, साहस, सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण, इतिहास और वर्तमान का सम्यक ज्ञान,

देशी-विदेशी साहित्य और कलाओं का ज्ञान, संवेदनशीलता, अध्ययनशीलता और मननशीलता। इन गुणों के अभाव में कोई आलोचक किसी रचना के ऊपरी गुण-दोष तो रेखांकित कर सकता है, उसके अंदर तक पैठ पाने की क्षमता उसके पास नहीं होती। ऐसी पल्लवग्राही आलोचनाएँ न तो पाठकों को कोई दिशा दे पाती हैं और न ही रचना के साथ न्याय कर पाती हैं।

आलोचना तथा काव्यशास्त्र में अंतर

आलोचना और काव्यशास्त्र के अन्तर को समझने के लिए काव्यशास्त्र के अर्थ को समझना भी आवश्यक है।

काव्यशास्त्र

अर्थ-काव्य या साहित्य का मूल्यांकन करने वाला या साहित्य सौंदर्य की परख करने वाला शास्त्रा (विधा) काव्यशास्त्र कहलाता है। हिन्दी साहित्य कोश में भी काव्यशास्त्र का यही अर्थ दिया गया है। काव्य के अनुशीलन के लिए जिस शास्त्र का ज्ञान आवश्यक है, वही काव्यशास्त्र है। काव्यशास्त्री राजशेखर का मत है- जैसे दीपक के प्रकाश के बिना पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता उसी प्रकार शास्त्र-ज्ञान के बिना काव्य-ज्ञान असंभव है। आगे उसकी व्याख्या करते हुए लिखा है-शब्द और अर्थ के सहभाव को बताने वाली विधा (शास्त्र) साहित्य विधा है। इस प्रकार काव्यशास्त्र के अंतर्गत काव्य-साहित्य के उन मानदंडों पर विचार किया जाता है, जिनके आधार पर किसी रचना की परीक्षा की जा सके। भारतीय काव्यशास्त्र में अनेक दृष्टिकोणों से इन मापदंडों पर विचार किया जाता रहा है। जैसे- काव्य की आत्मा क्या है- रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोति का औचित्य? काव्य के हेतु क्या हैं? काव्य के लक्षण कौन से हैं? किस प्रकार की कविता कौन से छंदों में बाँधने योग्य है? काव्य का रूप क्या है? बाद में नायक-नायिका भेद भी इस शास्त्र से जुड़ गये। पश्चिम में भी अनेक विचारकों ने इन प्रश्नों पर विचार किया। अरस्तू, प्लेटो, क्रोचे, मैथ्यू आर्नल्ड, आई.ए. रिचर्डस आदि अनेक नाम इस संदर्भ में गिनाये जा सकते हैं। इन सभी काव्यशास्त्रियों के निष्कर्ष अपने समय के साहित्य और परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में थे।

लेखक लिखते हैं

रामचंद्रशुक्ल से सर्वत्र सहमत होना संभव नहीं। फिर भी शुक्ल जी प्रभावित करते हैं। नया लेखक उनसे डरता है, पुराना घबराता है, पंडित सिर

हिलाता है। वे पुराने की गुलामी पसंद नहीं करते और नवीन की गुलामी तो उनको एकदम असह्य है। शुक्ल जी इसी बात में बड़े हैं और इसी जगह उनकी कमजोरी है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी के पहले प्रोफेसर-आलोचक हैं। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि आलोचना और संस्थान के बीच गहरा रिश्ता हुआ करता है। नामवर सिंह ने वाद-विवाद संवाद के एक निबंध में एफ.आर. लीविस के हवाले से इस संदर्भ में विस्तार से लिखा है। दूसरी बात यह कि शुक्ल जी केवल हिंदी साहित्य के आलोचक नहीं हैं। वे भारतीय आलोचना की उस महान परंपरा एवं संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं, जो भरतमुनि से शुरू होती है। तीसरी महत्त्वपूर्ण बात यह कि हमारे जमाने में केवल सिद्धांत बघारकर खुद को महान् घोषित करने-करवाने वाले कुछ आलोचकों की तरह वे शुद्ध सैद्धांतिक आलोचक मात्र नहीं हैं। ऐसे भी शुद्ध सैद्धांतिक आलोचक प्रायः पूरी तरह विश्वसनीय नहीं होता है। जब तक सैद्धांतिक आलोचना के सुनिर्णीत प्रतिमानों के आधार पर श्रेष्ठ रचनात्मक प्रतिभाओं की सही-सही व्याख्या नहीं होती, तब तक वह आलोचना केवल सहित्य का ज्ञान कांड बनकर रह जाने के लिए अभिशप्त होती है। रामचंद्रशुक्ल ने अपने आलोचना सिद्धांत का निरूपण अतीत की महान साहित्यिक-सांस्कृतिक विरासत के साथ ही अपने समय के श्रेष्ठ साहित्य को जानने-समझने के क्रम में किया है। उनकी आलोचना सच्चे अर्थों में सभ्यता समीक्षा सिद्ध होती है। इसलिए उनके आलोचना सिद्धांत को किसी एक आयाम में बाँधा नहीं जा सकता है। उनकी सबसे बड़ी खूबी वह अद्वितीय रसार्द्रता एवं रसग्राहिता शक्ति है, जिसके बल पर वे हिंदी साहित्य इतिहास और आलोचना के क्षेत्र में उस जमाने में प्रचलित कवि-कीर्तन की परंपरा का निषेध करते हुए सैद्धांतिक वाग्जाल से हटकर हर तरह की रचनाओं के मर्म का उद्घाटन करने में समर्थ सिद्ध होते हैं।

सिद्धों और नाथों के साहित्य पर विचार करते हुए शुक्ल जी सांप्रदायिक शिक्षा बनाम शुद्ध साहित्य का सवाल उठाते हैं। रामचरितमानस की आलोचना के क्रम में वे मार्मिक स्थलों की पहचान पर बल देते हैं। रामचंद्रिका की सीमाओं का निर्देश करते हुए वे साहित्य में स्थानीय रंगत का मुद्दा उठाते हैं। बिहारीलाल के प्रसंग में वे भाषा की समास शक्ति एवं समाहार शक्ति की बात करते हैं। मतिराम के कवित्व की चर्चा के दौरान वे रससिद्धांत और प्रसादपूर्ण भाषा रीति

तथा भारतीय गार्हस्थ्य जीवन से छाँटकर लिए हुए मर्मस्पर्शी चित्रों में भरे भाव की महत्ता प्रतिपादित करते हैं। घनानंद पर विचार करते हुए वे लिखते हैं कि 'प्रेममार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबांदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ। पंत के संदर्भ में वे सच्चे स्वच्छंदतावाद के आयाम को प्रस्तुत करते हैं। निराला पर बात करते हुए वे कवि की बहुवस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा तथा संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने के उनके प्रयास को रेखांकित करते हैं।

कहना न होगा कि जो आलोचक इतने सारे कोणों से साहित्य पर दृष्टिपात कर रहा हो, उसे केवल रसवादी या लोकवादी आचार्य कहकर छुट्टी पा लेना कतई जायज नहीं है। शुक्ल जी हमारी भाषा और साहित्य के एक महान व्यक्तित्त्व हैं, जिन्होंने कदाचित पहली बार हजार वर्षों से विकस शील हिंदी साहित्य की परंपरा को कायदे से साहित्येतिहास का स्थापत्य प्रदान किया। शुक्ल जी के निधन के ठीक पहले उनके अपराजेय व्यक्तित्त्व पर टिप्पणी करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी साहित्य की भूमिका में लिखा था कि भारतीय काव्यालोचनशास्त्र का इतना गंभीर और स्वतंत्र विचारक हिंदी में तो दूसरा हुआ ही नहीं, अन्यान्य भारतीय भाषाओं में भी हुआ है या नहीं, ठीक से नहीं कह सकते। शायद नहीं हुआ।

याद रहे कि कि रामचंद्र शुक्ल की महानता का एकमात्र कारण यही नहीं है, हालाँकि यह उनकी महानता का एक बहुत बड़ा कारण है। वस्तुतः उनकी वास्तविक महानता को हम भरत, आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त एवं मम्मट की परंपरा में रखकर ही देख सकते हैं। कारण यह कि शुक्ल जी को भारतीय साहित्यशास्त्रीय चिंतन की उस परंपरा के पुनराख्यान का श्रेय प्राप्त है, जिसका आरंभ भरतमुनि से और अंत मध्यकाल में मम्मट के साथ हो गया था। मम्मट की पीठ पर रीतिकाल की परंपरा के जो आचार्य आए, उनकी शुक्ल जी के महान व्यक्तित्त्व से कोई तुलना नहीं हो सकती। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि मम्मट के बाद दो-ढाई सौ वर्षों की आचार्यत्व की लंबी परंपरा के दौरान हमारी आलोचना के अंर्तगत किसी विशिष्ट प्रतिमान या उल्लेखनीय मूल्य का निर्धारण नहीं हो सका। सच तो यह है कि किसी भी भाषा या साहित्य में रामचंद्रशुक्ल जैसा व्यक्तित्त्व अपने समय की सभ्यता एवं संस्कृति के भीतर गहरे आलोड़न तथा उसकी आंतरिक माँग के दबाब के तहत पैदा होता है।

रामचंद्र शुक्ल जहाँ एक हद तक भौतिकवादी थे और साहित्य को समाज का वस्तुगत उत्पाद मानते थे, वहीं दूसरी ओर वे संस्कार की दृष्टि से सच्चे अर्थों में वैष्णव थे। आम तौर पर भौतिकवाद और वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के साथ वैष्णव संस्कार की परंपरा परस्पर विरोधी प्रतीत होती है। पर शुक्लजी के व्यक्तित्त्व में हमें विरुद्धों का सामंजस्य दिखाई देता है। दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर वे वस्तुवादी और बुद्धिवादी के बजाय चैतभवादी प्रतीत होते हैं और इस प्रकार वे हेगेल की अपेक्षा इमानुएल कांट के ज्यादा निकट दिखाई देते हैं। दूसरे शब्दों में वे संसार को भ्रम और मिथ्या बताने वाले शंकराचार्य की तुलना में जगत को परमसत्ता की अभिव्यक्ति मानने वाले रामानुज के करीब सिद्ध होते हैं। संभवत: इसी कारण उन्होंने धर्म को सर्वत्र व्यक्तिगत साधना के बजाए लोकमंगल के अस्त्र के रूप में रेखांकित किया है। जगह-जगह सामजिक स्थिति और रचनाकर्म के बीच कारण-कार्य संबंध स्थापित करने की कोशिश के चलते नलिन विलोचन शर्मा ने उन्हें साहित्य का विधेयवादी (पोजिटिविस्ट) इतिहासकार बतलाया है। इस संदर्भ में मैनेजर पांडेय ने लिखा है कि शुक्ल जी विधेयवादी हैं, पर आश्चर्यजनक नव्यता के साथ।

स्मरणीय है कि सच्चा वैष्णव बुनियादी तौर पर विद्रोही हुआ करता है। चूँकि वह चापलूस या खुशामदी कदापि नहीं हो सकता, इसलिए दरबारी वातावरण उसको रास नहीं आता। वैष्णवता की इसी सत्यनिष्ठ भावभूमि से हिंदी के इस प्रथम महान आलोचक का जन्म हुआ, जिसे जनसामान्य से विलग रहने वाले राजदरबारी खुशामदी रीतिकवियों के बजाए जनभावना एवं जनमानस के ज्यादा करीब रहने वाले नि:स्वार्थ भक्त कवि अच्छे लगे।

गौरतलब है कि हिंदी आलोचना में श्लोक शब्द का इतने व्यवस्थित रूप में सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय रामचंद्रशुक्ल को ही प्राप्त है और उनके लिए लोक का अर्थ है जगत'। उनकी यह धारणा अंग्रेजी के फोक या हिंदी में उसी अर्थ में अनुदित श्लोक से भिन्न एवं व्यापक धारणा है। अध्यात्मवादियों की तरह लोक को जड़ और स्थिर मानने के बजाए उनका लोक-जगत सत्य एवं विकस शील है। मनुष्य के सारे ज्ञान एवं अनुभूतियों को लोकाधृत मानते हुए वे लिखते हैं कि मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसकी अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है। लोकचित्तवृत्ति के काव्य परंपरा के साथ सामंजस्य के संदर्भ में कविता की

पहचान निरुपित करते हुए उन्होंने लिखा है, कि कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य की भावभूमि पर ले जाती है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता ही नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किए रहता है। उनकी स्पष्ट धारणा है कि लोक हृदय की सच्ची पहचान के बगैर कोई सही मायने में कवि या कलाकार हो ही नहीं सकता, क्योंकि कला और जीवन का लोकपाक धरातल समरूप है। यदि गंभीरतापूर्वक विचारें, तो स्पष्ट होगा कि शुक्लजी का साधारणीकरण वाला सिद्धांत भी लोकानुभूतिपरक ही है। इस प्राचीन काव्यशास्त्रीय प्रत्यय व पद्धति को वे अपनी लोकवादी दृष्टि के अनुरूप यथार्थ की भूमि पर आधृत करके अनुभवगम्य लौकिक भावभूमि प्रदान करते हैं। वे मानते हैं कि लोकमंगल की भावना से अनुप्राणित हुए बगैर केवल रसवाद की कसौटी पर श्रेष्ठ साहित्य की रचना असंभव है।

विचित्र बात है कि जिन रामचंद्रशुक्ल ने रस मीमांसा की रचना की, उन्होंने ही रसवाद के विरुद्ध खंडनात्मक रुख भी अख्तियार किया। रसवाद के खिलाफ पोलेमिक्स रचने की सबसे बड़ी वजह यह थी कि मध्यकाल तक आते-आते रस सिद्धांत का सत्व स्खलित हो चुका था तथा उसकी सैद्धांतिक गतिकी या गतिमय सिद्धांतकी जड़ता की अवस्था में पहुँच चुकी थी। इस ओर इंगित करते हुए वे लिखते हैं :- रीतिग्रंथों की बदौलत रसदृष्टि परिमित हो जाने से उसके संयोजक विषयों में से कुछ तो उद्दीपन में डाल दिए गए और कुछ भावक्षेत्र से निकाले जाकर अलंकार के खाते में हाँक दिए गए। ...हमारे यहाँ के कवियों को रीतिग्रंथों ने जैसा चारों ओर से जकड़ा, वैसा और कहीं के कवियों को नहीं। इन ग्रंथों के कारण उनकी दृष्टि संकुचित हो गई, लक्षणों की कवायद पूरी करके वे अपने कर्त्तव्य की समाप्ति मानने लगे। वे इस बात को भूल चले की किसी वर्णन का उद्देश्य श्रोता के हृदय पर प्रभाव डालना है। शुक्ल जी इस बात से बिल्कुल बेखबर नहीं थे कि प्रायः काव्यशास्त्र या आलोचना के महान कहे जाने वाले प्रतिमानों में अपनी तरह के आलोचकीय वर्चस्व के बीज छिपे होते हैं। इसी वजह से प्रतिमानों की बहुलता और उनकी विशिष्ट मुखरता-विधियों से निरंतर लोकतांत्रिक आलोचनात्मक संबंध बनाने के उनके बौद्धिक परिश्रम में भी इस वर्चस्व के प्रतिरोध की एक विधि अवश्य निहित है। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है - भाव भेद रस भेद अपारा। स्पष्ट

ही भाव और रस को किसी संख्या में बाँधना असंभव है। काव्यशास्त्र में वर्णित नौ रस तो वस्तुतः उपलक्षण मात्र हैं।

रीतिग्रंथों की समस्या यह थी कि इनके चलते साहित्य में भावक्षेत्र अत्यंत संकुचित हो गया था। सबसे पहले भोज ने, जो एक सामंत था, शृंगार प्रकाश नामक ग्रंथ लिखकर शृंगार को रसराज के रूप में प्रतिष्ठित किया। इसके परिणामस्वरूप अन्य रस काव्य क्षेत्र से लगभग प्रयलन से बाहर हो गए। इतना ही नहीं, मध्यकाल में शृंगार के नाम पर जो रचनाएँ लिखी जा रही थी, उनमें से ज्यादातर में श्रोता या पाठक के मन को किसी उज्ज्वल ऊँचाई पर पहुँचाने की सामर्थ्य के बजाए छिछली रसिकता थी। हिंदी में केशवदास की रसिकता सर्वविदित है। बुढ़ापे में सुंदर स्त्रियों द्वारा बाबा कहे जाने पर उन्हें जो पीड़ा हुई थी, उसके मद्देनजर वे कथित तौर पर एक बड़े रसिक जीव सिद्ध होते हैं–

केसव केसनि अस करी बैरिहु जस न कराहिं।
चंद्रबदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहिं॥

गौरतलब है कि ऐसे रसिक व्यक्ति के बारे में शुक्ल जी ने लिखा – केशव को कवि हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता भी न थी, जो एक कवि में होनी चाहिए। ...प्रबंधकाव्य रचना के योग्य न तो केशव में अनुभूति ही थी, न शक्ति। ...वे वर्णन वर्णन के लिए करते थे, न कि प्रसंग या अवसर की अपेक्षा से। कहने की जरुरत नहीं कि आचार्य शुक्ल ने इस पूरे पदानुक्रम को इस हद तक बदल दिया कि डॉ.. नगेंद्र की लाख कोशिशों के बावजूद केशव को खोई हुई प्रतिष्ठा वापस नहीं मिल सकी। बीसवीं शताब्दी में हिंदी साहित्य में आधुनिकतावाद के शलाका पुरुष कहे जाने वाले अज्ञेय ने केशव की कविताई शीर्षक निबंध लिखकर केशव को हिंदी कविता की परंपरा की मुख्यधारा से जोड़ने की जबरदस्त पेशकश की, परंतु एक बार शुक्ल जी द्वारा मुख्यधारा से बाहर कर दिए जाने के बाद पुनः उसमें उनकी वापसी संभव न हो पाई। इससे पता चलता है कि कैसे बड़ा आलोचक अपने आलोचनात्मक मूल्यों के तहत साहित्येतिहास में कवियों के पहले से बने बनाए पदानुक्रम को बदल देता है। अँग्रेजी साहित्य के इतिहास में एलियट के पूर्व शैली, कीट्स और बायरन को आधुनिक काल में महाकवि का दर्जा प्राप्त था। परंतु एलियट के बाद जॉन डन,विलियम ब्लेक जैसे दार्शनिक कवियों को केंद्रीय स्थान मिला। रामचंद्रशुक्ल ने केशवदास को अपदस्थ कर मलिक मुहम्मद

जायसी का उद्धार किया और हिंदी साहित्य में सूर एवं तुलसी के बराबर उन्हें स्थान दिया। स्मरणीय है कि मिश्रबंधुओं के हिंदी नवरत्न में जायसी को शामिल नहीं किया गया था। जायसी के पद्मावत में नागमती के विरह वर्णन को शुक्ल जी हिंदी साहित्य में अद्वितीय घोषित करने के साथ ही मध्यकाल में जायसी को हिंदू हृदय और मुसलमान हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वाले कवियों में एक महत्त्वपूर्ण कवि के रूप में स्थापित करते हैं। उनका मानना था कि भक्तिकाव्य संस्कृत काव्यशास्त्र के सामने चुनौती है और कहना न होगा कि इस चुनौती का अपने स्तर पर उन्होंने सामना भी किया।

वस्तुतः शुक्ल जी का रीतिवाद-विरोध उनकी सामंत-विरोधी चेतना की सांस्कृतिक प्रतिध्वनि है। इसीके चलते वे रीति कवियों के बजाए भक्त कवियों को तरजीह देते हैं और आगे चलकर भारतेंदु हरिशचंद्र को उनकी सामाजिक चेतना के मद्देनजर आधुनिक हिंदी साहित्य के जनक के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। दूसरे शब्दों में अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक क्षयिष्णु परंपरा से लोहा लेते हुए शुक्ल जी रसवादी होने के बावजूद अपनी आलोचना में प्रकारांतर से रसवाद के विरुद्ध खंडनात्मक रुख अख्तियार करते हैं।

कविता को शुक्लजी ने भाव-व्यापार माना है और इस क्रम में हृदय की मुक्तावस्था या रसदशा को महत्त्व प्रदान कर उन्होंने कदाचित इसे पुष्ट भी किया है। उनके अनुसार लोक हृदय मंत लीन होने की दशा का नाम ही रसदशा है। स्मरणीय है कि भाव पर बल देने के बावजूद वे रूप को नकारते नहीं है। उन्होंने लिखा है कि 'जगत अनेक रूपात्मक है और हमारा हृदय अनेक भावात्मक है। उनके अनुसार कवि का काम इन दोनों के बीच रागात्मक संबंध कायम करना है। इतना ही नहीं, वे भावना को ज्ञान का सहचर मानते हैं। उन्होंने भाव को प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति का गूढ़ संश्लेष बताते हुए यह भी लिखा है कि दूसरे के अंतर्गत आलंबन के प्रति अनुभूति विशेष के बोध के अतिरिक्त अनेक प्रकार की भावनाएँ और विचार भी आ जाते हैं। कवियों की अंतर्वृति का सूक्ष्म व्यवच्छेद करने के पूर्व शुक्लजी उनके जीवन-वृत से भी पाठकों को अवगत कराते हैं। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में कवि का जीवन, उसकी विचारधारा, भावबोध, शिल्प आदि की परस्पर-संबद्धता से ही काव्यार्थ निर्मित होता है। यह ठीक ही कहा गया है कि कवि एक ओर ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है, जो मन में कोई भाव उठाने

या उठे हुए भाव को जगाने में समर्थ होती है, तो दूसरी ओर वह उन वस्तुओं के अनुरूप भावों का अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है और कविता में कवि कर्म विधान के ये दोनों पहलू अन्योन्याश्रित होते हैं। परंतु ध्यान देने की बात है कि यदि अनुभूति को दूसरों तक पहुँचाना ही कवि कर्म है, तो यह कार्य वस्तुनिष्ठ तथ्यों का सहारा लिए बगैर असंभव है। एलियट के शब्दों में कहे, तो बिना वस्तुगत प्रतिः के किसी भाव या अनुभूति को दूसरों तक संप्रेषित नहीं किया जा सकता।

रामचंद्रशुक्ल का एक बहुत बड़ा अवदान है रस निष्पत्ति को रहस्य के आवरण से बाहर निकालकर उनके मनोवैज्ञानिक रूप की प्रतिष्ठा। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने रस की निष्पति के बारे में लिखा है विभावानुभाव व्याभिचारि संयोगा द्ररस-निष्पतिः। वस्तुतः यह प्रक्रिया एक मनोदैहिक (साइकोसोमैटिक) प्रक्रिया है। परंतु भरत के बाद भारतीय काव्यशास्त्रीय चिंतन पर विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों एवं निकायों का इतना ज्यादा असर हुआ कि अभिनवगुप्त ने शैवाद्वैत सिद्धांत के आधार पर रस को आनंदमय मानते हुए बल देकर कहा कि यह आनंद विषयगत न होकर आत्मगत ही होता है। कालांतर में रस को आनंदस्वरूप मानकर उसे ब्रह्म के साहचर्य से आत्मा को प्राप्त होने वाले तथाकथित आनंद का सहोदर घोषित कर दिया गया। पंडितराज विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में लिखा -

'सत्वोद्रे का दखंड स्व प्रकाशानंद चिन्मयः
वेद्यांतर स्पर्श शून्यो ब्रह्मास्वा दसहोदरः
लोकोत्तर चमात्कार प्राणः कैश्चित्प्र मातृभिः
स्वकारवद भिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने विवेचन में रस के आध्यात्मिक आनंदस्वरूप होने का खंडन करते हुए साफ लिखा कि अध्यात्म शब्द की मेरी समझ में काव्य या कला के क्षेत्र में कोई जरूरत नहीं है। ...इस आनंद शब्द ने काव्य के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर दिया है।.. उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है। रस मीमांसा में एक लंबा उदाहरण देकर वे बतलाते हैं कि क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि भाव अपने प्रप्त रूप का त्याग करके आनंदस्वरूप कदापि नहीं बनते। इसी प्रकार सत्यहरिश्चंद्र की शय्या के उदाहरण के द्वारा वे स्पष्ट करते हैं कि दुखात्मक भाव आनंद के बजाए दुख की ही अनुभूति कराते हैं। प्राचीन मान्यता के अनुसार दुख की अनुभूति रसात्मक नहीं मानी जाती थी। इसका खंडन करते

हुए शुक्ल जी लिखते हैं कि 'करुण रस प्रधान नाटक के दर्शकों के आँसुओं के संबंध में यह कहना कि आनंद में भी तो आँसू आते हैं, केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव में दुख का ही अनुभव करते हैं। हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दुख भी रसात्मक होता है। निश्चित तौर पर रसात्मक अनुभूति से व्यक्तित्त्व समृद्ध होता है, निजता का परिहार होता है और पाठक लोक हृदय में लीन हो जाता है। दूसरे शब्दों में जब आलंबनत्व धर्म का साधारणीकरण होता है, तो हम उच्च कोटि की रसदशा को प्राप्त करते हैं। इस प्रक्रिया में आश्रय के साथ हमारा तादात्म्य स्थापित होता है। ऐसे तो आलंबन कोई व्यक्ति विशेष ही होता है, पर उसमें लेखक ऐसे गुणों एवं धर्मों की प्रतिष्ठा करता है, जो सबके हो जाते हैं और सबमें समान भावों की उत्पत्ति या अनुभूति कराते हैं। इससे विलग जब श्रोता, पाठक या दर्शक काव्य या नाटक में आए किसी पात्र से शीलद्रष्टा या प्रतिद्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करता है, तो शुक्लजी की दृष्टि में यह मध्यम कोटि की रस दशा है। उनके अनुसार उपरोक्त दोनों ही स्थितियों से भिन्न जब रचनाकार चमत्कार और वैचित्र्य से पाठक को आश्चर्य और कौतूहल मात्र की अनुभूति कराने की चेष्टा करता है, तो यह निम्न कोटि की रसदशा होती है, जिसके मूल में व्यक्तिवाद होता है।

विजयदेव नारायण साही की शब्दावली उधार लेकर कहें तो आलोचना यदि साहित्य का दर्शन शास्त्र है, जिसके तहत संश्लिष्ट उत्तर का विश्लेषण करके उसकी सीमारेखा को सुस्पष्ट और तीक्ष्ण बनाया जाना जरूरी है, तो जाहिर तौर पर रामचंद्र शुक्ल एक भाववादी आलोचक एवं विचारक सिद्ध होते हैं। परंतु उनका भाववाद एक ऐसा विवेकशील भाववाद है, जो अंततः भौतिकवाद का सहयोगी सिद्ध होता है। सौंदर्यानुभूति-विषयक भाववादी धारणा के बजाए उनके दृष्टिकोण में भौतिकवाद के बीज विद्यमान हैं। उन्होंने लिखा है कि जैसे वीरकर्म से पृथक वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुंदर वस्तु से अलग सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं। आगे वे तदाकार परिणति पद का प्रयोग करते हुए सिद्ध करते हैं कि सौंदर्य न तो मात्र चेतना में होता है और न ही सिर्फ वस्तु में, दोनों के संबंध से ही सौंदर्यानुभूति होती है। वे जड़ता के बजाए गति में सुंदरता को रेखांकित करने के आग्रही हैं। भले ही वह गति सफल हो या विफल। शुक्ल जी की सौंदर्य-दृष्टि में निहित संघर्ष की चेतना तब और खुलकर सामने आती है, जब वह कहते हैं कि विफलता में भी एक निराला विषण्ण सौंदर्य होता है।

इसलिए यह कहना अयुक्तियुक्त न होगा कि शुक्लजी के लिए आलोचना साहित्यिक कृतियों के निष्क्रिय रसास्वादन के बजाए एक सक्रिय मूल्यांकन है और उनका प्रत्येक मूल्यांकन गहरे वैचारिक संघर्ष का नतीजा है। डॉ. रामविलास शर्मा ने सही लिखा है कि प्राचीन साहित्यशास्त्री स्थायी भावों को रसरूप में प्रकट करके साहित्यिक प्रक्रिया का अंत निष्क्रियता में कर देते थे। शुक्ल जी ने भाव की मौलिक व्याख्या करके निष्क्रिय रस-निष्पत्ति की जड़ काट दी है।

किसी राष्ट्र की संस्कृति के निर्माण में आलोचना की भूमिका की शिनाख्त करते हुए अज्ञेय ने कहा था। 'हमें एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण करना होगा, क्योंकि आलोचना अनुभूति को गहरा और विस्तृत करती है, और गहरी तथा विस्तृत अनुभूति के बिना संस्कृति संभव नहीं है। इस दृष्टि से विचार करने पर आचार्य रामचंद्रशुक्ल की आलोचना हिंदी में सांस्कृतिक आलोचना का प्रस्थान बिंदु सिद्ध होती है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने शुक्लजी के बारे में लिखा है: 'आचार्य का विषय प्रतिपादन जैसा गुरु गंभीर है उसके बीच उनका सूक्ष्म व्यंग्य और तीव्र तथा पैना हो गया है, घनी-बड़ी मूँछों के बीच हल्की मुस्कान की तरह।'

प्रगतिवादी आलोचना

साहित्य की व्याख्या-सराहना जब ऐतिहासिक और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर होती है, जिसमें समाज की वर्गीय स्थितियों और संघर्षों से मनुष्य के अनुभव का निर्माण होता है, तब उसे 'प्रगतिवादी आलोचना' कहा जाता है। वर्तमान काल में रूपवादी और संरचनावादी आलोचना का भी चलन हो गया है। इस कोटि की आलोचना में साहित्य का रूपपक्ष और रचना-विन्यास ही मुख्य होता है। यह आलोचना साहित्य में 'भाव वस्तु', जिसे अंग्रेजी में कंटेंट कहा जाता है, को गौण मानती है।

आलोचला का उद्देश्य

लेखक अपने कथ्य को संप्रेषित करने में सफल हो सका है या नहीं, यदि सफल हुआ है तो किस सीमा तक सफल हुआ है। इसके साथ-साथ यह भी महत्त्वपूर्ण है कि रचनाकार अपनी रचना के माध्यम से जो कुछ भी अभिव्यक्त करना चाहता है, या कर पाया है, उसकी प्रासंगिकता क्या है? वह अभिव्यक्त करने योग्य भी है या नहीं? आलोचना के उसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर डॉ.

श्यामसुन्दर दास ने लिखा था- 'यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें, तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।' डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में, 'हम यह देखने का प्रयास करते हैं कि जो मूल्य रचनाकार ने रचना में मूर्तिमान किये है उनका मानव जगत् के साथ क्या संबंध है, अथवा लोक.चेतना के संदर्भ में किसी भी भाँति की चेतना का क्या मूल्य है।'

बहुधा आलोचना को रचनाकार व्यक्तिगत आलोचना मान कर दु:खी, निराश या नाराज हो जाता है। कुछ आलोचक भी अपनी आलोचना के माध्यम से किसी रचनाकार को उठाने और किसी को गिराने के लिए प्रयत्न करते हैं। किंतु इस संदर्भ में यह बात महत्त्वपूर्ण है कि स्वस्थ आलोचना व्यक्तिगत राग-द्वेष से रहित होती है। स्वस्थ आलोचना सदा रचना से संबंध रखती है। रचनाकार और आलोचक के व्यक्तिगत संबंधों से वह प्रभावित नहीं होनी चाहिए। 'आलोचना स्वस्थ मन से साहित्य या कला का अध्ययन करना और उसके सौंदर्य को परखना सिखाती है। यही उसका परम कर्त्तव्य है।'

बाद में नायक-नायिका भेद भी इस शास्त्र से जुड़ गये। पश्चिम में भी अनेक विचारकों ने इन प्रश्नों पर विचार किया। अरस्तू, प्लेटो, क्रोचे, मैथ्यू आर्नल्ड, आई.ए. रिचर्डस आदि अनेक नाम इस संदर्भ में गिनाये जा सकते हैं। इन सभी काव्यशास्त्रियों के निष्कर्ष अपने समय के साहित्य और परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में थे।

आलोचना मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है- सैद्धांतिक आलोचना और व्यावहारिक आलोचना। सैद्धांतिक आलोचना एक प्रकार से काव्यशास्त्र का ही दूसरा नाम है, लेकिन यह आलोचना का केवल एक पक्ष है। केवल सिद्धांत। विवेचन आलोचना नहीं है, और न ही बने-बनाये सिद्धांतों के आधार पर सदा साहित्य-समीक्षा की जा सकती है। समय और परिस्थितियों के अनुसार ये सिद्धांत और उनके बंधन बदलते और टूटते रहते हैं। भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में बहुत से दृश्यों और प्रसंगों का निषेध किया था, परंतु आज के नाटकों में वे निषिद्ध प्रसंग मौजूद हैं। किसी समय धीरोदात्तता नायक का अनिवार्य गुण था, किंतु आज यह अप्रासंगिक है। नयी कविता, नयी कहानी, अकविता-अकहानी के नायक खंडित, टूटे-पराजित और क्षुब्ध हैं। आधुनिक साहित्य में आम आदमी और उसकी समस्याओं पर रचनाकार की दृष्टि केंद्रित है, राजाओं, राजकुमारों के प्रेम-प्रसंगों और युद्धों पर नहीं। छंद और अलंकार शास्त्र में

पारंगत होना किसी समय कवियों की प्रतिभा की कसौटी था, परंतु आज की कविता, छंदों-अलंकारों के कठोर अनुशासन से मुक्त है। भारतीय परंपरा में प्रायः सभी रचनाओं का अंत, सुखमय होता था, किंतु पश्चिम के प्रभाव से दुःखान्त रचनाओं को भी महत्त्व मिलने लगा। मध्यकाल तक के साहित्य की परीक्षा किसी सीमा तक काव्यशास्त्रीय मानकों के आधार पर की जा सकती है, लेकिन आधुनिक काल के साहित्य के लिए उन्हीं मानकों को पूर्णतः आधार नहीं बनाया जा सकता। दूसरे जो सिद्धांत या मानक कविता के लिए बनाये गये हैं, वे साहित्य की अन्य विधाओं- कथा साहित्य, यात्र-वृत्रांत, संस्मरण, रिपोर्ताज आदि-के लिए भी उपयुक्त हो यह आवश्यक नहीं है। व्यावहारिक आलोचना में कभी सिद्धांतों का सहारा लिया जाता है, कभी रचनाकार के जीवन ओर उसकी परिस्थितियों का, कभी इतिहास और समाजशास्त्र का और कभी उस रचना के समग्र प्रभाव का।

❐❐❐